सावित्री अथवा गायत्री महामन्त्र

पं उमादत्त त्रिवेदी
एवं
विधुशेखर त्रिवेदी

सावित्री अथवा गायत्री महामन्त्र

वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु
श्रीमती चम्पा देवी वैदिक संस्थान एवं
पं. उमादत्त त्रिवेदी वेद विद्यापीठ, 6B वृन्दावन, लखनऊ
द्वारा प्रकाशित

मुद्रक- विनायक ऑफसेट

2012 प्रथम संस्करण 1000 प्रतियाँ

पं उमादत्त त्रिवेदी
वैद्य, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य
एवं
विधुशेखर त्रिवेदी
I.A.S (अ. प्रा)

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य- 125.00

ओ३म्

पूज्य पिता

स्व. पं. उमादत्त जी त्रिवेदी

एवं

स्नेहमयी पूज्या माँ

स्व. श्रीमती चम्पादेवी त्रिवेदी

की

पावन स्मृति

में

सादर समर्पित

विधुशेखर त्रिवेदी

निवेदन

शतंहस्त समाहंर सहंस्त्रहस्त सं किंर ।
कृ तस्यं कार्यस्यि चेह स्फातिं समावंह ।।

अथर्व.३।२४।५

सौ हाथों वाले बनकर सम्यक् रीति से धन का संग्रह करो तथा हज़ार हाथों वाले बनकर उसे सम्यक् रूप से फैला दो, दान करो। यहाँ, इस जीवन में अपने किये हुये कर्मों एवं अपने कर्तव्यों के क्षेत्र का अच्छी प्रकार से विस्तार करो।

वैदिक जीवन दर्शन में दान का अत्यन्त महत्व है तथा सभी प्रकार के दानों में वैदिक ज्ञान का दान सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्।। मनु.४।२३३

जल, अन्न, गौ, भूमि, तिल, सोना, घी आदि समस्त वस्तुओं के दानों से ब्रह्मदान अर्थात् वैदिक ज्ञान का दान श्रेष्ठ है।

इस पुस्तक के यशस्वी लेखक श्री विधुशेखर त्रिवेदी, जो कि एक अवकाश प्राप्त I.A.S. अधिकारी हैं, ने वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार हेतु अपना सर्वस्व दान करके पं. उमादत्त त्रिवेदी वेद विद्यापीठ की स्थापना की है किन्तु धन के अभाव में अभी विद्यापीठ के भवन का निर्माण कार्य अधूरा है। विद्यार्थियों के लिये भी धन की आवश्यकता है।

अस्तु सभी सज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि इस विद्यापीठ के लिये यथा शक्ति दान देने की अनुकम्पा करें जिससे यह पवित्र ज्ञान यज्ञ भली प्रकार सम्पन्न हो सके।

श्री मती प्रेमा त्रिवेदी
उपाध्यक्ष
पं. उमादत्त त्रिवेदी वेद विद्यापीठ
6B,वृन्दावन, रायबरेली रोड, लखनऊ

मकर संक्रान्ति
दिनाङ्क १५.१.२०१२

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पु नन्तु मा पितामहाः
पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा ।

स्व. पं. उमादत्त जी त्रिवेदी एवं
स्व. श्रीमती चम्पादेवी त्रिवेदी

श्री विधु शेखर त्रिवेदी

एवं

श्री मती प्रेमा त्रिवेदी

विषय सूची

क्र. सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
१	प्रार्थना एवं स्तुति मन्त्र	१
२	भूमिका	२३
३	गायत्री महात्म्य	६७
४	गायत्री मन्त्रार्थ	९९
५	महाव्याहृतियाँ	११७
६	गायत्री मन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ	१३१
७	ओ३म्	१८६
८	जप	२०७
९	उपासना	२६८
१०	प्राणायाम	३१५
११	ब्रह्मचर्य	३३४
१२	गायत्री ब्राह्मण	३५६
१३	गायत्री उपनिषद्	३७७
१४	सावित्री दीक्षा	३९७
१५	गायत्री मञ्जरी	४१२
१६	गायत्री रामायण	४१९
१७	मन्त्र सूची	४२७
१८	श्लोक सूची	४२९

प्रार्थना एवं स्तुति मन्त्र

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

अथर्व वेद १०।८।१

(यः भूतं च भव्यं च) जो भूत भविष्य तथा वर्तमान (यः सर्वं अधितिष्ठति) सबका अधिष्ठाता है, सबका स्वामी है, (यस्य च केवलं स्वः) और जिसका केवल प्रकाशमय तथा आनन्दमय स्वरुप ही है अर्थात् जो केवल प्रकाश स्वरूप तथा सुखस्वरुप है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

अथर्व. १०।७।३२

(यस्य भूमिः प्रमा) पृथिवी जिसकी पदस्थानीय है, (अन्तरिक्षं उत उदरम्) तथा अन्तरिक्ष जिसके उदर के समान है, (यः दिवं मूर्धानं चक्रे) जिसने द्युलोक को अपने मूर्धा अर्थात् शिर के रूप में बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है ।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

अथर्व.१०।७।३३

(सूर्यः पुनर्णवः चन्द्रमाः च) सूर्य तथा पुनः पुनः नवीन होने वाला चन्द्रमा (यस्य चक्षुः) जिसके नेत्र हैं (यः अग्निं आस्यं चक्रे) तथा जिसने अग्नि को अपने मुख के रूप में बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है ।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

अथर्व. १०।७।३४

(यस्य वातः प्राणापानौ) वायु जिसका प्राण और अपान है (अङ्गिरसः चक्षुः अभवन्) सूर्य अथवा प्रकाश देने वाली किरणें जिसके चक्षु के समान हैं, (यः दिशः प्रज्ञानीः चक्रे) तथा जिसने दिशाओं को अपने कानों के रूप में बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है ।

(ओ३म्) भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

ऋग्. ३।६२।१०, यजु. ३६।३, ३।३५, २२।९ तथा ३०।२

साम. उत्तरा. १३।४।१ क्र. सं. १४६२

(ओ३म्) हे अन्तर्यामी ! हमारे हृदय, मन, प्राण तथा आत्मा में वसने वाले, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान परमपिता परमात्मा ! (भूः=सत्) हे सर्वाधार ! (भुवः=चित्) हे ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ ! हमारे समस्त दुःखों को दूर करने वाले (स्वः=आनन्द) हे सुख स्वरूप ! परम आनन्द को देने वाले, (भूर्भुवः स्वः) हे सच्चिदानन्द ! (तत् सवितुः देवस्य) सकल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले, उसका पालन पोषण करने वाले तथा उसे प्रेरणा देने वाले उस सविता देव के, परब्रह्म के (वरेण्यं भर्गः) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ, कल्याणकारी पापनाशक तेज का हम (धीमहि) ध्यान करते हैं, उपासना करते हैं तथा उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को अपने अन्दर धारण करते हैं । (धियो यो नः) जो परब्रह्म हमारी बुद्धि, वाणी तथा कर्मों को (प्रचोदयात्) कल्याणकारी मार्ग पर प्रेरित करे । अथवा, हे प्रभो ! हमारी बुद्धि, वाणी तथा कर्मों को कल्याणकारी मार्ग पर प्रेरित कीजिये ।

त्र्यंम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुंष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिंव बन्धंनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतांत् ।।

यजु. ३।६० (पाठभेद) ऋग्. ७।५९।१२

(सुगन्धि पुष्टि वर्धनम्) जीवन की सुगन्धि अर्थात् मनुष्य द्वारा किये गये पुण्य कर्मों की सुगन्धि, उसकी यश सुरभि एवं आत्मा तथा शरीर की पुष्टि एवं धन धान्य आदि का संवर्धन करने वाले (त्र्यम्बकं) रुद्र अर्थात् दुष्टों को रुलाने वाले एवं सज्जनों का कल्याण करने वाले भगवान् शिव की हम (यजामहे) उपासना करते हैं तथा यह प्रार्थना करते हैं कि वह हमें (मृत्यो: बन्धनात् मुक्षीय) मृत्यु के बन्धन से उसी प्रकार मुक्त कर दें (उर्वारुकं इव) जिस प्रकार पका हुआ खरबूजा अपनी लता से मुक्त हो जाता है (मा अमृतात्) किन्तु हमें अमृत से, मोक्ष से मुक्त न करें अर्थात् हमें अमृतत्व प्रदान करें, मोक्ष प्रदान करें ।

भगवान् को त्र्यम्बक अर्थात् तीन नेत्रों वाला इसलिये कहा जाता है कि वह भूत, भविष्य वर्तमान तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक तीनों को भली प्रकार देखते हैं और इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि की रचना कर उसके प्रादुर्भाव, स्थिति एवं प्रलय तीनों को पूर्ण रूपेण नियन्त्रित करते हैं । अथवा, (त्र्यम्बक: त्रिनयन: त्रीणि चन्द्र सूर्याग्निरूपाणि नयनानि यस्य) चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि रूपी तीन तेज हैं, नेत्रों के समान जिसके ऐसे भगवान त्र्यम्बक हैं । यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति (तै.आ.१०। ९) जिस प्रकार फूलों से भरे हुये वृक्ष की सुगन्धि दूर से ही आती है उसी प्रकार पुण्य कर्मों की सुगन्धि भी दूर से ही आती है ।

नमं: शम्भवायं च मयोभवायं च नमं: शङ्करायं च
मयस्करायं च नमं: शिवायं च शिवतंराय च ।।

यजु०,१६।४१

(नमःशम्भवाय च मयोभवाय च) सांसारिक सुख उत्पन्न करने वाले सुखस्वरूप तथा मोक्ष सुख के प्रदाता परमानन्द स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है ; (नमः शङ्कराय च मयस्कराय च) हर्ष, उल्लास एवं लौकिक सुख के प्रदाता तथा मोक्ष के परम आनन्द के प्रदाता परब्रह्म को नमस्कार है ; (नमः शिवाय च शिवतराय च) मङ्गलमय, कल्याणकारी तथा परम कल्याणकारी देवाधि देव महादेव को नमस्कार है ।

शं सुखं भावयति इति शंभवः ।अथवा,
शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभवः ।।

भगवान् सुख देते हैं अथवा भगवान् से सुख प्राप्त होता है इसलिये भगवान् शंभव हैं ।

शं सुखं करोति इति शङ्करः ।
मयो मोक्ष सुखं करोति इति मयस्करः ।।

भगवान् सुखी करते हैं इसलिये शंकर हैं । भगवान् मोक्ष सुख देते हैं इसलिये मयस्कर हैं ।

शिवः कल्याण रूपो शान्तो निर्विकारः ।

शिव कल्याण रूप हैं,कल्याण करने वाले हैं, शान्त हैं,निर्विकार हैं।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्यं देवमृत्विजंम् ।
होतारं रत्नधातंमम् ।।

साम. पूर्वार्चिक, क्र. सं. ६०५ , ऋग्.१।१।१

(पुरोहितम्) यज्ञ आदि प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य में जिन्हें आगे रखा जाता है अथवा सृष्टि से पूर्व अव्यक्त कारण प्रकृति को धारण करने वाले (यज्ञस्य देवम्) यज्ञ के द्वारा जिनका अर्चन एवं पूजन किया जाता है, ऐसे यज्ञ को उत्पन्न एवं प्रकाशित करने वाले, स्वयं प्रकाशमान् तथा समस्त ब्रह्माण्ड को आलोकित करने वाले (ऋत्विजम्) ऋतु ऋतु में अर्थात् सदैव पूजनीय तथा उपासना किये जाने योग्य अथवा, उत्पत्ति के समय स्थूल

सृष्टि को रचने वाले (होतारम्) समस्त पदार्थों एवं सुखों को देने वाले तथा समस्त प्रार्थनाओं को सुनने वाले (रत्न धातमम्) समस्त प्रकार के रत्नों तथा सूर्य, चन्द्र आदि रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले (अग्निम् ईळे) प्रकाश स्वरुप परब्रह्म की हम स्तुति प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ।।

साम.पूर्वा. १।१, उत्तरा. २।१, क्र. सं. १ तथा ६६०, ऋग्. ६।१६।१०

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरुप परब्रह्म ! (गृणानः) हमारे द्वारा स्तुत किये हुये, (होता) हमें सब कुछ देने वाले दाता, आप (वीतये) हमें प्रकाश, ज्ञान एवं समृद्धि देने के लिये तथा (हव्य दातये) अन्न आदि समस्त सुखकारी पदार्थ उपलब्ध कराने के लिये (आयाहि) आइये और (बर्हिषि नि सत्सि) हमारे द्वारा बिछाये गये कुश के आसन पर तथा हमारे हृदयाकाश में विराजिये।

सहस्रंशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रंपात् ।
स भूमिंꣳसर्वतं स्पृत्वाऽत्यंतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।

अथर्व. १९।६।१ (पाठभेद) यजु.३१।१
ऋग्.१०।९०।१, साम.पूर्वा. ६।४।३ क्र.सं.६१७, (पाठभेद)

वह परम पुरुष हज़ारों शिर,हज़ारों नेत्रों तथा हज़ारों पैरों वाला है। वह इस भूमि को, ब्रह्माण्ड को (सर्वतः स्पृत्वा) सब ओर से घेरकर, आच्छादित करके दश अङ्गुल के आकार वाले अथवा नाभि से दश अङ्गुल ऊपर स्थित हृदय में, अथवा दशाङ्गुलम् अर्थात् ब्रह्माण्ड के अन्दर तथा उसके बाहर भी स्थित है। ब्रह्माण्ड को दशाङ्गुलम् इसलिये कहते हैं कि यह पञ्च महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी तथा इनकी तन्मात्रायें, क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से बनता है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तंमा-
दित्यवर्णं तमंसः परस्तात् ।
तमेव विंदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्थां विद्यतेऽयंनाय ।।

यजुर्वेद. ३१।१८

(अहम् एतम् आदित्यवर्ण तमसः परस्तात् महान्तं पुरुषं वेद) मैं उस आदित्य वर्ण वाले अर्थात् अज्ञान एवं अन्धकार से परे प्रकाश स्वरूप, महान पुरुष को जानता हूँ। (तम् एव विदित्वा मृत्युं अति एति) उसी को जानकर ज्ञानी भक्त मृत्यु को पार करता है, (अयनाय अन्यः पन्था न विद्यते) मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

विश्वतंश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतंस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमंति सं पतंत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयंन्देव एकंः ।।

यजुर्वेद. १७।१९, ऋग्. १०।८१।३

(विश्वतः चक्षुः उत विश्वतः मुखः) सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुख वाला, (विश्वतः बाहुः उत विश्वतः पात्) सब ओर बाहों तथा सब ओर पैर वाला अर्थात् सब का दृष्टा, श्रोता, ज्ञाता एवं सर्व शक्तिमान् सर्वगतः, सर्वव्यापक, (देव एकः) वह एक मात्र देव (द्यावा भूमी) द्युलोक तथा पृथिवी आदि लोकों को (पतत्रैः जनयन्) गतिशील परमाणुओं आदि से, उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्याम् सं धमति) अपने अनन्त बाहुबल से, अपने पराक्रम से संसार को सम्यक् रुप से प्राप्त होता है अर्थात् संसार में व्याप्त होकर तथा उसे आधार देकर स्थित रहता है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान्न बिभाय
मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।

अथर्ववेद. १०।८।४४

वह परब्रह्म कामना रहित, धैर्यवान, प्रज्ञावान, अमर, स्वयम्भू रस अथवा आनन्द से ओत-प्रोत तथा किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण है। उस धीर, अजर तथा सदैव तरुण रहने वाले परमात्मा को जानकर ही मृत्यु का भय दूर होता है।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ।।

यजुर्वेद. ३६।२१

(नमस्ते अस्तु विद्युते) विद्युत में व्याप्त प्रभु को नमस्कार हो, (नमस्ते स्तनयित्नवे) गरजने वाले बादलों में स्थित प्रभु को नमस्कार हो अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु को नमस्कार हो, (भगवन् ते नमः अस्तु) हे भगवन् ! आपको प्रणाम हो (यतः स्वः समीहसे) क्योंकि आप हमें सब प्रकार से सुख देते हैं।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ।।

अथर्ववेद. ११।२।१६

हे परमेश्वर ! आपको सायंकाल में नमस्कार है, प्रातःकाल में नमस्कार है, रात्रि में नमस्कार है तथा दिन में नमस्कार है । आपके सर्वोत्पादक एवं सर्व संहारक दोनों प्रकार के स्वरूपों को नमस्कार है।

नमस्ते रुद्र मन्यवं उतो त इषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः । यजुर्वेद. १६।१

(नमस्ते रुद्र मन्यव) हे रुद्र ! आपके क्रोध के लिये नमस्कार है, (उतो त इषवे नमः) तथा आपके वाणों के लिये नमस्कार है, (उत ते बाहुभ्याम् नमः) और आपकी भुजाओं के लिये मेरा प्रणाम है, नमस्कार है।

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति ।
मा ते युयोम संदृशः ।। अथर्व. ७।७१।१

(सरस्वति) हे सरस्वति ! (नः शिवा शंतमा सुमृडीका भव) हमारे लिये मंगलकारी, अत्यन्त कल्याणकारी तथा उत्तम सुख देने वाली होइये । (ते संदृशः मा युयोम) आपकी कृपा दृष्टि एवं सम्यक् दर्शन से हम कभी वञ्चित न हों ।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः ।।

साम. पूर्वा. २।१०।५ क्र. सं. १८९, यजु. २०।८४, ऋग्. १।३।१०

(पावका नः सरस्वती) सरस्वती हमें पवित्र करने वाली तथा (वाजेभिः अन्नैः) अन्न आदि पदार्थों से युक्त होने के कारण (वाजिनीवती अन्नवती) अन्नपूर्णा हैं । (धियावसुः कर्मवसुः) बुद्धि तथा ज्ञान पूर्वक किये गये श्रेष्ठ कर्मों से धन देने वाली सरस्वती अथवा, (धियावसुः) बुद्धि ही जिनका धन है, ऐसी सरस्वती (यज्ञं वष्टु यज्ञं वहतु) हमारे यज्ञ का वहन करें, (वश कान्तौ) उसे सुशोभित करें, सफल करें।

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः ।
स नः पूर्णेन यच्छतु ।। अथर्ववेद. ७।१८।१

(धाता जगतः पतिः ईशानः) सबका धारण एवं पालन पोषण

करने वाला,समस्त संसार का स्वामी एवं रक्षक तथा सभी पर शासन एवं नियन्त्रण करने वाला प्रभु (नः रयिं दधातु) हमें धन एवं ऐश्वर्य दे । (स नः पूर्णेन यच्छतु) वह हमें पूर्णरूपेण दे अर्थात् हमारा सम्पूर्ण अभ्युदय करे, हमें सब प्रकार का सुख, समृद्धि एवं वैभव दे तथा हमारा सब प्रकार से कल्याण करे । 'रयिं' के साथ 'पूर्णेन यच्छतु' शब्दों का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कितनी सुन्दर है यह प्रार्थना ।

दिवो विंष्ण उत वां पृथिव्या
महो विंष्ण उरोरन्तरिंक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिंर्वसव्यैरा-
प्रयंच्छ दक्षिंणादोत सव्यात् ।।

यजुर्वेद (पाठभेद) ५।१९, अथर्ववेद. ७।२७।८

(विष्ण) हे विष्णु ! (दिवः उत पृथिव्याः) द्युलोक तथा पृथिवी से और (महः उरोः अन्तरिक्षात्) महान विस्तृत अन्तरिक्ष से (बहुभिः वसव्यैः हस्तौ प्रणस्व) बहुत से अर्थात् अनेक प्रकार के तथा बहुत बड़ी मात्रा में धनों को अपने दोनों हाथों मे भर लीजिये (दक्षिणात् उत सव्यात्) और अपने दायें तथा बायें, दोनों हाथों से (आप्रयच्छ) हमें प्रदान कीजिये। कैसी श्रेष्ठ प्रार्थना है यह !

इन्द्र श्रेष्ठांनि द्रविंणानि धेहि
चित्तिं दक्षंस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिंष्टिं तनूनां
स्वाद्मानं वाचः सुंदिनत्वमह्नाम् ।।

ऋग्. २।२१।६

(इन्द्र) हे इन्द्र !, हे प्रभो ! (अस्मे श्रेष्ठानि द्रविणानि) हमें श्रेष्ठ धन,

(दक्षस्य चित्तिं) कर्म करने का सामर्थ्य एवं उत्साह तथा सत्कर्म का ज्ञान और (सुभगत्वं) सौभाग्य (धेहि) दीजिये (रयीणां पोषं तनूनां अरिष्टिं) धन एवं ऐश्वर्य का पोषण तथा शरीरों की निरोगिता दीजिये (वाचः स्वाद्मानं अह्नाम् सुदिनत्वं) एवं वाणी की मधुरता तथा दिनों की उत्तमता दीजिये ।

तेजोऽसि तेजो मयिं धेहि वीर्यमसि वीर्यंमयिं धेहि बलंमसि बलं मयिं धेह्योजोऽस्योजो मयिं धेहि म-न्युरंसि मन्युं मयिं धेहि सहोऽसि सहोमयिं धेहि ।।

यजु. १९।९

हे प्रभो ! (तेजः असि तेजः मयि धेहि) आप तेजस्वी हैं, मुझ में तेज को धारण कीजिये, (वीर्य असि वीर्य मयि धेहि) आप पराक्रम से युक्त हैं, मुझ में पराक्रम धारण कीजिये अथवा मुझे पराक्रम दीजिये, (बलं असि बलं मयि धेहि) आप बल से युक्त हैं, मुझे बल दीजिये, आप ओजस्वी हैं, मुझ में ओज अर्थात् कान्ति को धारण कीजिये, (मन्युः असि मन्युं मयि धेहि) आप दुष्टों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझ में उस क्रोध को धारण कीजिये, अर्थात् मुझे भी शत्रु पर क्रोध करने की क्षमता दीजिये, (सहः असि सहः मयि धेहि) आप शक्ति से युक्त हैं, शत्रु का पराभव करने वाले हैं, शत्रु का पराभव करने की वह शक्ति मुझे दीजिये । ओजः कान्तिः । सहो बलम् । मन्युः क्रोधः ।

विश्वांनि देव सवितर्दुरितानि परांसुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुंव ।। यजुर्वेद. ३०।३

(सवितः देव) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले तथा उसका पालन पोषण करने वाले, उसे चेतना एवं प्रेरणा देने वाले सविता देव, हे परब्रह्म ! (विश्वानि दुरितानि परा सुव) समस्त दुःखों तथा हमारे समस्त अवगुणों को हमसे दूर कर दीजिये । (यद् भद्रं तत् नः आसुव) और जो हमारे लिये कल्याणकारी हो, उसे हमारे पास लाइये, हमें प्राप्त कराइये ।

हमारा कल्याण किसमें है, यह भगवान् ही जानता है। इससे सुन्दर और कोई प्रार्थना क्या हो सकती है। यह समर्पण तथा भक्ति की चरम सीमाहै।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य
जातः पतिरेकं आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजुर्वेद.१३।४, २३।१ तथा २५।१०, अथर्ववेद. ४।२।७, ऋग्.१०।१२१।१

(हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्त्तत) सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थों को गर्भ के समान अपने अन्दर धारण करने वाला प्रकाशस्वरूप परब्रह्म ही सृष्टि के पूर्व में था तथा (भूतस्य एकः जातः पतिः आसीत्) समस्त प्राणियों एवं पदार्थों का एकमात्र प्रसिद्ध स्वामी एवं रक्षक था। (सः इमाम् पृथिवीं उत द्यां दाधार) उस ईश्वर ने इस पृथिवी तथा द्युलोक आदि को धारण किया है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ऐसे सुख स्वरुप परमात्मा की हम अपने अन्तःकरण से भक्ति पूर्वक उपासना करें।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वे
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

अथर्व. (पाठभेद) ४।२।१, ऋग्. १०।१२१।२, यजुर्वेद. २५।१३

जो हमें आत्मिक ज्ञान एवं आत्मिक तथा शारीरिक बल देने वाला है,समस्त विश्व जिसकी उपासना करता है, सभी देव तथा विद्वान् जिसकी आज्ञा का, जिसके अनुशासन का पालन करते हैं, जिसकी छाया, जिसका आश्रय अथवा जिसकी कृपा ही अमृत है और जिसकी अकृपा ही मृत्यु है,

ऐसे सुखस्वरूप परब्रह्म की हम अपने अन्तःकरण से भक्तिपूर्वक अनन्यभाव से अर्चना एवं उपासना करें।

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक
इन्द्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद:
कस्मैदेवाय हविषा विधेम ।।

अथर्व. ४।२।२, (पाठभेद), ऋग्. १०।१२१।३, यजुर्वेद. २३।३, २५।११

(य:) जो (प्राणत: निमिषत: जगत:) प्राणधारी तथा पलक झपकाने वाले समस्त प्राणियों का (महित्वा) अपनी महिमा से (एक: इत् राजा बभूव) एक अकेला ही स्वामी है और (य:) जो (अस्य द्विपद: चतुष्पद: ईशे) इस संसार के द्विपद तथा चतुष्पद अर्थात् समस्त प्राणियों पर शासन करता है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ऐसे सुखस्वरूप परमात्मा की हम अपने अन्तःकरण से भक्तिपूर्वक उपासना करें ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य
समुद्रꣳ रसया सहाहु: ।
यस्येमा: प्रदिशो यस्य बाहू
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

अथर्व. ४।२।५, (पाठभेद), ऋग्. १०।१२१।४, यजुर्वेद. २५।१२

(यस्य महित्वा इमे हिमवन्त:) जिसकी महिमा से ये हिम मण्डित पर्वत स्थित हैं, (यस्य रसया सह समुद्रं आहु:) नदियों के साथ समुद्र जिसकी महिमा का गान करते हैं, (इमा: प्रदिशा: यस्य बाहू) ये दिशायें तथा उप दिशायें जिसकी बाहों की भाँति फैली हुई हैं (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ऐसे सुखस्वरूप परमात्मा की हम अपने अन्तःकरण से श्रद्धा एवं

भक्तिपूर्वक उपासना करें।

मा मां हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋग्. १०।१२१।९, (पाठभेद), यजुर्वेद. १२।१०२

(मा मा हिंसीत् जनिता यः पृथिव्या) जो पृथिवी को उत्पन्न करने वाला है, वह प्रजापति मुझे किसी प्रकार से दण्डित न करे, मुझे किसी प्रकार की वेदना, कष्ट अथवा दुःख न दे (यः वा सत्यधर्मा दिवं व्यानट्) तथा सत्य का धारण करने वाला जो परमात्मा द्युलोक का सृजन करके उसमें व्याप्त रहता है, (च यः प्रथमः आपश्चन्द्राः जजान) तथा जिस सर्वश्रेष्ठ एवं सर्व प्रथम प्रकट होने वाले परमात्मा ने मनुष्यों को अथवा सुख देने वाले जल को उत्पन्न किया है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरुप परब्रह्म की हम श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक अपने अन्तःकरण से उपासना करें।

(मनुष्या वा आपश्चन्द्राः) शतपथ ब्राह्मण ७। ३। १। २० मनुष्य आपश्चन्द्र हैं क्योंकि (मनुष्या एव हि यज्ञेनाप्नुवन्ति चन्द्रलोकं पितृमार्गानुसारिणः) मनुष्य ही पितृमार्ग का अनुसरण करते हुये यज्ञ के द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। अथवा, (यः च आपः चन्द्राः प्रथमः जजान) यश्च चन्द्राः आह्लादिका जगत्कारणभूता आपो जलानि प्रथमः आदिभूतः सन् जजानोत्पादितवान् तद्द्वारा मनुष्यानुत्पादितवानित्यर्थः। सर्व प्रथम प्रकट होने वाले जिस परमात्मा ने सुख देने वाले उस जल को उत्पन्न किया, जिससे जगत की उत्पत्ति होती है और फिर जल से मनुष्यों को उत्पन्न किया।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा

येन स्वस्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋग्. १०।१२१।५, यजुर्वेद. ३२।६

(येन द्यौः उग्रा पृथिवी च दृढा) जिसने द्युलोक तथा तीक्ष्ण स्वभाव वाले सूर्य आदि देवों एवं दृढ पृथिवी को धारण कर रखा है, (येन स्वः स्तभितं येन नाकः) जिसने सुख तथा विशेष सुखपूर्ण स्थान अर्थात् स्वर्ग तथा मोक्ष को धारण कर रखा है, (यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः) जो अन्तरिक्ष में विशेष मानयुक्त, समस्त लोक लोकान्तरों को धारण करता है तथा उन्हें गति देता है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ऐसे सुखस्वरूप परब्रह्म की हम अपने अन्तःकरण से श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक उपासना एवं स्तुति करें ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा
जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं
स्याम पतयो रयीणाम् ।।

यजु. २३।६५,(पाठभेद)अथर्व. ७।८० (८५)।३,(पाठभेद) ऋग्.१०।१२१।१०

(प्रजापते) समस्त प्राणियों की रक्षा करने वाले तथा उनके स्वामी हे परमात्मा ! (ता एतानि विश्वा जातानि) उन इन समस्त उत्पन्न हुये प्राणियों एवं पदार्थों का (त्वत् अन्यः न परि बभूव) आपके अतिरिक्त अन्य कोई स्वामी नहीं है, आप ही सर्वोपरि हैं अर्थात् केवल आप ही इस विश्व को नियन्त्रण में रखने में समर्थ हैं। (यत् कामाः ते जुहुमः) जिन जिन कामनाओं के साथ हम आपकी शरण में आयें, आपकी उपासना करें (तत् नः अस्तु) हमारी वे समस्त कामनायें पूर्ण हों, हमारे मनोवाञ्छित फल एवं

उद्देश्य हमें प्राप्त हों, (वयं स्याम पतयो रयीणाम्) तथा हम लोग समस्त प्रकार के धनों एवं ऐश्वर्यों के स्वामी हों।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये
धामन्नध्यैरयन्त॥

यजु. ३२।१०

(यत्र देवाः) जिस परमेश्वर में सभी विद्वान् लोग (अमृतम् आनशानः)मोक्ष अथवा अमृतत्व का उपभोग करते हुये (तृतीये धामन् अधि ऐरयन्त) तृतीय धाम अर्थात् परमात्मा के सर्वश्रेष्ठ परम धाम में स्वच्छन्द विचरण करते हैं, (सः नः बन्धुः) वही हमारा बन्धु है, (जनिता) वही हमें जन्म देने वाला हमारा पिता है, (सः विधाता) वही हमें धारण करने वाला, हमारा पालन पोषण करने वाला तथा हमारे कर्मों के फलों का विधान करने वाला है और (धामानि वेद भुवनानि विश्वा) वही समस्त लोक लोकान्तरों तथा स्थानों आदि को जानने वाला है।

देव का अर्थ देवता के साथ साथ विद्वान् भी होता है।
विद्वांसो ह देवाः (शतपथ ब्राह्मण)

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि
देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम॥

यजुर्वेद. ४०।१६, ५।३६ तथा ७।४३, ऋग्. १।१८९।१

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परब्रह्म! (अस्मान् राये सुपथा नय) हमें धन, ऐश्वर्य

तथा सर्वतोमुखी अभ्युदय के लिये अच्छे मार्ग से ले चलिये। हे देव ! आप हमारे (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त कर्मों, विचारों तथा मन के भावों को जानने वाले हैं (अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि) हम से कुटिलता पूर्ण पापों को अलग कर दीजिये (ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) हम आपको बारम्बार प्रणाम करते हुये आपकी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक स्तुति तथा उपासना करते हैं।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत॑ꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ यजुर्वेद. ३६।२४

(देवहितं) परब्रह्म द्वारा स्थापित, देवों का हित करने वाला (तत्) वह (शुक्रं) पवित्र, पाप रहित, प्रकाशमान (चक्षुः) आदित्य रूपी जगत का चक्षु (पुरस्तात् उच्चरत्) सृष्टि के आदि काल से ही ऊपर उदित हुआ है। अथवा, (तत् चक्षुः) वह परब्रह्म समस्त संसार का चक्षु है, सबका मार्ग दर्शक है, सबको ज्ञान एवं प्रकाश देने वाला है, (देवहितम्) वह विद्वानों का हित करने वाला है (शुक्रम्) शुद्ध स्वरूप है (पुरस्तात् उत् चरत) तथा अनादि काल से सबके ऊपर अपने दिव्य स्वरुप में स्थित है। (त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः – यजुर्वेद)।

परमात्मा की कृपा से हम (पश्येम शरदः शतं) सौ वर्षों तक देखें, (जीवेम शरदः शतं) सौ वर्षों तक जीवित रहें, (शृणुयाम शरदः शतं) सौ वर्षों तक सुनें, (प्र ब्रवाम शरदः शतं) सौ वर्षों तक ठीक प्रकार बोल सकें, (अदीनाः स्याम शरदः शतं) सौ वर्षों तक दीनता को प्राप्त हुये बिना, स्वाभिमान एवं सम्मान से रहें, (भूयः च शरदः शतात्) तथा सौ वर्षों से भी अधिक समय तक हृष्ट पुष्ट होकर सुखी जीवन व्यतीत करें।

स नं: पितेवं सूनवेऽग्नें सूपायनो भंव ।
सचंस्वा न: स्वस्तयें ।। ऋग्. १।१।९, यजुर्वेद. ३।२४

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परब्रह्म ! (पितेव सूनवे) जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के लिये सुगमता से प्राप्त होने योग्य होता है, उसी प्रकार (स नः) वह आप हमें (सूपायनो) (सु+उपायनः) सुखेन उपैतुं शक्यः सुख से प्राप्त होने योग्य (भव) होइये तथा (सचस्वा नः स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये हमें श्रेष्ठ कर्मों से सम्बद्ध कीजिये ।

आ नो भद्राः क्रतंवो यन्तु
विश्वतोऽदंब्धासो अपंरीतास उद्भिदंः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे
असन्नप्रांयुवो रक्षितारो दिवे दिंवे ।।

ऋग्. १।८९।१, यजुर्वेद. २५।१४

(अदब्धासः) किसी के द्वारा नष्ट न किये जा सकने वाले, विघ्नरहित (अपरीतासः) सर्व श्रेष्ठ अथवा शत्रुओं द्वारा अवरुद्ध न किये जा सकने वाले (उद्भिदः) शत्रुओं का तथा दुःखों का नाश करने वाले (भद्राः क्रतवः) कल्याणकारी यज्ञ, संकल्प, विचार तथा बल (नः विश्वतः आयन्तु) हमारे पास सब ओर से आयें (यथा अप्रायुवः) जिससे आलस्य रहित होकर (दिवे दिवे रक्षितारः देवाः) दिन प्रतिदिन रक्षा करने वाले देवगण (सदं इत् नः वृधे असन्) सदैव हमारी अभिवृद्धि करने के लिये तत्पर रहें । अथवा, हम श्रेष्ठ, कल्याणकारी तथा शक्तिशाली विचार, संकल्प, बुद्धि, बल तथा यज्ञ अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म सब ओर से प्राप्त करते रहें तथा देवगण आलस्य रहित होकर दिन प्रतिदिन हमारी रक्षा करने के लिये तत्पर रहें । तात्पर्य यह है कि हमें श्रेष्ठ विचार, संकल्प एवं कर्म सब ओर से प्राप्त करना चाहिये तथा यह ध्यान रखना चाहिये कि देवगण

हमारी रक्षा तभी करेंगे जब हम सद्विचारों को सब ओर से प्राप्त करके उनके अनुसार श्रेष्ठ कर्म करेंगे।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानांॐ रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानांॐ सख्यमुपसेदिमा वयं
देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

ऋग्. १।८९।२ यजुर्वेद. २५।१५,

(ऋजूयतां देवानाम्) सरलता से युक्त देवों की (भद्रा सुमतिः) कल्याणकारी सुमति तथा (देवानां रातिः) देवों के विभिन्न प्रकार के दान (नः अभि निवर्तताम्) हमारे सामने निरन्तर रहें, हमें सब ओर से निरन्तर प्राप्त हों। (वयं देवानां सख्यम् उप आसेदिम) हम देवों की मित्रता प्राप्त करें। (देवाः नः आयुः जीवसे प्रतिरन्तु) देवगण हमें जीवित रहने के लिये दीर्घ आयु प्रदान करें।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं
धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥

ऋग्. १।८९।५, यजुर्वेद. २५।१८

(वयम्) हम (जगतः तस्थुषः पतिम्) चराचर जगत का पालन पोषण तथा रक्षा करने वाले, (धियं जिन्वम्) बुद्धि को पवित्र करने वाले, उसे प्रसन्न एवं तृप्त करने वाले (तम् ईशानम्) सब पर शासन करने वाले उस ईश्वर का (अवसे हूमहे) अपनी रक्षा के लिये आह्वान करते हैं, (यथा पूषा) जिससे कि सब का पोषण करने वाला परमात्मा (नः वेदसाम् वृधे)

हमारे ज्ञान, धन एवं ऐश्वर्य की वृद्धि तथा (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (अदब्धः रक्षिता पायुः असत्) आलस्य रहित एवं अपराजित होकर हमारी रक्षा करने वाला तथा हमारा पालन करने वाला हो।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाःस्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिःस्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ऋग्. १।८९।६, साम. उत्त. २१।९।३ क्र. सं. १८७५, यजु. २५।१९

(वृद्धश्रवाः) महान यश तथा प्रचुर अन्न एवं धन वाले (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (नः स्वस्ति) हमारे लिये कल्याणकारी हों, (स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः) सर्वज्ञ तथा सबका पालन पोषण करने वाले परमात्मा हमारा कल्याण करें, (अरिष्टनेमिः) कभी नष्ट न होने वाले दृढ़ वज्र को धारण करने वाले तथा (तार्क्ष्यः) भक्तों के प्रयोजनों को शीघ्र पूर्ण करने वाले प्रभु (नः स्वस्ति) हमारा कल्याण करें, (स्वस्ति नः बृहस्पतिः दधातु) सूर्य चन्द्र आदि महान देवों एवं महान शक्तियों के स्वामी परब्रह्म हमारे लिये सुख एवं कल्याण को धारण करें। **श्रवः श्रवणीयं यशः** अर्थात् श्रवण करने योग्य यश। **वृद्धश्रवाः वृद्धं प्रभूतं श्रवः श्रवणीयं यशः अन्नं धनं कीर्ति वा यस्य सः**। महान अन्न धन तथा यश है जिनका, वह परमात्मा वृद्धश्रवाः हैं। (तार्क्ष्यः)—**तूर्ण अर्थं रक्षति इति तार्क्ष्यः**, निरुक्त १०।३।१७ हमारी पार्थना एवं प्रयोजन को शीघ्र पूरा करने वाले परमात्मा तार्क्ष्य हैं।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

ऋग्.१।८९।८,(पाठभेद), साम. उत्त. २१।९।२ क्र. सं. १८७४, यजु.२५।२१

(यजत्राः देवाः) हे यजनीय देवो !(भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम) हम अपने कानों से कल्याणकारी तथा प्रिय वचनों को सुनें, (भद्रं पश्येम अक्षभिः) हम अपनी आँखों से कल्याणकारी तथा मनोहारी दृश्यों को देखें तथा (स्थिरैः अङ्गैः) हृष्ट पुष्ट अङ्गों से युक्त (तनूभिः) शरीरों से हम (तुष्टुवांसः) परमात्मा की स्तुति करते हुये (देवहितं) देवों एवं विद्वानों के लिये हितकारी (यदायुः) जो हमारी आयु है, (वि अशेमहि) उसे भली प्रकार प्राप्त करें अर्थात् हम अपने जीवन पर्यन्त देवों एवं विद्वानों का हित रक्षण करते रहें।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ।।

यजुर्वेद. ३६।२

(मे) मेरे (चक्षुषः) नेत्र की तथा (हृदयस्य) हृदय एवं अन्तःकरण तथा बुद्धि की (यत्) जो (छिद्रम्) न्यूनता अथवा दोष है (वा) तथा मेरे (मनसः) मन की (अतितृण्णम्) जो व्याकुलता एवं दोष है, (मे तत्) मेरे उस दोष को, न्यूनता को (बृहस्पतिः) सूर्य आदि महान देवों का स्वामी परमात्मा (दधातु) पूर्ण करे, ठीक करे। (भुवनस्य यः पतिः) समस्त संसार का जो स्वामी एवं रक्षक है (शं नः भवतु) वह परमेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो।

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।।

अथर्व.(पाठभेद) १९।९।६, ऋग्.१।९०।९,
यजु. ३६।९

(मित्रः नः शं) सब का प्रिय मित्र, जगदीश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो (शं वरुणः) सर्व साक्षी तथा सर्वश्रेष्ठ परमात्मा हमारे लिये कल्याणकारी हो। (शं नः भवतु अर्यमा) न्यायकारी ईश्वर हमारे लिये

कल्याणकारी हो। (बृहस्पतिः) वेदवाणी एवं महान ब्रह्माण्ड का रक्षक (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (नः शम्) हमारे लिये कल्याणकारी हो (उरुक्रमः विष्णुः नः शम्) महान पराक्रम अथवा विस्तृत पद वाला सर्वव्यापक परमात्मा हमारे लिये कल्याणकारी हो। व्याप्नोतीति विष्णुः। सर्वव्यापक होने से भगवान् का नाम विष्णु है।

शं नो वातः पवताᳮ शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥

यजुर्वेद. ३६।१०

(शं नः वातः पवताम्) वायु हमारे लिये सुखकारी होकर बहे, (शं नः तपतु सूर्यः) सूर्य हमारे लिये सुखकारी होकर तपे (शं नः कनिक्रदत् देवः) कड़कड़ाता हुआ विद्युत् देव हमारे लिये सुखकारी हो (पर्जन्यः अभि वर्षतु) तथा मेघ हमारे चारों ओर सुखकारी वर्षा करें।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु। शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥

अथर्व. (पाठभेद) १९।१०।८, ऋग्. ७।३५।८

(शं नः सूर्यः उरुचक्षा उदेतु) विस्तृत तेज एवं प्रकाश वाला सूर्य हमारे लिये सुखकारी होकर उदित हो, (शं नः चतस्रः प्रदिशो भवन्तु) चारों दिशायें एवं प्रदिशायें हमारे लिये सुखकारी हों। (शं नः पर्वताः ध्रुवयः भवन्तु) अचल पर्वत हमारे लिये शान्ति एवं सुख देने वाले हों, (शं नः सिन्धवः) नदियाँ एवं समुद्र हमारे लिये सुखकारी हों, (शं उ नः सन्तु आपः) तथा जल हमारे लिये शान्ति एवं सुख देने वाले हों।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳮशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः

शान्तिर्विश्वे देवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति: सर्वꣳ शान्ति: शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तिरेधि ।।

यजु.३६।१७

(द्यौ: शान्ति:) द्युलोक हमें शान्ति प्रदान करे, अन्तरिक्ष हमें शान्ति प्रदान करे (पृथिवी शान्ति:) पृथिवी हमें शान्ति प्रदान करे, (आप: शान्ति:) जल हमें शान्ति प्रदान करे (ओषधय: शान्ति:) ओषधियाँ हमें शान्ति प्रदान करें, (वनस्पतय: शान्ति:) वनस्पतियाँ हमें शान्ति प्रदान करें, (विश्वे देवा: शान्ति:) समस्त देव एवं विद्वान् हमें शान्ति प्रदान करें, (ब्रह्म शान्ति:) ब्रह्म तथा वेद हमें शान्ति प्रदान करें, (सर्व शान्ति:) समस्त जगत हमें शान्ति प्रदान करे (शान्ति: एव शान्ति:) चारों ओर शान्ति ही शान्ति हो (सा शान्ति: मा एधि) तथा वह परम शान्ति मुझे प्राप्त हो ।

तथा तदस्तु सोमपा: सखे वज्रिन् तथा कृणु ।
यथा त उश्मसीष्टये ।। ऋग्वेद. १।३०।१२.

(सोमपा: सखे वज्रिन्) हे सोम पान करने वाले वज्रधारी मित्र! (तथा तदस्तु) वैसा ही हो, वही हो, (तथा कृणु) तथा आप वैसा ही करें, (यथा त) जैसा हम आपसे (इष्टये उश्मसि) अपने इष्ट की, अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिये इच्छा करें, प्रार्थना करें ।

त्वं हि न:पिता वसो त्वं माता शंतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।। अथर्व.२०।१०८।२,
ऋग् ८।९८।११.(पाठभेद) साम.उत्त.८।६(२)।२ क्र.सं.११७० (पाठभेद)

(शतक्रतो) सैकड़ों पराक्रम तथा यज्ञ करने वाले हे इन्द्र! (वसो) हे! जगन्निवास! (त्वं हि न: पिता) निश्चय ही आप हमारे पिता तथा (त्वं माता बभूविथ) आप ही हमारी माता हो (अधा ते सुम्नम् ईमहे) अत: हम आप से सुख की प्रार्थना करते हैं ।

भूमिका

ओ३म् तथा भूः, भुवः ,स्वः इन महाव्याहृतियों के साथ गायत्री अथवा सावित्री की उपासना वैदिक धर्म का प्रमुख अङ्ग है। वैदिक धर्म के अनुयायियों विशेषतया ब्राह्मणों के लिये इसका नित्य नियमित जप नितान्त अनिवार्य है। गायत्री महामन्त्र के महत्व से अधिकांश भारतीय परिचित हैं किन्तु दुर्भाग्य है कि आधुनिक शिक्षा के दोष के कारण हमारे नवयुवक इस परम पवित्र मन्त्र, जिसे भारतीय धर्म एवं संस्कृति की आत्मा कहा जा सकता है, से दूर होते जा रहे हैं और इसकी महिमा, इसके अर्थ तथा इसके विज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण इसकी उपासना से होने वाले लाभ से स्वयं को वञ्चित रख रहे हैं।

<u>गायत्री महिमा</u>

गायत्री की महिमा अनन्त एवं अवर्णनीय है। प्रत्येक मनुष्य के लिये यह मातृ स्वरूपा गायत्री सचमुच कामधेनु है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। श्रद्धा एवं विश्वास पूर्वक गायत्री का जप करने से इच्छित फल प्राप्त होता है, इसमें लेशमात्र भी असत्य अथवा अतिशयोक्ति नहीं है। यदि कहीं असफलता मिलती है, तो वह अपनी उपासना,भक्ति,श्रद्धा एवं विश्वास की कमी के कारण मिलती है ,ओ३म् अथवा गायत्री जप के निष्फल अथवा प्रभावहीन होने के कारण नहीं। यमों एवम् नियमों का पालन करने वाले सदाचारी भक्त पुरुष द्वारा श्रद्धापूर्वक किया गया प्रणव तथा गायत्री का जप कभी निष्फल नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है।

यह मेरा मनगढ़न्त कथन अथवा कपोल कल्पना नहीं बल्कि स्वयं वेद भगवान् का कथन है। गायत्री मन्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा मन्त्र नहीं है जिसकी प्रशंसा अथवा जिसके द्वारा प्राप्त होने वाले फलों का उल्लेख वेद में किया गया हो। वेद स्वयं परमपिता परमात्मा की वाणी है,जिसमें असत्य अथवा अतिशयोक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। हमारे महर्षि सत्य को अत्यन्त पवित्र शब्द मानते थे और कदाचित इसीलिये उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में,सत्य का विलोम अर्थात् 'असत्य' शब्द

का प्रयोग कहीं नहीं किया है। वेद में असत्य के लिये 'अनृत' शब्द का प्रयोग किया गया है।

बृहत्पाराशर स्मृति ५।४ में कहा गया है —

गायत्री तु परं तत्वं गायत्री परमा गतिः।

गायत्री ही परम तत्व है, गायत्री ही परम गति है।

मनुस्मृति २।८३ में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गायत्री से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥

ओंङ्कार परब्रह्म है, प्राणायाम परम तप है, सावित्री से श्रेष्ठ कुछ नहीं है तथा मौन रहने से सत्य भाषण श्रेष्ठ है। अनेक स्मृतियों तथा पुराणों में भी इसी प्रकार का कथन है। स्वयं भगवान् शिव, राम तथा कृष्ण भी गायत्री की ही उपासना करते थे।

गायत्री मञ्जरी के अनुसार एक बार कैलाश पर्वत पर विराजमान शिव जी से जगन्माता पार्वती जी ने प्रश्न किया कि हे योगेश्वर! योग के द्वारा आप किस की उपासना करते हैं, जिससे आप परम सिद्धि को प्राप्त हुये हैं। इसके उत्तर में विश्व का कल्याण करने वाले महादेव ने कहा—

गायत्री वेद मातास्ति साऽद्या शक्तिर्मता भुवि।
जगतां जननी चैव तामुपासेऽहमेव हि॥

गायत्री मञ्जरी।५

गायत्री वेदमाता है, पृथिवी पर वह आद्या शक्ति कहलाती है। वही संसार की जननी है, मैं उसी की उपासना करता हूँ।

सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं परमां गतिम्॥

महाभारत, अनु. पर्व १५०।७८

सोमवंशी, सूर्यवंशी, रघुवंशी तथा कुरुवंशी राजा पवित्र होकर परम गति देने वाली सावित्री का नित्य जप करते थे।

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि,
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादिसत्तमो,
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ।।

श्रीमद्भागवत, १०।१०।६

भगवान् श्रीकृष्ण ने विधिपूर्वक निर्मल एवं पवित्र जल में स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण किये और फिर सन्ध्योपासन एवं अग्निहोत्र किया। तदनन्तर उन्होंने मौन होकर गायत्री का जप किया।

ब्राह्मण की तो माँ ही गायत्री है क्योंकि उसी से ब्राह्मण का जन्म होता है। गायत्री दीक्षा से पूर्व तो वह शूद्र ही होता है।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

जन्म से तो व्यक्ति शूद्र के रूप में ही जन्म लेता है, संस्कार से द्विज कहा जाता है। गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्। (वसिष्ठ स्मृति। चतुर्थ अध्याय) गायत्री से ब्राह्मण को उत्पन्न किया।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ।।

मनुस्मृति २।१६९

वेद के अनुसार द्विज के तीन जन्म होते हैं। प्रथम माता से, द्वितीय उपनयन संस्कार से तथा तृतीय यज्ञ दीक्षा से।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ।।

मनुस्मृति २।१७०

इनमें यज्ञोपवीत संस्कार से ब्राह्मण का जो जन्म होता है, उसमें

उसकी माता सावित्री तथा पिता आचार्य होता है।

द्वे जन्मनी द्विजातीनां मातु: स्यात् प्रथमं तयो:।
द्वितीयं छन्दसां मातुर्ग्रहणाद् विधिवद् गुरो:।।

व्यास स्मृति,१।२२

द्विजातियों के दो जन्म होते हैं। उनमें से प्रथम माता से तथा दूसरा गुरु से विधिवत् वेदमाता गायत्री के ग्रहण करने से होता है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारग:।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा।।

मनुस्मृति २।१४८

वेद का ज्ञाता आचार्य उपनयन संस्कार के समय विधिपूर्वक गायत्री मन्त्र के उपदेश से जो जन्म प्रदान करता है, वह सत्य, अजर और अमर होता है।

गायत्री के अनेक नाम

यद्यपि वेद के सात प्रमुख छन्दों में २४ अक्षर के प्रथम छन्द का नाम गायत्री है, यहाँ 'गायत्री' शब्द से गायत्री छन्द नहीं बल्कि वह महिमा मण्डित परम पवित्र गायत्री मन्त्र अभीष्ट है, जिसे श्रद्धा पूर्वक गायत्री, सावित्री, गुरुमन्त्र,महामन्त्र, ब्रह्म गायत्री, वेदमाता, देवमाता तथा सरस्वती आदि अनेक नामों से वर्णित किया जाता है।

सावित्री

इस गायत्री मन्त्र का देवता सविता है, अत: इसे सावित्री कहा जाता है।

सविता सर्वस्य प्रसविता जनयितेश्वरो देवता अस्या इति सावित्री।

सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले सविता इसके देवता हैं अत: इसे सावित्री कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में इसे प्रमुख रूप से सावित्री ही कहा गया।

गायत्री

प्राणा वै गयास्तत्प्राणाऽस्तत्रे तद् यद् गयाऽस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम।

बृहदारण्यक उपनिषद्, ५।१४।४

प्राण ही गय हैं। इसने प्राणों अर्थात् गयों का त्राण किया, अतएव इसका नाम गायत्री है। गायत्री = गाय+त्री। गाय शब्द गय से बना है, गय नाम प्राणों का है। 'त्रैङ् पालने' धातु से स्त्रीलिंग में त्री बनता है। अतः गायत्री का अर्थ हुआ प्राणों की रक्षा करने वाली। इसकी अन्य व्युत्पत्ति 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री' भी है। यह अपना गान करने वालों की रक्षा करती है, अतः इसे गायत्री कहा जाता है। 'गै शब्दे' धातु से शतृ प्रत्यय करने पर गायत् शब्द बनता है। 'त्रैङ् पालने' धातु से स्त्रीलिंग में 'त्री' बनता है। अतः इससे सम्बद्ध होने पर गायत्री शब्द निष्पन्न होता है।

'गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीत्यभिधीयते।'

देवीभागवत ११।३।११

अपना गायन करने वाले की रक्षा करने के कारण इसे गायत्री कहा जाता है।

यही व्युत्पत्ति भरद्वाज स्मृति, ६।१४६,बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति ४।३५, व्यास स्मृति, स्कन्द पुराण काशी खण्ड ९।३ तथा शिव पुराण, विश्वेश्वर संहिता १५।१६,मार्कण्डेय स्मृति,आदि में भी मिलती है।

प्रतिग्रहान्नदोषाच्च पातकादुपपातकात्।
गायत्री प्रोच्यते तस्माद् गायन्तं त्रायते यतः॥

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति, ५।४२

क्योंकि यह अपना गान करने वाले का प्रतिग्रह दोष, अन्न दोष, पातक तथा उपपातक से त्राण करती है, अतएव इसे गायत्री कहा जाता है।

ब्रह्मगायत्री

ब्रह्म प्राप्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन होने के कारण तथा ब्रह्म की शक्ति स्वरूपा होने के कारण इसे ब्रह्म गायत्री कहा जाता है।

साष्टाक्षरा गायत्री ब्रह्म गायत्री।

शतपथ ब्राह्मण,८।५।३।७

वेदमाता

वेद अर्थात् ज्ञान की माँ होने के कारण इसे वेदमाता कहते हैं। बुद्धि की पवित्रता से ही ज्ञान तथा ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है इसीलिये बुद्धि की निर्मलता एवं उत्कृष्टता की प्राप्ति कराने वाले इस मन्त्र को उचित रूप से वेदमाता कहा जाता है। यहाँ ह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वेदमाता का अर्थ 'वेदानां माता' अर्थात् वेदों की माता नहीं, प्रत्युत ज्ञान की माँ है। यद्यपि पुराणों आदि में इसे 'वेदानां मातरः' भी कहा गया है किन्तु वेद में 'वेदानां माता' शब्दों का प्रयोग नहीं है,बल्कि केवल 'वेदमाता'शब्द का ही प्रयोग हुआ है। महाभारत में भी 'वेदमातरम्' शब्द ही आया है, अतः इसका अर्थ ज्ञान की माँ ही उचित एवं तर्क सम्मत है, 'वेदों की माता' अर्थ करना सर्वथा वेदविरुद्ध है। गायत्री वेदों का ही एक मन्त्र है और इसे वेदों से ही दुहकर सारतत्व के रूप में निकाला गया है अतः यह वेदों की पुत्री हो सकती है, माता नहीं।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचाऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥

मनु. २।७७

परमेष्ठी प्रजापति ने ऋक्, यजु तथा साम रूपी त्रयी विद्या से इस सावित्री ऋचा का एक एक पाद दुहकर निकाला है।

गुरुमन्त्र

उपनयन संस्कार के समय आचार्य सर्व प्रथम इसी मन्त्र का उपदेश बालक को देता है, इसे गुरुमन्त्र कहा जाता है।

महामन्त्र

वेदमन्त्रों में सर्वाधिक महिमा मण्डित होने तथा समस्त लौकिक उत्कर्ष एवं सुखों को प्रदान करने के उपरान्त अन्त में ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाला होने के कारण इसे महामन्त्र तथा वेदों का सार कहा जाता है।

यथा च मधुपुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसात्पय: ।
एवं हि सर्ववेदानां गायत्री सार उच्यते ।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति, ४।१६

जिस प्रकार पुष्पों का सार मधु, दुग्ध का सार घृत तथा रस का सार दुग्ध है, उसी प्रकार गायत्री को समस्त वेदों का सार कहा जाता है।

गायञ्छिष्यान् यतस्त्रायेत्कायं प्राणांस्तथैव च।।
तत: स्मृतेयं गायत्री सावित्रीयं ततो यत: ।
प्रकाशनात्मा सवितुर्वाग्रूपत्वात् सरस्वती ।।

अग्नि पुराण, २९६।१,२

अपना गायन करने वाले शिष्यों के शरीर तथा प्राणों की रक्षा करती है अत: इसे गायत्री कहा जाता है। सविता के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण इसे सावित्री तथा वाणी रूपा होने से सरस्वती कहा जाता है।

पौराणिक मतानुसार गायत्री कालभेद से तीन रूपों में व्यवहृत होती है।

गायत्री नाम पूर्वो सावित्री मध्यमे दिने ।
सरस्वती च सायो सैव सन्ध्या त्रिषु स्मृता ।।

वेदव्यास:

वही प्रातःकाल में गायत्री, मध्याह्न में सावित्री, सायंकाल में सरस्वती तथा तीनों कालों में सन्ध्या नाम से कही जाती है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गायत्री वेदों के एक प्रमुख छन्द का भी नाम है। यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक वेदमन्त्र का देवता होता है। अत: पाठकों की जानकारी के लिये मन्त्र, देवता तथा छन्द का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

मन्त्रा मननात्। निरुक्त ७।१२

'मन् ज्ञाने' धातु से मन्त्र शब्द सिद्ध होता है । 'मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन्वा स मन्त्रो वेदः' जिनसे समस्त सत्य विद्याओं तथा पदार्थों का ज्ञान होता है, वे वेद मन्त्र कहलाते हैं ।

वैदिक ज्ञान तीनों कालों में एक सा रहता है और वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं । अतः वेदमन्त्र अश्वमेध यज्ञ से लेकर शिल्प पर्यन्त सभी कर्मों तथा मोक्ष की सिद्धि कराने वाले हैं । इसीलिये यास्काचार्य जी ने देवता शब्द को मन्त्र के पर्यायवाची शब्द के रुप में प्रयुक्त किया है।

तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम् ।		निरुक्त, १ । २

जिस प्रकार मनुष्यों की भाषा में शब्दों का प्रयोग होता है उसी प्रकार देवता अर्थात् मन्त्र में भी होता है ।

स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है –

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् ।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका(वेद विषयविचारः)

कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण किया जाता है और जो गायत्र्यादि छन्द हैं वे ही देवता कहलाते हैं क्योंकि वे ही कर्मकाण्ड आदि विधि के द्योतक हैं और उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

मन्त्र तथा छन्द पर्यायवाची शब्द हैं। यह उल्लेखनीय है कि श्रुति, वेद तथा निगम भी पर्यायवाची हैं। मनुस्मृति में कहा है कि 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय'।

स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है **'येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृताः आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति, तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ।'**

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका (वेद विषयविचारः)

वेदों का नाम 'छन्द' इसलिये रखा गया है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्य

विद्याओं से परपूर्ण हैं तथा उनका मन्त्र नाम इसलिये है कि उनसे सत्य विद्याओं का ज्ञान होता है।

निगम का निर्वचन निम्न प्रकार है –

निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका (वेदविषयविचार:)

जिससे सारे पदार्थों के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है अथवा सारी विद्यायें जिसमें विद्यमान हैं वह निगम, वेद अथवा मन्त्र हैं।

<u>देवता</u>

देवता अथवा देव शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है–

देवो दानाद्वा,दीपनाद्वा,द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देव: सा देवता। निरुक्त,७।१५

दीपन का अर्थ है प्रकाश करना, जबकि द्योतन का अर्थ है ज्ञान का प्रकाश देना, सत्योपदेश देना। इस प्रकार दान देने से, अन्धकार को नाश करने वाला प्रकाश देने से, ज्ञान का प्रकाश करने से, सत्य उपदेश से अथवा द्युस्थानीय होने से देव कहा जाता है। मन्त्रों से सत्य विद्याओं तथा समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है और इस प्रकार उनसे ज्ञान रूपी प्रकाश प्राप्त होता है अत: उन्हें देवता कहा जाता है। जो देव है, वही देवता है।

या तेनोच्यते सा देवता ।। सर्वानुक्रमणी,५

मन्त्र द्वारा जिस विषय को कहा जाता है वही उस मन्त्र का देवता होता है अर्थात् मन्त्र का जो प्रतिपाद्य विषय होता है उसे उस मन्त्र का देवता कहा जाता है। उदाहरणार्थ, 'अग्निमीले पुरोहितम्' इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन है अत: इस मन्त्र का देवता अग्नि है किन्तु यह उल्लेखनीय है कि आध्यात्मिक अर्थ करने पर सभी मन्त्रों का देवता ओंकार अथवा ब्रह्म ही होता है क्योंकि वही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। ऋक्सर्वानुक्रमणीकार आचार्य कात्यायन ने लिखा है 'ओंकार: सर्वदेवत्य: पारमेष्ठ्यो वा ब्राह्मो दैव आध्यात्मिक: ।' आध्यात्मिक अर्थ में

सब ऋचाओं का देवता ओंकार, परमेष्ठी अथवा ब्रह्म होता है।

<u>छन्द</u>

छन्दांसि छादनात्। निरुक्त अध्याय, ७ खण्ड १२

पापों तथा दुःखों आदि से रक्षा के लिये आत्मा का आच्छादन करने से मन्त्रों को छन्दस् कहा जाता है। इस प्रकार छादन, आच्छादन अथवा रक्षा करने के कारण मन्त्रों को छन्द कहा जाता है। महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है–

अविद्यादिदुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका (वेदविषय विचारः)

अविद्यादि समस्त दुःखों का निवारण करने तथा सुखों से आच्छादित करने के कारण छन्द अथवा वेद कहा जाता है। आह्लादन तथा दीपन अर्थ वाली 'चदि आल्हादने दीप्तौ च' धातु में असुन् प्रत्यय लगाने पर 'चन्देरादेश्च छः' उणादि सूत्र, ४।२१९ के अनुसार, चकार के स्थान पर छकार हो जाने से छन्दस् शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः छन्द का अर्थ हुआ ज्ञान का प्रकाश एवं सुख देने वाला।

वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका (वेदविषय विचारः)

वेद के अध्ययन से समस्त विद्याओं की प्राप्ति होने के कारण मनुष्य आह्लादी, सुखी तथा सर्वार्थ का ज्ञाता हो जाता है। इसलिये मन्त्रों को छन्द अथवा वेद कहा जाता है। छन्दों द्वारा आच्छादन अथवा रक्षा किये जाने के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में यह आलंकारिक वर्णन आया है कि देवता लोग मृत्यु के भय से वेदों में प्रविष्ट हो गये और उन्होंनें गायत्र्यादि छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया। देवों ने अपनी रक्षा हेतु स्वयं को छन्दों से जो आच्छादित कर लिया, यही छन्दों का छन्दस्त्व है–

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादय-

न्यदेभिरच्छादयश्स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। छान्दोग्य उप. १।४।२

(देवा: वै मृत्यो: बिभ्यत:) देव निश्चय ही मृत्यु के भय से भयभीत होकर (त्रयीं विद्याम्) ऋग्,यजु:,साम लक्षण वाले चारों वेदों में (प्राविशन्) प्रविष्ट हो गये (ते छन्दोभि: अच्छादयन्) उन्होंने गायत्री आदि छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया। (यत् एभि: अच्छादयन्) देवों ने जो उन छन्दों के द्वारा अपने को आच्छादित कर लिया, वही छन्दों का छन्दस्त्व है अर्थात् यही इनका विशेष गुण है जिसके कारण इन्हें छन्द कहा जाता है। स्पष्ट है कि ये छन्द अपना अध्ययन तथा गान करने वालों की पूर्णरूप से रक्षा करते हैं, उसे इस प्रकार आच्छादित कर लेते हैं कि कष्ट, दु:ख तथा संकट उनके पास आ ही नहीं पाते।

यस्माच्छादिता देवाश्छन्दोभिर्मृत्युभीरव: ।
छन्दसां तेन छन्दस्त्वं ख्यायते वेदवादिभि: ।।

गार्ग्य उपनिदान सूत्र ८।२

मृत्यु से भयभीत देवों ने अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया, अतएव छन्दों का यही छन्दस्त्व वेदविदों द्वारा कहा जाता है।

जिस प्रकार सूर्य की सात प्रकार की रश्मियाँ अथवा सूर्य के रथ के सात अश्व प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार वेद में सात प्रकार के छन्द होते हैं। पुराणों में सूर्य के सात अश्वों के नाम भी वही बताये गये हैं जो वैदिक छन्दों के नाम हैं।

हयाश्च सप्त छन्दांसि तेषां नामानि मे शृणु।
गायत्री च बृहत्युष्णिग्जगती त्रिष्टुबेव च।
अनुष्टुप् पङ्क्तिरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो रवे:।।

विष्णु पुराण द्वितीयांश ७।८

वास्तव में छन्द शब्द का अर्थ सूर्य रश्मि भी होता है।

अथर्व वेद के निम्नांकित मन्त्र में वेद के समस्त प्रमुख छन्दों के नाम दिये गये हैं।

गायत्र्युंशष्णिगंनुष्टुब्बृंहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगंत्यै ।

अथर्व वेद, १९ । २१ । १

(यजुर्वेद २३ । ३३ में भी इसी प्रकार का उल्लेख है ।)

ये सात छन्द हैं- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती ।

छन्दों की अक्षर संख्या

सप्तच्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्योअन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।
कथं स्तोमाःप्रतिं तिष्ठन्ति तेषु,
तानि स्तोमेंषु कथमार्पितानि ।।

अथर्व.८।९।१९

(उत्तराणि चतुः सप्त छन्दांसि) उत्तरोत्तर चार अक्षरों के आधिक्य वाले सात छन्द हैं । (अन्यः अन्यस्मिन्) यह एक दूसरे में (अधि आ अर्पितानि) समर्पित हैं अर्थात् उत्तरोत्तर पूर्व छन्द पर आधारित हैं। (स्तोमाः तेषु कथं प्रति तिष्ठन्ति) इन छन्दों में स्तोम किस प्रकार प्रतिष्ठित हैं (तानि स्तोमेषु कथं अर्पितानि) तथा वे छन्द इन स्तोमो में किस प्रकार अर्पित हैं ।

	छन्द	पादसंख्या	प्रत्येक पाद की अक्षरसंख्या	छन्द की कुल अक्षर संख्या
(१)	गायत्री	३	८	२४
(२)	उष्णिक्	४	७	२८
(३)	अनुष्टुप्	४	८	३२
(४)	बृहती	४	९	३६
(५)	पंक्ति	५	८	४०
(६)	त्रिष्टुप्	४	११	४४
(७)	जगती	४	१२	४८

इन सात छन्दों में सर्वप्रथम तथा सबसे प्रमुख गायत्री छन्द है जिसमें २४ अक्षर होते हैं। इसके पश्चात् अन्य छन्दों में क्रमशः चार चार

अक्षर अधिक होते जाते हैं।

उल्लेखनीय है कि छन्दों की निर्धारित संख्या से एक अथवा दो अक्षरों की न्यूनता अथवा अधिकता से छन्दोभेद नहीं होता किन्तु ऐसी दशा में छन्द के नाम के साथ भिन्न भिन्न सांकेतिक शब्द लगा दिये जाते हैं।

स्तोम

स्तोमः स्तवनात्। निरुक्त ७।१२

स्तुति में प्रयोग किये जाने वाले छन्दों के समूह को स्तोम कहते हैं।

गायत्री छन्द के एक पाद के अक्षरों की संख्या के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में एक रोचक कथा आयी है जिससे गायत्री छन्द के महत्व एवं उसकी शक्ति का दिग्दर्शन होता है।

चतुरक्षराणि ह वाऽअग्रे छन्दांस्यासुः। ततो जगती सोममछापतत्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वाजगाम। ततस्त्रिष्टुप्सोममछापतत्सैकमक्षरं हित्वाजगाम ततो गायत्री सोममछापतत्सैतानि चाक्षराणि हरन्त्यागच्छत्सोमं च ततोऽष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्त - स्मादाहुरष्टाक्षरा गायत्रीति। शतपथ ब्रह्मण ४।३।२।७

(अग्रे ह वा छन्दांसि चतुरक्षराणि आसुः) पहले गायत्री छन्द के पाद चार चार अक्षरों के होते थे। देवों ने द्युलोक से सोम लाने के लिये पहले जगती छन्द से अनुरोध किया। (ततः जगती सोमम् अच्छापतत् सा त्रीणि अक्षराणि हित्वा आजगाम्) तदनुसार जगती छन्द सोम लेने के लिये उड़ा किन्तु सफल नहीं हुआ और अपने तीन अक्षरों को पीछे छोड़कर ही लौट आया। (ततः त्रिष्टुप् सोमम् अच्छापतत् सा एकं अक्षरं हित्वा आजगाम्) तत्पश्चात् देवों के अनुरोध पर त्रिष्टुप् सोम लाने के लिये उड़ा किन्तु वह भी सफल नहीं हो सका और अपना एक अक्षर ही छोड़कर लौट आया। (ततः गायत्री सोमम् अच्छापतत् सा एतानि च अक्षराणि हरन्ती आगच्छत् सोमं च।) अन्त में देवों ने गायत्री से सोम लाने का अनुरोध

किया। तदनुसार गायत्री छन्द सोम लेने के लिये उड़ा और वह पूर्ण सफलता प्राप्त करके न केवल सोम ही ले आया प्रत्युत् जगती तथा त्रिष्टुप् द्वारा छोड़े गये चार अक्षरों को भी साथ ले आया। (ततः गायत्री अष्टाक्षरा अभवत्) तब से गायत्री छन्द का एक पाद आठ अक्षरों का हो गया। (तस्माद् आहुः अष्टाक्षरा गायत्री इति) इसलिये कहते हैं कि गायत्री अष्टाक्षरा है अर्थात् इसके एक पाद में आठ अक्षर होते हैं। इसी प्रकार की आख्यायिका ऐतरेय, ब्राह्मण ३।३।२ में भी है।

गायत्री छन्द

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गायत्री छन्द में आठ आठ अक्षर के तीन पाद, इस प्रकार कुल २४ अक्षर होते हैं। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही गायत्री छन्द से किया गया है। गायत्री छन्द सभी छन्दों से श्रेष्ठ है। इसीलिये भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।

गीता, १०।३५

सामवेद के मन्त्रों में मैं बृहत्साम हूँ, छन्दों में गायत्री हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ।

निरुक्त में गायत्री छन्द के सम्बन्ध में गायत्री शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है—

गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना वा विपरीता, गायतो मुखादुतपतदिति च ब्राह्मणम्।

निरुक्त, ७।१२

(१) स्तुति करने में गान किये जाने के कारण गायत्री है। स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से 'अत्रच्' प्रत्यय करने पर गायत्री शब्द निष्पन्न होता है।

(२) अथवा यह छन्द (त्रिगमन) तीन पादों वाला होता है। अतः गम और त्रि के विपर्यय से गायत्री शब्द निष्पन्न हुआ। त्रि + गम (विपर्यय) गम

+ त्रि = गायत्री।

(३) ब्राह्मण कहता है कि गान करते हुये परमेश्वर के मुख से सर्व प्रथम यह छन्द निकला। अत: इसका नाम गायत्री है। गै + यत् से रक् प्रत्यय, गायत्र = गायत्री।

गायत्री मन्त्र के विषय में भी इसी प्रकार का कथन है।

वेद में भी कहा गया है कि गायत्री छन्द से पूजनीय ब्रह्म की स्तुति करते हैं तथा गायत्री में प्राणों की रक्षा करने की शक्ति है।

गायत्रेण प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम् ।

अथर्ववेद, ९ । १० । २, ऋग्वेद १ । १६४ । २४

गायत्री छन्द से अर्चनीय देव का प्रतिमापन अर्थात् गुण वर्णन करते हैं।

यद् गा॑यत्रे अधि॑ गायत्रमाहि॑तं ।

अथर्ववेद ९ । १० । १, ऋग्वेद, १ । १६४ । २३

(गायत्रे यद् गायत्रं अधि आहितम्) गायत्री छन्द में जो गायत्र अथवा प्राणों की रक्षा का विज्ञान रखा है ।

इस प्रकार मनुष्य की रक्षा करने में गायत्री की शक्ति असंदिग्ध है, केवल आवश्यकता है विधि एवं भक्ति पूर्वक इसके जप, गान तथा उपासना की।

गायत्री छन्द, अग्नि, प्राण एवं वीर्य अर्थात् बल एवं तेज का प्रतिनिधित्व करता है। यह ब्रह्म तेज तथा प्राणशक्ति का संवर्धन एवं संरक्षण करने वाला है, इसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थानों पर किया गया है। वास्तव में अग्नि ही प्राण है और प्राण ही वीर्य अथवा बल है। इसीलिये प्राण को प्राणाग्नि कहा जाता है। ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गायत्री वीर्य है, गायत्री प्राण है तथा गायत्री ब्रह्म है।

आग्नेयीरन्वाह। स्वयैवैनमेतद्देवतया समिन्धे गायत्रीरन्वाह गायत्रं वाऽअग्नेश्छन्द: स्वेनैवैनमेतच्छन्दसा समिन्धे वीर्यं गायत्री ब्रह्म गायत्री वीर्येणैवैनमेतत्समिन्धे।

शतपथ ब्राह्मण १ । ३ । ५ । ४

(आग्नेयी: अन्वाह) अग्नि की ऋचायें बोली जाती हैं। (स्वया एव एनम् एतत् देवतया समिन्धे) इस अग्नि को इसी के देवता द्वारा प्रज्वलित किया जाता है। (गायत्रीरन्वाह गायत्रं वै अग्ने: छन्द:) गायत्री छन्द के मन्त्र बोलता है, नि:सन्देह गायत्री अग्नि का छन्द है। (स्वेन एव एनम् एतत् छन्दसा समिन्धे) अत: अपने ही इस छन्द से अग्नि प्रज्वलित होती है। (वीर्यं गायत्री) गायत्री वीर्य है (ब्रह्म गायत्री) गायत्री ब्रह्म है, (गायत्री वीर्येण एव एनम् एतत् समिन्धे) अत: गायत्री रूपी वीर्य से ही इस अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है।

स यद्येतन्नोदाशꣳसेत। अप्येकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात्। तदेकैकयैवेमाँल्लोकांत्संतनोति। एकैकयेमाँल्लोकांत्स्पृणुतेऽथ यत् प्राणं दधाति। गायत्री वै प्राण:। स यत्कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह। तत्कृत्स्नं प्राणं दधाति। तस्मादेकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात्।

शतपथ, १।३।५।१५

(स: यदि एतत् न उदाशंसेत) यदि वह होता ऐसा न करना चाहे (अपि एकैकां एव अनवानन् अनुब्रूयात्) तो सामधेनियों के एक एक मन्त्र को बिना साँस तोड़े बोले। (तत् एकैकया एव इमान् लोकान् सन्तनोति) इस प्रकार वह एक एक करके लोकों की प्राप्ति करता है, (एकैकया इमान् लोकान् स्पृणुते) वह एक एक करके इन लोकों का भोग करता है (अथ यत् प्राणं दधाति गायत्री वै प्राण:) वह जो प्राण धारण करता है, नि:सन्देह गायत्री प्राण है। (स यत् कृत्स्नां गायत्रीं अन्वाह तत् कृत्स्नं प्राणं दधाति) वह जो बिना साँस तोड़े हुये सम्पूर्ण गायत्री पढ़ता है, तो उससे सम्पूर्ण प्राण को धारण करता है। (तस्माद् एकैका एव अनवानन् अनुब्रूयात्) अत: गायत्री छन्द का एक एक मन्त्र ही बिना साँस तोड़े पढ़ना चाहिये।

बृहदारण्यक उपनिषद्,५।१४ के अपने भाष्य में स्वामी शंकराचार्य जी ने लिखा है –

सर्वछन्दसां हि गायत्रीछन्द: प्रधानभूतम्, तत्प्रयोक्तृगयत्राणाद्

गायत्रीति वक्ष्यति। न चान्येषां छन्दसां प्रयोक्तृप्राणत्राणसाम–र्थ्यम्। प्राणात्मभूता च सा सर्वछन्दसां चात्मा प्राण:। प्राणश्च क्षतत्राणात् क्षत्रमित्युक्तम्, प्राणश्च गायत्री, तस्मात् तदुपासन – मेव विधित्स्यते।

समस्त छन्दों में गायत्री छन्द ही प्रधानभूत है। उसका प्रयोग करने वाले के गय अर्थात् प्राणों का त्राण करने के कारण उसे गायत्री कहा जाता है। अन्य छन्दों में अपने प्रयोक्ता के प्राणों की रक्षा करने का सामर्थ्य नहीं है। वह गायत्री प्राण स्वरूपा है, प्राण सम्पूर्ण छन्दों का आत्मा है। क्षत से त्राण करने के कारण प्राण क्षत्र हैं ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। प्राण गायत्री हैं। इसी कारण उस गायत्री की उपासना का विधान किया गया है।

वेदमन्त्रो के ऋषि, देवता तथा छन्द का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। इनके ज्ञान से न केवल मन्त्रों के सही अर्थ का ज्ञान होता है, प्रत्युत मन्त्रों से अभीष्ट फल प्राप्त करने में भी सहायता प्राप्त होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि गायत्री के ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग तथा अर्थ का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करके किया गया जप विशेष फलदायी होता है। अत: ब्राह्मण को प्रयत्न पूर्वक इनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

आर्ष छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च।
वेदितव्यं प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।।

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति, १।२७

विद्वान् ब्राह्मण को प्रयत्नपूर्वक मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता विनियोग एवं अर्थ को अवश्य जानना चाहिये।

यस्तु जानाति तत्वेन आर्ष छन्दश्च दैवतम्।
विनियोगं ब्राह्मणं च मन्त्रार्थज्ञानकर्म च।।
एकैकस्या ऋचः सोऽभिवन्द्योह्यतिथिवद्भवेत।
देवतायाश्च सायुज्यं गच्छत्यत्र न संशय:।

मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नेन ज्ञातव्यं ब्राह्मणेन तु।।

बृहद् योगि याज्ञवल्क्य स्मृति, १।३१, ३३, ३४

जो एक एक ऋचा के ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, ब्राह्मण तथा अर्थ को ठीक ठीक जानता है वह अतिथि के समान वन्दनीय होता है तथा देवता के सायुज्य को प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है। अतः ब्राह्मण को प्रत्येक मन्त्र का ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग तथा अर्थ ज्ञानपूर्वक जानना चाहिये।

यह महिमा मण्डित गायत्री मन्त्र इतना महत्वपूर्ण है कि अकेले यजुर्वेद में ही यह मन्त्र चार बार आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद तथा सामवेद में भी यह मन्त्र आया है। अथर्व वेद में गायत्री मन्त्र नहीं है बल्कि इसके महात्म्य का अनोखा वर्णन किया गया है जब कि किसी भी अन्य मन्त्र के महात्म्य का वर्णन वेद में नहीं किया गया है।

वेदों में विभिन्न स्थानों पर आये हुये गायत्री मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर का विवरण निम्न प्रकार है—

वेद	मन्त्रसंख्या	ऋषि	छन्द	स्वर
यजुर्वेद	३।३५	विश्वामित्र	निचृद्गायत्री	षड्जः
यजुर्वेद	२२।९	विश्वामित्र	निचृद्गायत्री	षड्जः
यजुर्वेद	३०।२	नारायण	निचृद्गायत्री	षड्जः
यजुर्वेद	३६।३	विश्वामित्र	निचृद्गायत्री	
ऋग्वेद	३।६२।१०	गाथिनो विश्वामित्रः	गायत्री	—
सामवेद	१३।३४।३	विश्वामित्रो गाथिनः	गायत्री	—

(उत्तराचिर्कः) क्रम सं० १४६२

सविता देवता ह्यस्या मुखमग्निस्तदित्यृचः।
विश्वामित्र ऋषिश्छन्दो गायत्री तु विधीयते।।
विश्वस्य जगतो मित्रं विश्वामित्रः प्रजापतिः।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति, ४।४

तत् से प्रारम्भ होने वाली इस ऋचा का देवता सविता तथा मुख अग्नि है। इसके ऋषि विश्वामित्र हैं तथा इसका छन्द गायत्री है। सम्पूर्ण जगत् का मित्र प्रजापति ही विश्वामित्र है।

शताक्षरा गायत्री

वेद के निम्नाङ्कित तीन महत्वपूर्ण मन्त्रों को मिलाकर शताक्षरा गायत्री कही जाती है।

जातवेदेति गायत्री त्र्यम्बकेति शताक्षरा। गायत्री कवचम् १७

(१) भूर्भुवः स्वः तत्संवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यं धीमहि। धियो यो नंः प्रचोदयांत्॥

ऋग्वेद ३।६२।१०, यजु ३६।३

(२) त्र्यंम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुंष्टि वर्धनम्। उर्वारुकमिंव बन्धंनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतांत्॥

यजु० ३।६०, ऋग्वेद ७।५९।१२

(३) जातवेंदसे सुनवाम सोमंमरातीयतो नि दंहाति वेदंः। स नंः पर्षदतिं दुर्गाणि विश्वां नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥ ऋग्वेद १।९९।१

गायत्री मन्त्र के २४, महामृत्युञ्जय मन्त्र के ३३ तथा जातवेदसे मन्त्र के ४३ इस प्रकार इन तीनों मन्त्रों में सौ अक्षर हुये।

गायत्री के महत्व के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों, विशेष रुप से शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् एवं महाभारत, गीता तथा मनुस्मृति आदि अनेक स्मृतियों और पुराणों, विशेषरुप से देवी भागवत में इसका उल्लेख विस्तृत रूप से अत्यन्त आदरपूर्वक किया गया है।

गायत्री के सम्बन्ध में उपलब्ध कुछ रचनायें निम्नलिखित हैं —

(क) आर्ष रचनायें

(१) गायत्री ब्राह्मण

यह शतपथ ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् का भाग है।

(२) गायत्री उपनिषद्– यह गोपथ ब्राह्मण का भाग है।

(ख) अप्रामाणिक रचनायें

(इनमें कुछ वेदानुसार हैं तथा कुछ निराधार कल्पनायें हैं।)

(१) गायत्री हृदय – इसमें गायत्री को देवी स्वरूपा बताया गया है तथा गायत्री मन्त्र के प्रत्येक अक्षर के अलग अलग ऋषि एवं देवताओं का उल्लेख किया गया है।

(२) गायत्री पटल

(३) शारदा तिलक

(४) गायत्री मञ्जरी

इसमें पञ्चकोशों को ही गायत्री के पाँच मुखों की संज्ञा दी गयी है तथा जीवन के दश शूलों का निवारण करने के कारण गायत्री की दश भुजाओं की कल्पना की गयी है।

(५) गायत्री तन्त्र।

(६) गायत्री गीता।

(७) गायत्री स्मृति।

(८) गायत्री पञ्जर स्तोत्रम्।

(९) गायत्री पद्धति।

(१०) गायत्री सहस्रनाम स्तोत्रम्।

गायत्री के सम्बन्ध में कतिपय आधुनिक महापुरुषों के विचार–

(१) स्वामी रामकृष्ण परमहंस

गायत्री सद्बुद्धि का मन्त्र है और परमात्मा से माँगने योग्य वस्तु सद्बुद्धि ही है। सद्बुद्धि से सन्मार्ग मिलता है और सत्कर्म होते हैं, जिससे सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है।

(२) महर्षि दयानन्द

गायत्री महामन्त्र के अर्थ पर विचार करना चाहिये । इस मन्त्र द्वारा सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है, उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है । दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सच्चाई नहीं है । जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा सावधान हो के, जल के समीप स्थित होकर, नित्य कर्म करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण अर्थ ज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल चलन को करे परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है और अग्नि होत्र सायं प्रात: दो ही काल में होता है क्योंकि सन्ध्या रात दिन की सन्धि वेला है, अन्यत्र नहीं । न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे । जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन किया करे ।

यह उल्लेखनीय है कि महर्षि स्वामी दयानन्द के गुरु स्वामी विरिजानन्द निरन्तर गायत्री जप करते थे तथा पवित्र जल में कण्ठ तक निमग्न होकर गायत्री साधना करते थे ।

(३) लोकमान्य तिलक

कुमार्ग को छोड़कर श्रेष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा गायत्री मन्त्र में विद्यमान है । इसी से सत् असत् का विवेक होता है, इसी से आत्मा को प्रकाश प्राप्त होता है ।

(४) महामना पं० मदनमोहन मालवीय

गायत्री में ईश्वर परायणता के भाव उत्पन्न करने की शक्ति है, साथ ही यह भौतिक अभावों को भी दूर करती है ।

(५) गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारतवर्ष को जगाने वाला यह मन्त्र इतना सरल है कि एक ही श्वास में इसका उच्चारण किया जा सकता है । भूर्भुव: स्व: कहते हुये तीनों लोकों अर्थात् सारे जगत को मन में एकत्र करके विचार करना चाहिये कि

मैं किसी देश विशेष का रहने वाला नहीं हूँ अपितु सम्पूर्ण जगत का वासी हूँ। मैं जिस राजप्रासाद का रहने वाला हूँ, ये लोक लोकान्तर उसकी केवल एक एक दीवार मात्र हैं । अपना सम्बन्ध सम्पूर्ण जगत के साथ जोड़ना चाहिये । जिस प्रकार स्वास्थ्य का इच्छुक मनुष्य शुद्ध वायु सेवन के लिये खुले मैदान में जाता है, उसी प्रकार प्रतिदिन असंख्य नक्षत्रों से सुसज्जित इस जगत में खड़ा होकर इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। ब्रह्म का ध्यान करने की यह प्राचीन पद्धति जैसी महान एवं उदार है, वैसी ही अत्यन्त सरल भी है । इसमें किसी प्रकार की व्यर्थता और बनावट का प्रवेश नहीं है । बाह्य जगत और आन्तर बुद्धि इन दोनों को छोड़कर हमारे पास और है ही क्या ? इस जगत को भगवान् अपनी अथक शक्ति से रात दिन प्रेरणा कर रहें हैं । इस बात को अनुभव कर लेने से भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध चिरस्थापित किया जा सकता है । मैं नहीं जानता कि किसी अन्य कौशल, सामग्री, कृत्रिम साधन अथवा मानसिक विचारोद्वेग से यह होना सम्भव है । इस पुनीत मन्त्र के अभ्यास में अन्य किसी प्रकार के तार्किक ऊहापोह, किसी प्रकार के मतभेद या किसी प्रकार के बखेड़े का अवकाश नहीं है और न इसके अन्दर कोई विशेष व्यक्तिगत समीपता या संकीर्णता पायी जाती है ।

(६) महात्मा गांधी

गायत्री मन्त्र का स्थिर चित्त और शान्त हृदय से किया गया जप आपत्तिकाल के संकटों को दूर करने का प्रभाव रखता है और यह आत्मोन्नति के लिये उपयोगी है ।

(७) डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

यदि हम इस सार्वभौमिक प्रार्थना, गायत्री पर विचार करें तो हमें पता चलता है कि इससे हमें सचमुच कुछ ठोस लाभ होता है । गायत्री हमारे अन्दर पुनः जीवन का स्रोत उत्पन्न करने के लिये एक सच्ची आकुल प्रार्थना है ।

गायत्री के सम्बन्ध में कतिपय भ्रामक कल्पनायें एवं मान्यतायें।

(१) गायत्री वेदों की माँ है।

उक्त आशय का कथन कुछ पुराणों तथा अन्य पुस्तकों में किया गया है, उदाहरणार्थ

गायत्री प्रभवा वेदा वेदात्सर्वं स्थितं जगत् ।
स्वस्ति स्वाहा स्वधा दीक्षा एता गायत्रिजाः स्मृताः ।।

पद्म पुराण, सृष्टिखण्ड ६४।९४

वेद गायत्री से उद्भूत हुये हैं तथा वेदों से समस्त संसार की स्थिति है। स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा तथा दीक्षा, सभी गायत्री से ही उत्पन्न हुये हैं।

अष्टाक्षरा स्थिता चाहं जगद्व्याप्तं मयात्विदम्।
माताऽहं सर्ववेदानां पदैः सर्वैरलंकृता ।।

पद्म पुराण, सृष्टिखण्ड,१७।२८६

मेरे प्रत्येक पद में आठ आठ अक्षर हैं तथा मेरे द्वारा यह समस्त संसार व्याप्त है। मैं समस्त वेदों की जननी हूँ तथा समस्त पदों से, समस्त ऐश्वर्यों से विभूषित हूँ।

ततोऽसृजद् वै त्रिपदां गायत्रीं वेदमातरम् ।
अकरोच्चैव चत्वारो वेदान् गायत्रिसम्भवान् ।।

हरिवंश पुराण, भविष्य पर्व, १४।२५

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने वेदमाता गायत्री की सृष्टि की और फिर गायत्री से प्रकट हुये चारों वेदों को (अकरोत्) बनाया।

यह श्लोक वेद विरुद्ध है क्योंकि वेद ब्रह्मा जी ने नहीं बनाये हैं प्रत्युत परब्रह्म से प्रकट हुये हैं, जैसा कि स्वयं वेद, ब्राह्मण, आर्ष उपनिषदों एवं मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

चारों वेदों में निम्न विवरण के अनुसार कुल २०,४१६ मन्त्र हैं।

ऋग्वेद	१०,५८९
यजुर्वेद	१,९७५

सामवेद	१,८७५
अथर्ववेद	५,९७७
योग	२०,४१६

गायत्री अथवा सावित्री इनमें से ही एक मन्त्र है। अत: कोई भी बुद्धिमान पुरुष यह नहीं कह सकता है कि यह एक मन्त्र २०४१६ मन्त्रों की माँ है बल्कि इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि गायत्री वेदों की पुत्री है तो अधिक तर्कसंगत, उपयुक्त एवं वास्तविक होगा क्योंकि मनुस्मृति में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रजापति ने ऋग्वेद,यजुर्वेद तथा सामवेद से गायत्री का एक एक पद निकाला है, जैसा कि गायत्री की उत्पत्ति के प्रकरण में पहले ही बताया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि वेद अथवा किसी भी आर्ष ग्रन्थ, प्राचीन उपनिषद्, महाभारत, शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति एवं गीता आदि में इस प्रकार का अनर्गल कथन नहीं किया गया है, केवल गोपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर 'वेदानां मातर: ' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कि वेद विरुद्ध होने के कारण अमान्य है।

वास्तव में इस भ्रान्त धारणा का जन्म अथर्ववेद के अति प्रसिद्ध मन्त्र 'स्तुता मया वरदा वेदमाता', जो कि इस पुस्तक के प्रारम्भ में ही दिया गया है, का सही अर्थ न समझने के कारण हुआ है। इस मन्त्र में प्रयुक्त 'वेदमाता' शब्द से कुछ लोगों ने यह अर्थ निकाल लिया कि गायत्री वेदों की माँ है जबकि मन्त्र में ''वेदानां माता'' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है बल्कि वेदमाता शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ 'ज्ञान की माँ ' है, वेदों की माँ नहीं।

सद्बुद्धि देने वाली एवं सत्कर्मों के लिये प्रेरणा देने वाली गायत्री ज्ञान की माँ है, इसमें क्या सन्देह हो सकता है किन्तु वेदमाता शब्द के अर्थ का अनर्थ कर देने के कारण इस प्रकार की निर्मूल कल्पना का जन्म हुआ जिसे आज भी कुछ दिग्भ्रमित लोग प्रचारित कर रहे हैं।

(२) जब गायत्री तथा वेदों को तराज़ू पर रखकर तौला गया तो गायत्री

का पलड़ा भारी रहा और वेदों का पलड़ा हलका।

चतुर्वेदाश्च गायत्री पुरा वै तुलिता मया।
चतुर्वेदात्परा गूर्वी गायत्री मोक्षदा स्मृता ।।

पद्म पुराण,सृष्टि खण्ड, ४८।१९३,१९४

ब्रह्मा जी कहते हैं कि जब पूर्वकाल में मेरे द्वारा चारों वेदों और गायत्री को तौला गया तो चारों वेदों की अपेक्षा गायत्री ही गुरुतर सिद्ध हुई। गायत्री मोक्ष देने वाली मानी गयी है।

गायत्री चैव वेदाश्च ब्रह्मणा तोलिता पुरा।
वेदेभ्यश्च सहस्त्रेभ्यो गायत्र्यति गरीयसी ।।

बृहत्पाराशर स्मृति, ५।१६

पूर्वकाल में ब्रह्मा द्वारा गायत्री तथा वेदों को तौला गया जिस पर गायत्री वेदों से हज़ारों गुना अधिक गुरुतर सिद्ध हुयी।

इस प्रकार की मूर्खता पूर्ण बातों से गायत्री का महात्म्य तो बढ़ता नहीं, वेदों का अपमान अवश्य होता है। यह समझने के लिये किसी विशेष बुद्धि अथवा तर्क की आवश्यकता नहीं है कि जब गायत्री अलग से कोई मन्त्र नहीं है बल्कि वेदों का ही एक मन्त्र है तब समग्र वेदों का पलड़ा गायत्री से हल्का कभी नहीं हो सकता। गायत्री नि:सन्देह वेद का अत्यन्त महत्वपूर्ण मन्त्र है किन्तु वह वेद का ही भाग है और वेदों के २०,४१६ मन्त्रों में से केवल एक मन्त्र है अत: उसका महत्व वेदों से अधिक कभी नहीं हो सकता। जिन श्लोकों में यह कहा गया है कि गायत्री उपासना के बिना वेद पढ़ना निरर्थक है, उनका तात्पर्य केवल गायत्री उपासना की अनिवार्यता बताना है क्योंकि भक्ति एवं उपासना के बिना मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती और वेदों का अन्तिम उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति ही है।

(३) ओंकार पुरुष है तथा गायत्री उसकी सुन्दरी पत्नी है और ओंकार सहित गायत्री का जप करने पर दोनों का संयोग होता है। अत: जपमाला को वस्त्र से ढक कर ही जप करना चाहिये।

गायत्री प्रकृतिर्ज्ञेया ओंकार: पुरुष: स्मृत: ।
एतयोरेव संयोगाज्जगत्सर्वं प्रवर्तते ।।

बृहत्पाराशर स्मृति, २।५,६ बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति,४।७

गायत्री को प्रकृति और ओंकार को पुरुष कहा है। गायत्री और ओंकार के संयोग से समस्त संसार की सृष्टि होती है।

ओङ्कार: पुरुषश्चैव गायत्री सुन्दरी तथा ।
तयो: संयोगकाले तु वस्त्रमाच्छाद्य जप्यते ।।

गायत्री कल्प।

ओंकार पुरुष है और गायत्री उसकी सुन्दरी है; उन दोनों के संयोगकाल में अर्थात् प्रणव पूर्वक गायत्री के जप करने के समय माला को वस्त्र से ढंक कर गायत्री जप करना चाहिये।

गायत्री साऽभवत् पत्नी प्रणवोऽभूत् पतिस्तदा।
पुनरन्योऽन्यदाम्पत्यादिति ताभ्यामभूज्जगत् ।।

बृहत्पाराशर स्मृति, २।९

उस समय सृष्टि के (उद्भव के समय) वह गायत्री पत्नी हुई और प्रणव पति हुआ। इन दोनों के दाम्पत्यभाव से ही इस संसार की उत्पत्ति हुई।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गायत्री वेद का एक श्रेष्ठ मन्त्र है, कोई स्त्री अथवा देवी नहीं। अत: उसे ओंकार अथवा ब्रह्म की सुन्दरी पत्नी मानकर जप के समय उनका संयोग मानना एक निकृष्ट कल्पनां है, जो केवल एक पतित मानसिकता की ही परिचायिका है।

माला को ढंकने का उद्देश्य संभवत: यह है कि जप का दिखावा न किया जाय बल्कि उसे बिना किसी दिखावे के निष्ठा एवं भक्तिपूर्वक किया जाय किन्तु इस उचित बात को समझाने के लिये असत्य श्लोकों की रचना की गयी है, उदाहरणार्थ—

वस्त्रेणाच्छाद्य तु करं दक्षिणं यः सदा जपेत् ।
तस्य स्यात् सफलं जाप्यं तद्धीनमफलं स्मृतम् ।।

(व्यासः)

जो अपने दाहिने हाथ को सर्वदा वस्त्र से ढंक कर जप करता है, उसी का जप सफल होता है। जो ऐसा नहीं करता उसका जप निष्फल होता है।

यक्षराक्षसभूतानि सिद्धिविद्याधरोरगाः ।
हरन्ति प्रसभं यस्मात्तस्माद् गुप्तं समाचरेत् ।।

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति, ७।१४१

यक्ष, राक्षस, भूत, सिद्ध, विद्याधर तथा सर्प ये सभी हाथ को बिना ढंके हुये जप के फल को हठात् हरण कर लेते हैं। अतः माला को ढंक कर ही जप करना चाहिये।

(४) देवीभागवत, पद्मपुराण, अग्नि पुराण तथा योगियाज्ञवल्क्य स्मृति आदि में यह बताया गया है कि गायत्री के चौबीस अक्षरों के २४ ऋषि हैं तथा इन २४ वर्णों के अलग अलग छन्द भी हैं। इसी प्रकार प्रत्येक अक्षर के अलग अलग देवताओं का भी उल्लेख किया गया है किन्तु वास्तव में इस प्रकार के कथन सत्य नहीं हैं। यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि देवीभागवत में गायत्री के प्रत्येक अक्षर के जो देवता बताये गये हैं, वे उन देवताओं से भिन्न हैं जो पद्मपुराण तथा अग्नि पुराण में बताये गये हैं।

उपरोक्त काल्पनिक कथन को आगे बढ़ाते हुये गायत्री के २४ अक्षरों की अलग अलग शक्तियों, अलग अलग तत्वों तथा उनके अलग अलग रूपों का भी वर्णन किया गया है, जिसका वास्तव में कोई आधार नहीं है।

(५) गायत्री की चौबीस मुद्रायें–

देवीभागवत आदि में गायत्री की २४ मुद्राओं का उल्लेख किया गया है और यह विधान किया गया है कि जप के पूर्व इन मुद्राओं का

प्रदर्शन किया जाना अनिवार्य है अन्यथा जप निष्फल हो जाता है।

एता मुद्रा न जानाति तस्य देवी न सिद्ध्यति।
शपन्ति देवता: सर्वा गायत्र्यक्षर संस्थिता:।।

महासंहिता

(७) अनेक आधुनिक लेखकों ने अपनी पुस्तकों में यह असत्य बात लिखी है कि गायत्री मन्त्र चारों वेदों में आया है जब कि वास्तविकता यह है कि अथर्ववेद में गायत्री मन्त्र नहीं है, बल्कि उसकी महिमा का वर्णन है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

(८) स्त्रियों एवं शूद्रों का अनाधिकार

कुछ लोग इस प्रकार का मिथ्या प्रचार करते हैं कि स्त्रियों एवं शूद्रों को वेदों के पठन पाठन तथा गायत्री जप का अधिकार हीं है जब कि वास्तव में यह कथन सर्वथा निराधार तथा वेद एवं शास्त्रों के विरुद्ध है और हमारे अध: पतन के काल में अज्ञान के कारण उपजी अनेक मिथ्या विचार धाराओं में से एक है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जब विधर्मी एवं विदेशी लोग वेदों का अध्ययन करते हैं तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होती बल्कि उससे हम लोग अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं किन्तु जब अपने ही देश के तथाकथित शूद्र तथा अन्त्यज वर्गों के लोग जो भारतमाता की सन्तान होने के कारण वास्तव में हमारे सगे भाई हैं, वेदों का अध्ययन करना चाहते हैं तो हम में से कुछ तथाकथित विद्वान्, जो कि वास्तव में मूर्ख हैं, उस पर आपत्ति करते हैं। हमें इस प्रकार के अवैदिक एवं अनैतिक आचरण से बचना चाहिये।

महाभारत में स्पष्ट रुप से कहा गया है कि चारों वर्णों को गायत्री जप करने से शान्ति प्राप्त होती है।

चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषत:।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन्।।

महाभारत, अनु. पर्व, १५०।७०

चारों वर्णों तथा आश्रमों में से किसी भी वर्ण अथवा आश्रम का व्यक्ति हो, वह उत्तम गायत्री मन्त्र का पाठ करता हुआ सदैव शान्ति प्राप्त करता है तथा अपने चारों ओर समाज में शान्ति स्थापित करता है।

स्त्रियों के वेदाध्ययन के अधिकार के विषय में यह उल्लेखनीय है कि जब अपने धर्म एवं संस्कृति के अनुसार कोई भी कल्याणकारी कार्य तथा यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता, तब यह कहना कहाँ की बुद्धिमानी है कि वेदपाठ के समान श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी कार्य में स्त्रियों का अधिकार नहीं है। सभी जानतें हैं कि अपने देश में अनेक ऐसी विदुषी एवं वेदज्ञ स्त्रियाँ हुयीं हैं जो अपने युग के अनेक विद्वानों से अधिक योग्य एवं ज्ञानवती थीं। कदाचित इन मूर्ख लोगों को यह पता नहीं है कि वेद के अनेक सूक्तों एवं मन्त्रों की ऋषि महिलायें हैं। अथर्ववेद के सम्पूर्ण चतुर्दश काण्ड जिसमें विवाह से सम्बन्धित अत्यन्त सुन्दर मन्त्र हैं, की ऋषि सावित्री सूर्या हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त संख्या १५१ की ऋषि श्रद्धा कामायनी तथा १५९ की पौलोमी शची हैं। जब स्वयं वेद में ही महिलायें मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं, तब यह कहना कि महिलाओं को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है, हमारे बौद्धिक एवं धार्मिक अधः पतन की सीमा ही कही जायेगी। स्वयं वेद में ही कहा गया है कि इस कल्याणकारी वाणी के अध्ययन का अधिकार सबको है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳬशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥

यजुर्वेद २६।२

इस मन्त्र में ईश्वर मनुष्यों को उपदेश दे रहा है कि (यथा इमां कल्याणीं वाचं)जिस प्रकार मैं इस कल्याणी वाणी को (ब्रह्म राजन्याभ्याम्

च शूद्राय च अर्याय) ब्राह्मण, क्षत्री, शूद्र तथा वैश्य एवं (स्वाय च अरणाय च जनेभ्यः) अपनों तथा परायों, सभी के लिये अर्थात् अपने प्रिय लोगों के लिये और जो प्रिय नहीं हैं उनके लिये भी, (आवदानि) कहता हूँ, उपदेश करता हूँ, (उसी प्रकार तुम भी करो और यह प्रयास करो) कि मैं (इह) इस संसार में (देवानां दक्षिणायै दातुः प्रियः भूयासम्) देवताओं का, विद्वानों का तथा दक्षिणा अर्थात् धन एवं सम्मान देने वालों का प्रिय बनूँ। (अयं मे कामः समृध्यताम्) मेरी यह कामना समृद्ध हो, पूर्ण हो (अदः मा उपनमतु) तथा यह कामना पूर्ण होने का सुख मुझे प्राप्त हो। मेरी कामना पूर्ण हो।

उक्त मन्त्र के अनुसार हमें सभी लोगों को वेदवाणी का उपदेश करना चाहिये और यह प्रयास करना चाहिये कि इस संसार में हम उदारमना, दानशील श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा देवों एवं विद्वानों की दक्षिणा अर्थात् उनके द्वारा किये जाने वाले सम्मान तथा सत्कार एवं उनके द्वारा दिये जाने वाले धन अथवा ज्ञान के दान के लिये उनके प्रिय बनें। हमें यह भी प्रयास करना चाहिये कि हमारी यह कामना अथवा उद्देश्य उत्तमता से समृद्धि को प्राप्त हो तथा हमें ऐसा करने से सुख एवं यश प्राप्त हो।

वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये त्यागी ब्राह्मणों को प्रेरित करने वाला कितना सुन्दर मन्त्र है यह! इस अत्यन्त महत्वपूर्ण मन्त्र में दो शिक्षायें दी गई हैं। मन्त्र के प्रथम भाग में भगवान् ने स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है कि चारों वेदों की यह पवित्र कल्याणमयी वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य सभी वर्गों के लिये समान रूप से है। इसका ज्ञान प्राप्त करने में, इसका अध्ययन करने में किसी के लिये किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यदि कोई अल्पज्ञ, स्वार्थी अथवा अन्यायी व्यक्ति कोई प्रतिबन्ध लगाता है तो वह भगवान् के इस स्पष्ट निर्देश के सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण मान्य नहीं हो सकता। मन्त्र के दूसरे भाग में विद्वानों को विशेषतया ब्राह्मणों को, जिन पर वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार का गुरुतर दायित्व है, यह शिक्षा दी गई है कि वे सबको वेदवाणी का उपदेश दें और इस कार्य में उदारमना, दानी महापुरुषों तथा अन्य विद्वानों

की सहायता एवं सहयोग प्राप्त करें । यही उनकी वास्तविक दक्षिणा है ।

वैदिक ज्ञान का प्रचार प्रसार करके जगत का कल्याण करने वाले ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों के जीवन की यही कामना होनी चाहिये और उन्हें भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये कि उनकी यह कामना और भी बलवती हो तथा वह इसकी पूर्ति करके परम आनन्द का अनुभव प्राप्त कर सकें ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनेक तथाकथित विद्वानों ने अपने पूर्वाग्रह के कारण जानबूझकर इस मन्त्र का गलत अर्थ किया है ताकि यह न कहा जा सके कि वेद में शूद्रों तथा महिलाओं को वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है । अत: यह आवश्यक है कि ऐसे दुराग्रह पूर्ण अर्थों को अमान्य कर दिया जाय ।

पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा ।।

यमस्मृति

पूर्वयुग में स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार करना, वेदों का पढ़ाना तथा गायत्री का उच्चारण करना कहा गया था ।

स्पष्ट है कि जब हमारा बौद्धिक एवं नैतिक पतन नहीं हुआ था, तब महिलाओं को यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन तथा गायत्री जप का पूर्ण अधिकार था किन्तु मूर्ख लोग उक्त श्लोक से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि केवल पूर्वयुग में ही स्त्रियों को यह अधिकार था, अब नहीं हैं । वेदमन्त्रों, गृह्य-सूत्रों, स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारत में ऐसे प्रमाण भरे पड़े हैं, जिनसे यह निर्विवाद रुप से सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियों को वेंद के पठन पाठन तथा यज्ञ का पूर्ण अधिकार है । अनेक संस्कारों में पत्नी द्वारा स्वयं वेद मन्त्र पढ़े जाने का विधान है । वास्तव में यज्ञ तो पत्नी के बिना हो ही नहीं सकता ।

अयज्ञो वा एष योऽपत्नीक: ।। तैत्तिरीय संहिता २।२।२।६

बिना पत्नी वाला पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं है क्योंकि पत्नी अर्द्धाङ्गिनी होती है ।

अथो अर्धो वा एष आत्मन: यत् पत्नी ।

तैत्तिरीय संहिता, ३।३।३।५

जो विदुषी स्त्रियाँ ऋग्वेद की ऋषि हुयी हैं,उनका वर्णन बृहद्देवता में निम्न प्रकार किया गया है ।

घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपालोपनिषन्निषत् ।
ब्रह्मजाया जुहुर्नाम अगस्त्य स्य स्वसादिति ।।
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी ।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शाश्वता ।।
श्रीलक्ष्मी सार्पराज्ञो वाक्श्रद्धा मेधा च दक्षिणा ।
रात्रि सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिता: ।।

घोषा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, उपनिषत्,निषत् ब्रह्मजाया, जुहु, अदिति, इन्द्राणी, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, यमी, शाश्वती, लक्ष्मी, सार्पराज्ञा, वाक्श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्रि, सूर्या तथा सावित्री ब्रह्मवादिनी ऋषि हुयी हैं ।

महिलाओं की विद्वता के ऐसे स्वर्णिम अतीत को भुलाकर हम अपनी जन्मदात्री माताओं को ही वेदाध्ययन तथा गायत्री उपासना के अधिकार से वञ्चित कर रहे हैं, कैसी मूर्खता है ।

(९) ब्रह्मा, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र ने गायत्री को शाप दिया है । अत: जप के पूर्व शाप विमोचन आवश्यक है ।

शापमुक्ता तु गायत्री चतुर्वर्गफलप्रदा ।
अशापमुक्ता गायत्री चतुर्वर्गफलान्तका ।।

गायत्री शापोद्धार रहस्य ।१४४

शाप से मुक्त गायत्री धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों को देने वाली है । जो गायत्री शाप से मुक्त नहीं होती वह उपर्युक्त चतुर्वर्ग के फलों का नाश करती है ।

शापयुक्ता तु गायत्री सफला न कदाचन ।
शापादुत्तारिता सा तु भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।।

विश्वामित्रोक्त गायत्रीकल्प

शाप से युक्त गायत्री कभी फलदायिनी नहीं होती किन्तु शाप से मुक्त गायत्री भुक्ति तथा मुक्ति अर्थात् भोगों एवं मोक्ष दोनों को देने वाली होती है।

विचारणीय है कि जो श्रेष्ठ मन्त्र समस्त पापों का नाश करने वाला, ज्ञान देने वाला, तथा मोक्ष दिलाने वाला है, जिसे समस्त लोकों के ऊपर सूर्य के समान प्रकाशमान बताया गया है, वह किसी के शाप से कैसे शापित अथवा ग्रस्त हो सकता है ? इसके अतिरिक्त मन्त्र कोई व्यक्ति नहीं है जिसे शाप दिया जा सके बल्कि स्वयं ज्ञान का प्रकाश देने वाला देवता है, जिसे शाप देने की बात सर्वथा मिथ्या एवं कपोल कल्पित है । इस प्रकार की अनर्गल बातों से तो केवल गायत्री का अपमान ही होता है । सबकी रक्षा करने वाली गायत्री तो मोक्ष देने वाली, ब्रह्मस्वरूपा तथा ब्रह्म की शक्ति स्वरुपा है, जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोक में कहा गया है ।

परब्रह्मस्वरूपा च निर्वाणपददायिनी ।
ब्रह्मतेजोमयी शक्तिस्तद्धिष्ठातृ देवता ।। देवी भागवत

तब यह ब्रह्मस्वरुपा गायत्री कैसे शाप ग्रस्त हो सकती है ? स्पष्ट है कि यह सब केवल कपोल कल्पना तथा पाखण्ड है । इस विषय में यह भी महत्वपूर्ण है कि किसी आर्ष ग्रन्थ जैसे ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् आदि में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है ।

(१०) कुछ विद्वानों का मत है कि विधि विधान के बिना किया गया जप निष्फल होता है । उदाहरणार्थ-

गच्छतस्तिष्ठतो वापि स्वेच्छया कर्म कुर्वतः ।
अशुचेर्वा बिना संख्यां तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।। गौतमः

चलते हुये, बैठे हुये, स्वेच्छा से किसी अन्य कार्य को करते हुये तथा अपवित्र अवस्था में बिना संख्या का किया हुआ समस्त जप निष्फल होता है।

वास्तव में उक्त कथन सही नहीं है। उपासना अथवा प्रार्थना के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि सामान्य रूप से उपासना निर्मल शरीर एवं शान्त मन से पवित्र स्थान में बैठकर उचित समय पर करना उत्तम है फिर भी ऐसा नहीं है कि अपवित्र अवस्था अथवा स्थान में किसी भी समय उपासना नहीं की जा सकती। वास्तव में उपासना के लिये कोई समय, अवस्था अथवा स्थान निर्धारित नहीं है और वह किसी भी समय, किसी भी स्थान में तथा किसी भी दशा में की जा सकती है क्योंकि भगवान् का चिन्तन, नमन, प्रार्थना तथा उपासना तो स्वयं ही पवित्र करने की शक्ति रखती है। इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित प्रसिद्ध श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

पद्म पुराण, ९।८०

अपवित्र अथवा पवित्र सभी अवस्थाओं में स्थित हुआ जो पुरुष कमलनयन भगवान् का स्मरण करता है, वह बाह्य तथा आभ्यन्तर अर्थात् बाहर की तथा आन्तरिक दोनों प्रकार की पवित्रता को प्राप्त करता है।

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि।
मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैवं समभ्यसेत्॥
न दोषो मानसे जापे सर्वदेऽशेपि सर्वदा।
जपनिष्ठो द्विजश्रेष्ठोऽखिलं यज्ञफलं लभेत्॥

जो विद्वान् निरन्तर मन्त्र का जप करने का व्रत ग्रहण कर चुके हैं, उनके लिये सोते, जागते, चलते-फिरते, पवित्र अथवा अपवित्र किसी भी

अवस्था में, किसी भी देश अथवा काल में मानसिक जप करने में कोई दोष नहीं है, उन्हें अपने मानसिक जप का अभ्यास करते रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर जप परायण श्रेष्ठ द्विज समस्त यज्ञों का फल प्राप्त करते हैं।

इसमें संदेह नहीं है कि विधिपूर्वक किया गया जप विशेष फलदायी होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य प्रकार से किया गया जप, ध्यान अथवा चिन्तन निरर्थक होता है क्योंकि कोई भी श्रेष्ठ कार्य, विशेष रूप से भगवान् से की गयी प्रार्थना तथा भगवान् का पूजन अर्चन, नमन अथवा नाम कीर्तन किसी भी दशा में निष्फल नहीं हो सकता।

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रत: ।
सम: सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ।।

मनुस्मृति, ६।६६

(दूषित: अपि) दूषित होने पर भी अर्थात् अपवित्र अवस्था में भी और (यत्र तत्राश्रमे रत: धर्मं चरेत्) किसी भी आश्रम में स्थित होने पर भी धर्म का आचरण करना चाहिये। (सर्वेषु भूतेषु सम:) सभी प्राणियों के साथ समता का व्यवहार करना ही सच्चा धर्म है, (न लिङ्गं धर्मकारणम्) बाहरी दिखावटी चिह्न धर्म का कारण नहीं है।

जब भी समय प्राप्त हो और जब भी इच्छा हो चाहे काम करते हुये, चलते हुये, यात्रा करते हुये अथवा लेटे हुये, तभी भक्तिपूर्वक जप, प्रार्थना एवं उपासना करनी चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि केवल स्नान करके तथा आसन पर बैठकर ही जप किया जाय। भगवान् का नाम चिन्तन एवं स्मरण करने में किसी प्रकार के बन्धन अथवा प्रतिबन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं है। वास्तव में जब भी कोई कठिन कार्य करना हो, अथवा भय या चिन्ता की स्थिति हो तभी ओम् सहित गायत्री का जप करना तुरन्त फल देने वाला होता है। भय, चिन्ता तथा परेशानी के समय जप करने पर चिन्ता समाप्त हो जाती है तथा आत्म विश्वास में वृद्धि होती है। इसी प्रकार

बुरे विचारों को मन से हटाने के लिये तत्क्षण गायत्री का जप प्रारम्भ कर देना अत्यन्त लाभदायक होता है, यह मेरा निजी अनुभव है। मन्त्र के अन्त में यह अवश्य कहना चाहिये कि हे प्रभो! हम आपके शरणागत हैं, हमारी रक्षा कीजिये अथवा आप हमारे इस कार्य को पूर्ण कराइये। गायत्री मन्त्र का जप यथा सम्भव मन्त्र के अर्थ का विचार करते हुये करना चाहिये।

महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है–

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ।।

महा भारत, अनुशासन पर्व, १५०। ६८

(यानपात्रे च) जहाज़ में (याने च) अथवा अन्य किसी सवाँरी में बैठकर (प्रवासे) विदेश में अथवा (राजवेश्मनि) राजद्वार में (उत्तमां हि सावित्रीं पठन्) उत्तम गायत्री मन्त्र का जप करने वाला व्यक्ति (परांसिद्धिं अवाप्नोति) परम सिद्धि को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि यात्रा करते समय अथवा राजकीय कार्यों में कठिनायी उत्पन्न होने पर, गायत्री जप से सफलता प्राप्त होती है और कठिनाइयाँ समाप्त हो जाती हैं।

गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने वा प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ।।

महाभारत, अनुशासन पर्व, १५०। ७३

गौवों के मध्य में पाठ करने से गायें बहुत बछड़ों वाली होती हैं। प्रस्थान काल अथवा प्रवास के समय सभी अवस्थाओं में सावित्री का पाठ करना चाहिये।

(११) गायत्री दशभुजाओं, पाँच मुखों तथा तीन नेत्रों वाली देवी है, जो प्रातः काल, मध्याह्न एवं सायंकाल में भिन्न भिन्न नामों, तथा स्वरुपों को धारण करती है।

गायत्री के उक्त काल्पनिक स्वरुप का वर्णन करने वाले बहुत से श्लोकों में कुछ श्लोक उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

रक्तश्वेतहिरण्यनीलधवलैर्युक्तां त्रिनेत्रोज्ज्वलां,
रक्तां रक्तनवस्रजं मणिगणैर्युक्तां कुमारीमिमाम् ।
गायत्रीं कमलासनां करतलध्यानद्धकुण्डाम्बुजां,
पद्माक्षीं च वरस्रजं च दधतीं हंसाधिरूढां भजे ।।

देवीभागवत, १२।३६।९

रक्त, श्वेत, पीत, नील तथा धवल वर्णों के श्रीमुखों एवं तीन नेत्रों से सुशोभित, नूतन लाल कमलों के समान रक्तवर्णा, पद्मासना, दो हाथों में कमल एवं कुण्डिका तथा अन्य दो हाथों में वर एवं अनेक मणियों से अलंकृत, अक्षमाला धारण करने वाली हंस पर आरुढ़ कुमारी स्वरुपा गायत्री की मैं उपासना करता हूँ ।

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणैर्युक्ता-
मिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्वार्थवर्णात्मिकाम् ।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शूलं कपालं गुणम्,
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ।।

देवीभागवत, १२।६।१०

मोती, मूँगा, स्वर्ण, नील तथा उज्वल श्वेत आभा वाले मुखों एवं तीन नेत्रों से सुशोभित, चन्द्रमा के समान कान्तिवाले रत्नों से जड़े हुये मुकुट को धारण करने वाली, तत्वार्थ का बोध कराने वाली तथा अपने हाथों में वर एवं अभय मुद्रायें, अंकुश, पाश, कशा अर्थात् रस्सी अथवा कोड़ा, शूल, कपाल, धनुष, शंख, चक्र एवं कमलद्वय धारण करने वाली वरदायिनी गायत्री की मैं उपासना करता हूँ ।

गायत्री ब्रह्मरुपा स्याद् सावित्री विष्णुरुपिणी ।
सरस्वती रुद्ररूपा उपास्या मूर्तिभेदतः ।।

त्रिपुरतापिन्युपनिषद्

मूर्ति के भेद से गायत्री को ब्रह्म स्वरूपा, सावित्री को विष्णुस्वरूपा तथा सरस्वती को रुद्र स्वरूपा मानकर उपासना करनी चाहिये।

गायत्री प्रातः सावित्री मध्यन्दिने सरस्वती सायमिति।

त्रिपुरतापिन्युपनिषद्

प्रातः काल गायत्री, मध्याह्न में सावित्री तथा सायंकाल सरस्वती।

गायत्री नाम पूर्वाह्ने सावित्री मध्यमे दिने।
सरस्वती च सायाह्ने सैव सन्ध्यात्रिषु स्मृता॥

महर्षि व्यास

वही पूर्वाह्न में गायत्री, मध्याह्न में सावित्री तथा सायंकाल में सरस्वती है और तीनों कालों में सन्ध्या नाम से कही गयी है।

त्वमेव सन्ध्या गायत्री सावित्री च सरस्वती।
ब्राह्मणी वैष्णवी रौद्री रक्तश्वेता क्षितेतरा॥
प्रातर्बाला च मध्याह्ने यौवनस्था भवेत् पुनः।
वृद्धा सायं भगवती चिन्त्यते मुनिभिः सह॥

गायत्री स्तोत्रम्, ३,४

पुष्कर तीर्थ में यज्ञ की कथा

पद्म पुराण सृष्टि खण्ड अध्याय १६,१७ में निम्नाङ्कित कथा आयी है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि सावित्री तथा गायत्री ब्रह्मा जी की दो अलग अलग पत्नियों के नाम हैं।

ब्रह्मा जी ने पुष्कर तीर्थ में यज्ञ का आयोजन किया तथा अपनी पत्नी सावित्री को बुलाने के लिये सन्देश भेजा किन्तु सावित्री ने अपनी सखियों के अनुपस्थित होने के कारण तुरन्त आने से मना कर दिया। तब कुपित होकर ब्रह्मा जी ने इन्द्र को निर्देश दिया कि वह उनके लिये दूसरी पत्नी ढूंढ़ें क्योंकि ब्राह्मणों के अनुसार यज्ञ का मुहूर्त निकला जा रहा था। इन्द्र को मार्ग में एक सुन्दर गोप कन्या मिली जिसे वह उसकी इच्छा के विरुद्ध

बलपूर्वक ले आये । ब्रह्मा जी ने उससे गान्धर्व विवाह करके उसका नाम गायत्री रख दिया और उसके साथ बैठकर यज्ञ प्रारम्भ कर दिया । जब कुछ देर बाद सावित्री आयीं तो उन्होंने गोपकन्या को अपने स्थान पर बैठा देख कर अत्यन्त क्रोध करते हुये ब्रह्मा तथा इन्द्र आदि सभी देवताओं एवं ऋत्विजों को पृथक् पृथक् शाप दे दिया । इस पर गायत्री को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने सब को सावित्री के शाप से यह कहते हुये मुक्त कर दिया कि ब्रह्मा जी के साथ विवाह हो जाने के कारण अब मैं 'माताऽहं सर्व वेदानां' सब वेदों की माँ हूँ और मेरे जप से समस्त पाप नष्ट हो जायेंगे ।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की बातें सर्वथा असत्य, निराधार एवं मूर्खता पूर्ण हैं तथा इनसे समस्त देवताओं एवं श्रेष्ठ वैदिक धर्म का अपमान होता है और हम अपने देवताओं को कैसा तुच्छ एवं हास्यास्पद आचरण करने वाला बना देते हैं । वास्तव में स्वयं पुराणों में ही इसके विपरीत कथन किया गया है और सावित्री तथा गायत्री को एक ही कहा गया है ।

ततः सञ्जपतस्तस्य भित्वा देहमकल्मषम् ।
स्त्रीरूपमर्द्धमकरोदर्द्धं पुरुषरूपवत् ।।
शतरुपा च साख्याता सावित्री च निगद्यते ।
सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परन्तप ।।

मत्स्य पुराण, ३।३०-३२ ४२

हे परन्तप ! ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त करके अर्ध भाग से पुरुष और अर्ध भाग से नारी की रचना की । ब्रह्मा के द्वारा रचित शतरूपा ही सावित्री, सरस्वती, गायत्री तथा ब्रह्माणी कही जातीं हैं ।

इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं के आधार पर ही आज कल कुछ तथाकथित विद्वान् गायत्री की मूर्ति स्थापित करके उसके पूजन की व्यवस्था कर रहे हैं जिससे जनसाधारण में केवल भ्रम उत्पन्न होता है तथा अज्ञान को बढ़ावा मिलता है, किसी को कोई आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं

होता। वास्तव में इस प्रकार का आचरण वेदविरुद्ध है और इसका प्रतिकार किया जाना चाहिये।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गायत्री वेद का एक श्रेष्ठ मन्त्र है, कोई देवी नहीं हैं जिनकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाय। अनेक विद्वानों ने गायत्री के पाँच मुखों तथा दश भुजाओं के वर्णन का वास्तविक आशय तथा अर्थ बताने का प्रयास किया है जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार के वर्णन आलंकारिक हैं, वास्तविक नहीं।

पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य जहाँ एक ओर गायत्री विज्ञान, गायत्री महात्म्य तथा गायत्री उपासना के महत्व से समस्त मानव जाति को परिचित कराना है, वहीं दूसरी ओर इस पवित्र एवं पूजनीय मन्त्र के सम्बन्ध में फैलायी गयी भ्रान्तियों का निवारण करना भी है। मुझे विश्वास है कि विद्वान् पाठक एवं विद्यार्थी इससे लाभान्वित होंगे और वैदिक धर्म के सच्चे स्वरूप को समझकर तथा उसका अनुसरण करके अपना जीवन सफल बनायेंगें।

इस पुस्तक का एक महत्वपूर्ण भाग मेरे पूज्य पिता पं. उमादत्त त्रिवेदी द्वारा लगभग 30 वर्ष पूर्व लिखा गया था तथा शेष भाग मेरे द्वारा लगभग 15 वर्ष पूर्व लिखा गया था। अत: यह आवश्यक है कि मैं उनके विषय में कुछ निवेदन करूँ।

उत्तर प्रदेश के एटा जनपद के अन्तर्गत 'राजा का रामपुर' नामक नगर में पूर्ण ब्रह्मचर्य से युक्त महान् तपस्वी सर्व शास्त्र निष्णात् पं. दुर्गाप्रसाद त्रिवेदी हुये। उनके पौत्र तथा मेरे पूज्य पिता कविराज काव्यतीर्थ पं. उमादत्त जी त्रिवेदी वैद्य शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य ने बच्चों की हित कामना से **'जीवन पथ प्रदीप'** नामक पुस्तक लिखी थी जिससे मार्ग निर्देश प्राप्त करके बच्चे बल, वीर्य तथा ओज से पूर्ण ब्रह्मचारी बनकर सुखी जीवन व्यतीत कर सकें। उस समय उक्त पुस्तक का प्रकाशन नहीं हो सका था अत: उसका समावेश भी इस पुस्तक में कर लिया गया है।

पिता जी एक श्रेष्ठ एवं अत्यन्त कुशल वैद्य होने के साथ साथ

संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् भी थे और वेदों के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा एवं निष्ठा थी । वह गायत्री के अनन्य उपासक तथा यम नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले अत्यन्त सत्यवादी एवं सदाचारी व्यक्ति थे। विद्वान् तो बहुत से होते हैं किन्तु जो सदाचारी नहीं, उसे विद्वान् कहना विद्वता का अपमान है । मैंने उनके समान अहंकार शून्य किन्तु स्वाभिमानी एवं सत्यवादी व्यक्ति नहीं देखा । वह सादगी की प्रतिमूर्ति थे और बचपन से ही उन्होंने मुझे सादा जीवन उच्च विचार की शिक्षा दी जिसे मैंने अपने जीवन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त बना लिया ।

प्रातःकाल ब्राह्ममूहूर्त में उठना, गाय की सेवा तथा नित्य क्रिया के उपरान्त अग्नि होत्र एवं गायत्री जप उनके जीवन का अभिन्न अङ्ग था। मेरे बाबा पं. गुल्ज़ारी लाल त्रिवेदी के समान मेरे पिताजी को भी धन, सम्पत्ति एकत्र करने की कोई लालसा नहीं थी और सन्तोषः परं सुखं के अनुसार ब्राह्मणोचित जीवन व्यतीत करना, उनके जीवन का सिद्धान्त था । मेरी पूज्या माता श्रीमती चम्पा देवी भी दान पुण्य का जीवन व्यतीत करने वाली उनकी प्रिय सहचारिणी एवं वास्तविक अर्थ में गृहलक्ष्मी थीं । भगवान् की असीम अनुकम्पा से उनका पुण्यमय जीवन अत्यन्त सफल रहा और उनके बड़े पुत्र डॉक्टर, छोटे I.A.S अधिकारी, उनसे छोटे I.P.S अधिकारी, जो विशेष सचिव गृह, भारत सरकार तथा सबसे छोटे मुख्य आयकर आयुक्त के पद से सेवा निवृत्त हुये तथा दामाद चीफ़ इन्जीनियर के पद से सेवा निवृत्त हुये । उनके एक समधी श्री पं.विद्या प्रसाद शुक्ल I.A.S, दूसरे समधी इलाहाबाद उच्चन्यायालय के जस्टिस रामासरे मिश्र तथा तीसरे माननीय मोहन लाल सुखाड़िया मुख्यमंत्री राजस्थान थे किन्तु मेरे पिता जी को इस सफलता से कभी कोई अहंकार नहीं हुआ और वह सदैव पूर्व की भाँति एक विद्वान् विप्र का जीवन व्यतीत करते रहे । मैं अपने माता पिता को देवता तुल्य समझता हूँ और सदा यह प्रयास करता हूँ कि मैं उनके चरण चिह्नों पर चल सकूँ ।

आज कल प्रायः सभी लोग कहते हैं कि पाप पुण्य,स्वर्ग नरक कुछ

नहीं होता, यह केवल कल्पना है किन्तु वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है। मेरे गृहनगर राजा का रामपुर के एक सज्जन हैं जिनपर देवी जी की अनूठी कृपा है। यदि किसी को अपने से संबन्धित कोई प्रश्न पूछना हो तो वह अपना प्रश्न एक कागज़ पर लिखकर उन्हें दे दे। वह उस कागज़ को आटे की लोई में लपेटकर उस व्यक्ति से कह देंगे कि उस कागज़ को गाय को खिला दो। प्रश्न वाले कागज़ को गाय द्वारा खा लिये जाने के उपरान्त वह प्रार्थना करेंगे और कुछ समय पश्चात् वही कागज़ जिस पर प्रश्न लिखा था और जिसे गाय ने खा लिया था, उनके द्वारा निर्धारित स्थान पर माँ वैष्णव देवी जी की ओर से दिये गये उत्तर के साथ अपने आप आ जायेगा।

यह कोई असत्य कथन नहीं है प्रत्युत स्वयं मेरे द्वारा अनेक बार प्रत्यक्ष देखी हुयी घटना है। मैने भी एक बार देवी जी से एक प्रश्न किया था, जिसके उत्तर के साथ साथ देवी जी द्वारा मुझे यह लिखित सूचना दी गयी कि श्री गेंदन लाल (मेरेपिता जी का घरेलू नाम) और चम्पा देवी (मेरी माँ) दोनों स्वर्ग लोक में हैं। यह उल्लेखनीय है कि मैंने प्रश्न में अपने माता पिता का नाम नहीं लिखा था और न उनके विषय में प्रश्न ही पूँछा था फिर भी देवी जी ने उनके विषय में यह महत्वपूर्ण सूचना दी, जिससे मुझे इतनी प्रसन्नता हुई कि मानो मुझे स्वयं ही स्वर्ग लोक प्राप्त हो गया हो। श्री वैष्णव देवी जी का कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। अत: यह स्पष्ट है कि मेरे माता पिता ने अपने पुण्य कर्मों से स्वर्ग लोक प्राप्त किया।

इस प्रकार गायत्री उपासना से उन्हें वह सभी फल प्राप्त हुये जिनका उल्लेख अथर्ववेद के प्रसिद्ध मन्त्र मे किया गया है। यह मन्त्र गायत्री महात्म्य के प्रारम्भ में ही दिया गया है।

मुझे दुःख है कि मैं उनकी कोई विशेष सेवा नहीं कर सका। मैंने केवल उनके प्रति अपनी श्रद्धा के रूप में, अपने भाग की सारी भूमि दान करके माता जी के नाम से राजा का रामपुर में श्रीमती चम्पा देवी राजकीय कन्या इन्टर कालेज की स्थापना करवायी तथा अपने जीवन की सारी बचत लगाकर पिता जी के नाम से पं. उमादत्त त्रिवेदी वेद

विद्यापीठ की स्थापना सेक्टर 6/B, वृन्दावन, लखनऊ में की जिसमें बच्चों के लिये निःशुल्क आवास एवं भोजन के साथ सस्वर वेद पाठ आदि की शिक्षा प्रदान की जाती है।

जब मैं वाराणसी में संयुक्त विकास आयुक्त के पद पर कार्यरत था तब दिनाङ्क 10.10.1984 को मेरी माता जी का तथा 2.9.1985 को पिता जी का स्वर्गवास काशी की पवित्र नगरी में हो गया। उनकी पुण्यमयी छाया हटने के पश्चात् हम लोग अनेक विपत्तियों में फँस गये, परिवार के लिये सब कुछ असामान्य हो गया और अत्यन्त दुःखद परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं। सर्वप्रथम हमारी छोटी बहू श्रीमती पूर्णिमा की अकाल मृत्यु उसके पिता के घर पर इटावा में हो गयी। तत्पश्चात् दिनाङ्क 10.11.2002 को मेरे सबसे ज्येष्ठ एवं सबसे अधिक योग्य प्रिय पुत्र अनुराग जो अमेरिका के नागरिक बन गये थे, का स्वर्गवास 50 वर्ष की आयु में टेक्सास, अमेरिका में हो गया। इसके केवल ढाई वर्ष बाद दिनाङ्क 18.3.2005 को मेरे सबसे छोटे पुत्र सौरभ जिन्हें सभी ज्योतिषियों ने अत्यन्त भाग्यशाली बताया था, चालीस वर्ष की आयु में हमें छोड़ कर चले गये।

इन आघातों से हम लोगों का विशेष रुप से मेरी धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमा त्रिवेदी का हृदय विदीर्ण हो जाना स्वाभाविक था। हम लोगों का सब कुछ नष्ट हो गया, सारे सपने टूट गये और सारी आशायें छिन्न भिन्न हो गयीं। फिर भी भगवान् के प्रति अटूट श्रद्धा एवं भक्ति की डोर पकड़कर हम लोग येन केन प्रकारेण अपने कर्तव्यों का पालन कर रहे हैं तथा मैं वैदिक ज्ञान के प्रचार प्रसार के अपने उद्देश्य के प्रति समर्पित रहते हुये, अब जीवन की सान्ध्य वेला में बच्चों को वेद पढ़ाने के साथ साथ, मुख्य रुप से पिता जी द्वारा लिखित इस पुस्तक का प्रकाशन करवा रहा हूँ।

इसका सारा श्रेय मैं अपनी प्रिय धर्मात्मा पत्नी श्रीमती प्रेमा त्रिवेदी को दे रहा हूँ जो कि कई लक्ष गायत्री जप कर चुकी हैं और 78 वर्ष की आयु में अनेक कष्ट सहते हुये भी निरन्तर गायत्री जप में संलग्न रहती

हैं तथा वेद विद्यापीठ में पढ़ने वाले बच्चों के भोजन आदि की व्यवस्था देखते हुये मुझे निरन्तर प्रेरणा एवं सहयोग प्रदान करती हैं । उनके जन्मदिन दिनाङ्क 19.8.2011 के अवसर पर यह पुस्तक उन्हीं की ओर से श्रीमती चम्पा देवी वैदिक संस्थान द्वारा प्रकाशित की जा रही है ।

अन्त में मैं अपने दो विद्यार्थियों रोहित मिश्रा एवं अंकित मिश्रा के प्रति अनेक आशीर्वादों के साथ आभार प्रकट करता हूँ , जिन्होंने किशोरावस्था में ही वेद एवं संस्कृत के अध्ययन के साथ साथ कम्प्यूटर टाइपिंग सीखकर इस पुस्तक को अत्यन्त परिश्रम एवं लगन से टाइप किया है । भगवान् से प्रार्थना है कि उन्हें उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर ले जाकर उनके जीवन को सफल एवं सुखी बनायें ।

दिनांक 19.8.2011 विधुशेखर त्रिवेदी I. A. S. (अ. प्रा)

गायत्री महात्म्य

ऋषिः- ब्रह्मा । देवता—गायत्री

स्तुता मयां वरदा वेंदमाता
प्र चोंदयन्तां पावमानी द्विजानांम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविंणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्वा व्रंजत ब्रह्मलोकम् ।।

अथर्व.१९।७१।१

(मया वरदा प्रचोदयन्तां द्विजानां पावमानी वेदमाता स्तुता) मेरे द्वारा वर देने वाली, श्रेष्ठ प्रेरणा देने वाली तथा द्विजों को पवित्र करने वाली वेदमाता अर्थात् ज्ञान की माँ गायत्री की स्तुति की गयी। यह माँ (मह्यं आयुः, प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसं दत्वा ब्रह्मलोकं व्रजत) मुझे पूर्ण आयु, स्वस्थ एवं शक्तिशाली प्राण तथा इन्द्रियाँ, उत्तम सन्तान, पशु ,कीर्ति, धन एवं ब्रह्मतेज देकर अन्त में ब्रह्मलोक को ले जाती है।

अथवा, (हे माँ !) मुझे इस जीवन में पूर्ण आयु, स्वस्थ एवं शक्तिशाली प्राण तथा इन्द्रियाँ, उत्तम सन्तान, पशु, धन, कीर्ति एवं ब्रह्मतेज देकर अन्त में ब्रह्मलोक को ले जाओ।

यहाँ वेदमाता का अर्थ वेदों की माँ नहीं, प्रत्युत ज्ञान की माँ है।

यह है गायत्री मन्त्र की महिमा तथा उसकी उपासना का फल। यह वेद वाक्य है, स्वयं परब्रह्म की कल्याणमयी वाणी है, अतः इसमें संशय का कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार स्वयं वेद में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रणव सहित गायत्री के जप से न केवल आध्यात्मिक उन्नति होती है, न केवल स्वर्ग तथा मोक्ष की ही प्राप्ति होती है, प्रत्युत इससे समस्त श्रेष्ठ सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के साथ साथ ज्ञान, लौकिक ऐश्वर्य,कीर्ति, धन, सन्तान,

स्वस्थ जीवन एवं दीर्घ आयु की भी प्राप्ति होती है और अन्त में सावित्री रूपी यह दिव्य ज्ञानस्वरूपा माँ अपने उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराती है।

ब्रह्मगायत्री ब्रह्मवर्चसी हैव भवति। शतपथ ब्राह्मण, ४।१।१।१४

नि: सन्देह ब्रह्म गायत्री ब्रह्मवर्चसी है।

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री। ऐतरेय ब्राह्मण, १।५।१

नि: सन्देह गायत्री तेज एवं ब्रह्मवर्चस् है।

गायत्री निश्चित रूप से तेज अर्थात् शारीरिक कान्ति एवं ओजस्विता तथा ब्रह्मवर्चस् अर्थात् ब्रह्म ज्ञान से उत्पन्न तेज को देने वाली है। इसीलिये यहाँ गायत्री को ही तेज एवं ब्रह्मवर्चस् कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, मनुस्मृति तथा महाभारत आदि अनेक आर्ष ग्रन्थों एवं पुराणों में गायत्री की महिमा का गान किया गया है तथा उसकी अनन्य उपासना का निर्देश दिया गया है। हमारे महर्षियों, मुनियों एवं मनीषियों द्वारा अपने ज्ञान एवं सम्पूर्ण जीवन के अनुभव के आधार पर लिखे गये वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकते। अत: हमें उन पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुये उनके उपदेशों का पालन करना चाहिये ताकि हम भी अपने जीवन को उन्हीं के समान श्रेष्ठ, पवित्र एवं ज्योतिर्मय बना सकें। गायत्री मन्त्र के जप में यह विशेषता है कि इसमें ओ३म् का जप भी सम्मिलित होता है, अत: इससे प्रणव के जप का समस्त लाभ तो होता ही है, साथ ही गायत्री के जप का भी लाभ प्राप्त होता है। इसीलिये समस्त जप मन्त्रों में ओङ्कार सहित गायत्री का जप सर्व श्रेष्ठ कहा गया है।

ओङ्कारस्तु परं ब्रह्म गायत्री स्यात्तदक्षरम्।
एवं मन्त्रो महायोग: साक्षात्सार उदाहृत:॥

उशन संहिता, ३।५२।१

ओङ्कार परब्रह्म है तथा गायत्री उसकी अविनाशी शक्ति है। अत: गायत्री एवं प्रणव का महायोग साक्षात् सार अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।।मनु २।८१

जिसके आरम्भ में ओङ्कार तथा भूः, भुवः, स्वः, ये तीन अविनाशी महाव्याहृतियाँ हैं, ऐसी तीन पदों वाली गायत्री को ब्रह्म अर्थात् वेद का मुख समझना चाहिये।

सर्वेषामेव वेदानां गुह्योपनिषदां तथा।
सारभूता तु गायत्री निर्गता ब्रह्मणो मुखात्।।

(छान्दोग्य परिशिष्ट)

समस्त वेदों एवं समस्त गूढ़ उपनिषदों की सारभूता गायत्री ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुई है।

सावित्री की स्तुति में उसकी अनन्त महिमा का वर्णन करते हुये लिखे गये सहस्रों श्लोकों में से कुछ चुने हुये रत्न पाठकों द्वारा स्मरण किये जाने के लिये यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

सर्वेषां जप्यसूक्तानामृचाञ्च यजुषां तथा।
साम्नां चैकाक्षरादीनां गायत्री परमो जपः।।

बृहत्पाराशर स्मृति २।४ वृद्ध पाराशर स्मृति ४।४

समस्त जपसूक्तों तथा ऋग्, यजुः, साम मन्त्रों एवं एकाक्षर ॐ, आदि से गायत्री मन्त्र का जप श्रेष्ठ माना गया है।

गायत्र्यास्तु परं जाप्यं न भूतं न भविष्यति।

वृद्ध योगियाज्ञवल्क्य स्मृति १०।११०

जप मन्त्रों में गायत्री से श्रेष्ठ न कभी कुछ था और न होगा।

परब्रह्मस्वरुपा च निर्वाणपददायिनी।
ब्रह्मतेजोमयी शक्तिस्तदधिष्ठातृ देवता।।

देवी भागवत ९।१।४२

गायत्री परब्रह्म स्वरुपा है तथा मोक्ष के परमपद को देने वाली है। यह ब्रह्म की तेजोमयी शक्ति है तथा परब्रह्म ही उसका अधिष्ठातृ देवता है।

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

अग्नि पुराण, शङ्खस्मृति, १२।११

गायत्री वेद अर्थात् ज्ञान की जननी है, गायत्री पापों का नाश करने वाली है। इस लोक में तथा द्युलोक अर्थात् तीनों लोकों में गायत्री से अधिक श्रेष्ठ तथा पवित्र कुछ नहीं है।

गायत्री वेद जननी गायत्री लोकपावनी।
गायत्र्या न परं जप्यमेतद् विज्ञाय मुच्यते ॥

कूर्म पुराण, उत्तरार्ध, १४।५८, पद्मपुराण, स्वर्ग खण्ड, ५३।५८

गायत्री ज्ञान की माँ है, गायत्री समस्त लोकों को पावन करने वाली है। गायत्री से श्रेष्ठ अन्य कोई जप नहीं है। गायत्री को सम्यक् रुप से जानकर पुरुष जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

गायत्र्या न परं जप्यं गायत्र्या न परं तपः ।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं श्रुतम् ॥

बृहद् यमस्मृति

गायत्री से बढ़कर कोई जप नहीं है, गायत्री उपासना से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है, गायत्री से श्रेष्ठ कोई ध्यान नहीं है तथा गायत्री से श्रेष्ठ कोई ज्ञान अथवा शास्त्र नहीं है।

दुर्लभा सर्व मन्त्रेषु गायत्री प्रणवान्विता।
गायत्र्या नाधिकं किञ्चित् त्रयीषु परिगीयते ॥

स्कन्द पुराण, काशी खण्ड, ९।५१

समस्त मन्त्रों में प्रणव (ओ३म्) से युक्त गायत्री दुर्लभ है। चारों वेदों में, गायत्री से अधिक अन्य किसी मन्त्र का गान नहीं किया जाता।

गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः ।
गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः ।।

स्कन्द पुराण, काशी खण्ड, ९।५३

गायत्री ही भगवान् विष्णु हैं, गायत्री ही भगवान् शिव हैं गायत्री ही भगवान् ब्रह्मा हैं तथा गायत्री ही त्रयी विद्या है । तात्पर्य यह है कि वेदों में वर्णित गायत्री, त्रयी विद्या अर्थात् चारों वेदों का प्रतीक रूप से प्रतिनिधित्व करती है ।'

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च सञ्जपेत् ।।

संवर्त स्मृति, २२०

(पापकर्मणां शोधनं गायत्र्याः तु परं नास्ति) पाप कर्मों के शोधन के लिये गायत्री से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है । अतः ओङ्कार तथा भूः, भुवः, स्वः इन महाव्याहृतियों से युक्त गायत्री का जप करे ।

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्
महाव्याहृति संयुक्तां प्राणायामेन संयुताम् ।
गायत्रीं प्रजपन् विप्रः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

संवर्त संहिता, २१४,२१५

गायत्री मन्त्र से बढ़कर पाप कर्मों का नाश करने वाला और कोई मन्त्र नहीं है । प्राणायाम के साथ महाव्याहृतियों सहित गायत्री का जप करने वाला ब्राह्मण समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

गायत्री चैव संसेव्या धर्मकामार्थमोक्षदा ।
नित्ये नैमित्तिके काम्ये त्रितये तु परायणः ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति इहलोके परत्र च ।।

देवी भागवत, ११।२१।३८, ३९

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाली गायत्री का ही जप करना चाहिये। नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य इन तीनों प्रकार के कर्मों में गायत्री का जप उपयोगी है। इस लोक में तथा परलोक में गायत्री से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।

सर्ववेदसारभूता गायत्र्यास्तु समर्चना ।
ब्रह्मादयोऽपि सन्ध्यायां तां ध्यायन्ति जपन्ति च ॥

देवी भागवत, ११।१६।१५

गायत्री की उपासना समस्त वेदों का सारभूत है, सन्ध्योपासन में ब्रह्मा आदि देवगण भी उसी का ध्यान एवं जप करते हैं।

प्रभावेणैव गायत्र्याः क्षत्रियः कौशिको वशी ।
राजर्षित्वं परित्यज्य ब्रह्मर्षिपदमीयिवान् ॥
सामर्थ्यं प्राप चात्युच्चैरन्यद् भुवनसर्जने ।
किं किं न दद्याद् गायत्री सम्यगेवमुपासिता ॥

स्कन्द पुराण, काशी खण्ड।९।५५, ५६

(गायत्र्याः एव प्रभावेण क्षत्रियः कौशिकः वशी) गायत्री के ही प्रभाव से मन एवं इन्द्रियों को वश में रखने वाले मनीषी क्षत्रिय विश्वामित्र ने (राजर्षित्वं परित्यज्य ब्रह्मर्षित्वं ईयिवान्) राजर्षि के पद को त्यागकर ब्रह्मर्षि के पद को प्राप्त किया। (अन्यद् भुवन सर्जने च अत्युचैः सामर्थ्यं प्राप) तथा एक अन्य लोक के निर्माण का उत्कृष्ट सामर्थ्य भी प्राप्त कर लिया। (एवम् सम्यग् उपासिता गायत्री किं किं न दद्यात्) जिसकी विधि पूर्वक उपासना की गई है, ऐसी गायत्री क्या क्या प्रदान नहीं करती?

यथा कथञ्चिज्जप्तैषा देवी परमपावनी ।
सर्वकामप्रदा प्रोक्ता विधिना किं पुनर्नृप ॥

हे राजन्! किसी भी प्रकार जप करने पर यह परम पावनी दिव्य गायत्री समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाली कही गई है। यदि विधि

विधान से इसका जप किया जाय तो फिर कहना ही क्या।

जपेन देवता नित्यं स्तुवतः सम्प्रसीदति।
तस्मात्स्वाध्यायसम्पन्नो लभेत् सर्वान् मनोरथान्॥

नारद पुराण, पूर्वार्ध।१।३।३३।९६

नित्य गायत्री के जप से स्तुति करने पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। अतः गायत्री का स्वाध्याय करने वाला समस्त मनोरथों को प्राप्त कर लेता है।

ऐहिकामुष्मिकम् सर्वं गायत्री जपतो भवेत्। अग्नि पुराण

गायत्री का जप करने वाले को सांसारिक तथा पारलौकिक समस्त सुख प्राप्त हो जाते हैं।

कामकामो लभेत् कामं गतिकामस्तु सद्गतिम्।
अकामस्तु तदाप्नोति यद् विष्णोः परमं पदम्॥

(कामकामः कामं लभते) गायत्री उपासना से सकामभाव से जप करने वाला अपनी कामनाओं की पूर्ति का लाभ प्राप्त करता है, (गति कामः तु सद् गतिम्) सद् गति चाहने वाला सद् गति प्राप्त करता है तथा (अकामः तु तद् आप्नोति) निष्काम भाव से उपासना करने वाला विष्णु के उस परमपद को प्राप्त करता है।

गायत्री जपते यस्तु द्वौ कालौ ब्राह्मणः सदा।
तया राजन् स विज्ञेयः पङ्क्ति पावन पावनः॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३

(राजन् यः ब्राह्मण द्वौ कालौ सदा गायत्रीं जपते) हे राजन्! जो ब्राह्मण सायं प्रातः दोनों समय सदा गायत्री का जप करता है (तया सः पंक्तिपावनपावनः विज्ञेयः) उसे गायत्री उपासना के कारण पंक्तिपावनों को भी पवित्र करने वाला समझना चाहिये।

गायत्री स्तुति

तन्नाममन्त्रसुप्रीता तपस्विजन सेविता ।
ओङ्काररुपा सावित्री सर्वरूपा सनातनी ।।
संसारदुःख शमनी सर्वयागफलप्रदा ।।

गायत्री सहस्रनाम स्तोत्रम् । ७,८

'तत्' पद से प्रारम्भ होने वाले मन्त्र से प्रसन्न होने वाली, तपस्विजनों से सेवित,सर्वरूपा,सनातनी,ओङ्काररुपा सावित्री, सांसारिक दुःखों का शमन करने वाली तथा समस्त यज्ञों का फल प्रदान करने वाली है ।

सफला सत्यसंकल्पा सत्या सत्यप्रदायिनी ।
सन्तोषजननी सारा सत्यलोकनिवासिनी ।।

गायत्री सहस्रनाम स्तोत्रम् । ९

गायत्री, उपासना करने वालों को श्रेष्ठ फल देने वाली, सत्य-सङ्कल्पा, सत्य स्वरुपा तथा सत्य प्रदायिनी है । यह सन्तोष को जन्म देने वाली, ज्ञान की सार तथा सत्यलोक निवासिनी है ।

सर्वपापक्षयकरं सर्वज्ञानमयं शिवम् ।
परायणानां परमा परब्रह्मस्वरूपिणी ।।

गायत्री सहस्रनाम स्तोत्रम्, १०

गायत्री, समस्त पापों का नाश करने वाली, समस्त ज्ञान से युक्त, कल्याणकारी, शरण में आने वालों को आश्रय देने वालों में सर्वश्रेष्ठ तथा परब्रह्म स्वरुपा है

समस्तभुवनेशानी सर्वकामफलप्रदा ।
सर्वसिद्धिप्रदा साध्वी सर्वज्ञान प्रदायिनी ।।

गायत्री सहस्र स्तोत्रम्, ९७

गायत्री समस्त भुवनों की स्वामिनी, समस्त कामनाओं के फलों को देने वाली, समस्त सिद्धि एवं ज्ञान प्रदायिनी तथा साध्वी है।

सर्वदारिद्र्यशमनी सर्वदुःखविमोचनी।
सर्वरोगप्रशमनी सर्वपाप विमोचनी ।।

गायत्री सहस्त्रनाम स्तोत्रम्, ९८

गायत्री समस्त दारिद्र्यों को नष्ट करने वाली, समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली तथा समस्त रोगों एवं पापों से मुक्त करने वाली है।

इत्येतत् कथितं देवि! रहस्यं सर्व कामदम्।
सर्वपापप्रशमनम् सर्वतीर्थफलप्रदम् ।।
सर्वरोगहरं पुण्यं सर्वज्ञानमयं शिवम् ।
सर्वसिध्दिप्रदं देवि! सर्व सौभाग्यवर्धनम् ।।
आयुष्यं वर्धते नित्यं लिखितं यत्र तिष्ठति ।
न चोराग्निभयं तस्य न च भूतभयं क्वचित् ।।

गायत्री सहस्रनाम, १६७-१६९

हे देवि! समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले, समस्त पापों का प्रशमन करने वाले, समस्त तीर्थों का फल प्रदान करने वाले, गायत्री रहस्य को मैने कहा है। हे देवि! गायत्री मन्त्र समस्त रोगों को दूर करने वाला, समस्त सिद्धियों को देने वाला तथा समस्त सौभाग्य की वृद्धि करने वाला, पवित्र, कल्याणकारी एवं सर्वज्ञानमय है। जहाँ यह गायत्री मन्त्र लिखा हुआ रहता है, वहाँ सदैव आरोग्य की वृद्धि होती है और वहाँ कभी चोर, अग्नि तथा भूत प्रेत आदि का भय नहीं होता।

विषरोगादि दारिद्र्य मृत्युसंहार कारणम्।
सप्तकोटि महामन्त्र पारायण फलप्रदम् ।।

गायत्री सहस्रनाम, १७२

गायत्री महामन्त्र का पारायण जप, विष, रोग, दरिद्रता तथा अकालमृत्यु आदि को समाप्त करने जैसे फलों को प्रदान करने वाला है।

गायत्री की उत्पत्ति

गायत्री छन्द की व्युत्पत्ति करते हुये यास्काचार्य जी ने लिखा है —

'गायतो मुखादुतपतदिति गायत्री च ब्राह्मणम्' ।

दैवत ब्राम्हण ५।३, निरुक्त, ७।१२

ब्राह्मण के अनुसार गान करते हुये परमेश्वर के मुख से सर्व प्रथम यह छन्द निकला अत: इसे गायत्री कहा जाता है।

गै+यत् के साथ रक् प्रत्यय करने पर गायत्र=गायत्री शब्द सिद्ध होता है।

तपसः सुसमिद्धस्य आदिसर्गात्स्वयं भुवः ।
ओङ्कारपूर्वा गायत्री निर्जगाम ततो मुखात् ।।

योगियाज्ञवल्क्य

सृष्टि से पूर्व तपस्या के तेज से भासमान स्वयंभू परमात्मा के मुख से ओङ्कार पूर्वा गायत्री अर्थात् जिसके पहले ओङ्कार है, ऐसी गायत्री उत्पन्न हुई।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचाऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ।।

मनुस्मृति, २।७७

परमेष्ठी प्रजापति (ब्रह्मा जी) ने इस सावित्री ऋचा का एक एक पाद ऋग्, यजु, तथा साम रूपी त्रयी विद्या से दुहकर निकाला है।

यथा च मधुपुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसात्पयः।
एवं हि सर्व वेदानां गायत्री सार उच्यते ।।

बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति,४।१६

जिस प्रकार पुष्पों का सार मधु,दुग्ध का सार घृत तथा रस का सार दुग्ध है, उसी प्रकार गायत्री को समस्त वेदों का सार कहा जाता है।

गायत्री का प्रमुख निर्वचन निम्न प्रकार किया जाता है।

गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीयं ततः स्मृता। व्यासः

अपना गान करने वाले की रक्षा करती है, अतः इसे गायत्री कहा जाता है। गायत्री शब्द में 'गय+त्री' ये दो शब्द हैं। गय नाम प्राणों का है। त्रैङ् पालने धातु से स्त्रीलिंग में त्री बनता है।

अतः गायत्री का अर्थ हुआ प्राणों की रक्षा करने वाली।

सा हैषा गयाँस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँस्तत्रे।

तद् यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम ॥

बृहदारण्यक उपनिषद् ५।१४।४ शतपथ. १४।८।१५।७

उस इस गायत्री ने गयों का त्राण किया था। प्राण ही गय हैं, इसने प्राणों का त्राण किया था। इसने जो प्राणों की रक्षा की थी इसी से इसका नाम गायत्री हुआ।

गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री। ऐतरेय ब्राह्मण

गय अर्थात प्राणों की जो रक्षा करती है, वह गायत्री है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परमात्मा ही प्राणों का प्रमुख रक्षक है। अतः गायत्री का अर्थ परमात्मा भी होता है। इसीलिये छान्दोग्य उपनिषद् में पृथिवी, शरीर तथा हृदय को गायत्री कहा गया है क्योंकि ये प्राणों की रक्षा करते हैं और इनके बिना प्राण नहीं रह सकता। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायेगा।

गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीत्यभिधीयते।

प्रणवेन च संयुक्तां व्याहृतित्रयसंयुताम् ॥

देवी भागवत, ११।३।११

प्रणव, ओङ्कार तथा तीनों महाव्याहृतियों; भूः भुवः स्वः के साथ संयुक्त, यह अपना गान करने वाले का रक्षण करती है, अतः गायत्री कही जाती है।

दुष्प्रतिग्रह दुर्भक्ष्यरूपांहोभ्योऽनिशं द्विजम् ।
गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीति ततः स्मृता ।।

योगियाज्ञवल्क्य स्मृति ४ । ३५ भारद्वाज गायत्री व्याख्या ।३३

दुष्प्रतिग्रह अर्थात् अतिनिषिद्ध दान एवं दुर्भक्ष्य अर्थात् अभक्ष्य भक्षण से ब्राह्मण को उत्पन्न होने वाले पाप से अपना गान करने वाले द्विज की अहर्निश रक्षा करने के कारण इसे गायत्री कहा गया है ।

प्राणा गया इति प्रोक्तास्त्रायते तानथापि वा ।
गायत्रीति भवेन्नाम केवलं त्रायतीति वा ।।

भारद्वाज गायत्री व्याख्या, ३४

प्राणों को गय तथा इसको उनकी रक्षा करने वाली कहा गया है, इसीलिये इसका नाम गायत्री है । अथवा केवल रक्षा करने के कारण ही गायत्री कहा जाता है, (गायन्तं त्रायते इति गायत्रीः) गान करने वाले की रक्षा करती है,अतः यह गायत्री है ।

स्वामी दयानन्द जी ने भी ऋग्वेद भाष्य भूमिका में लिखा है—

गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते ।

गय अर्थात प्राण की रक्षा करती है,अतः इसे गायत्री कहा जाता है।

गायत्री प्रोच्यते तस्मात् गायन्तं त्रायते यतः । महर्षि याज्ञवल्क्य

क्योंकि अपना गान करने वाले की रक्षा करती है, अतः इसे गायत्री कहा जाता है ।

'गीयते तत्वमनया गायत्रीति' ।

इसके द्वारा परम तत्व का ज्ञान होता है अतः यह गायत्री है ।

वास्तव में गायत्री हमारे अन्दर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करती है जो सत्व गुण से युक्त तथा दैवी तत्वों से आच्छादित होती है । वह हमें ऐसे मार्ग पर प्रेरित करती है, जिस पर चलते हुए हमें ऐश्वर्य एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है तथा परम तत्व का दर्शन होता है ।

गायत्री वेद जननी गायत्रीब्राह्मणप्रसूः ।
गातारं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन गीयते ।।

स्कन्द पुराण, काशी खण्ड, ९।५३

गायत्री ज्ञान की माँ है तथा ब्राह्मणों की जन्मदात्री है। यह अपना गान करने वाले की रक्षा करती है इसीलिये इसे गायत्री कहा जाता है।

गायत्री के ऋषि, देवता तथा छन्द

सविता देवता यस्य मुखमग्निस्त्रिपात् स्थिता ।
विश्वामित्र ऋषिश्छन्दो गायत्री सा विशिष्यते ।।

दक्षस्मृति,२।४५

जिसका देवता सविता, मुख अग्नि, ऋषि विश्वामित्र तथा छन्द गायत्री है, वह त्रिपाद् गायत्री सर्वोत्कृष्ट है।

दैवमस्यास्तु सविता सुरार्च्य-
श्छन्दोऽपि गायत्र्यमभूत् परस्याः ।
विश्वस्य मित्रो द्विजराज पूज्यो
मुनिर्नियोगस्तु जपादिकेषु ।।

बृहत्पाराशर स्मृति २।८,९

देवताओं के पूज्य सविता इसके देवता हैं। द्विजों में श्रेष्ठ पूजनीय विश्वामित्र इसके ऋषि हैं तथा जप आदि में इसका विनियोग है।

गायत्री जप की अनिवार्यता

आद्यास्तु व्याहृतीस्तिस्रो गायत्री स्वशिरोयुताम् ।
ओङ्कारं विन्दते यस्तु स मुनिर्नेतरो जनः ।।

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य,२।६५

(भूः भुवः स्वः) इन तीन व्याहृतियों तथा शिर सहित गायत्री एवं ओङ्कार को जो प्राप्त करता है, वही मुनि है अन्य कोई नहीं।

गायत्रीं पावनीं जप्त्वा ज्ञात्वा याति परां गतिम् ।
न गायत्रीविहीनस्य भद्रमत्र परत्र च ।।

जो द्विज परम पवित्र गायत्री का ज्ञान प्राप्त करके उसका जप करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है । गायत्री की उपासना न करने वाले पुरुष का, न तो इस लोक में और न ही परलोक में कल्याण होता है ।

न गायत्र्याः परो मन्त्रः सा सर्वश्रुतिमध्यगा ।
यज्जपेनाखिलजपः सिद्धो भवति सन्ततम् ।।
यज्जपेन बिना सर्वः साक्षादीशस्समोऽपि वै ।
द्विजमात्रो निपतति तत्तुल्योऽन्यो मनुर्न हि ।।

मार्कण्डेय स्मृति

गायत्री से श्रेष्ठ अन्य कोई मन्त्र नहीं है । वह गायत्री समस्त वेद मन्त्रों के मध्य में प्रतिष्ठित है, जिसके निरन्तर जप करने से समस्त मन्त्रों का जप हो जाता है, जप कर्ता सिद्धि प्राप्त कर लेता है तथा जिसके जप के बिना द्विज का पतन हो जाता है, चाहे उसके समान अन्य कोई मनुष्य न हो अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ हो और चाहे वह ईश्वर के तुल्य ही क्यों न हो ।

गायत्रीं यः परित्यज्य चान्यमन्त्रमुपासते ।
न साफल्यमवाप्नोति कल्पकोटिशतैरपि ।।

बृहत्सन्ध्याभाष्य

(यः गायत्रीं परित्यज्य) जो परम पवित्र एवं श्रेष्ठ गायत्री मन्त्र का परित्याग करके (अन्यमन्त्रम् उपासते) अन्य मन्त्र की उपासना करता है, (कल्पकोटि शतैरपि न साफल्यम् अवाप्नोति) वह सैकड़ों करोड़ों कल्पों में भी सफलता अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता ।

न विष्णूपासना नित्या वेदे नोक्ता तु कुत्रचित् ।
न विष्णुदीक्षा नित्यास्ति शिवस्यापि तथैव च ।।

देवीभागवत,१२।८।८८

वेद में कहीं भी विष्णु उपासना का विधान नहीं है । न तो विष्णु दीक्षा नित्य है और न शिव दीक्षा ।

गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता ।
यया बिना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा ।।

देवी भागवत,१२।८।८९

(सर्ववेदैः गायत्री उपासना नित्या समीरिता) समस्त वेदों में गायत्री उपासना नित्य कही गयी है, (यया बिना ब्राह्मणस्य तु सर्वथा अधः पातः अस्ति) जिसके बिना ब्राह्मण का तो सर्वथा अधः पतन ही हो जाता है ।

तावता कृतकृत्यत्वं नान्यापेक्षा द्विजस्य हि ।
गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात् ।।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादिति प्राह मनुः स्वयम् ।

देवी भागवत,१२।८।९०–९१

(तावता कृतकृत्यत्वं, द्विजस्य हि न अन्या अपेक्षा) द्विज गायत्री की उपासना से ही कृतकृत्य हो जाता है, उसे अन्य किसी उपासना की अपेक्षा नहीं होती । (गायत्री मात्र निष्णातः द्विजः मोक्षमवाप्नुयात्) केवल गायत्री उपासना में ही निष्णात् ब्राह्मण मोक्ष प्राप्त कर लेता है चाहे वह अन्य कोई उपासना करे या न करे,ऐसा स्वयं मनु जो ने कहा है ।

विहाय तां तु गायत्रीं विष्णूपासनतत्परः ।
शिवोपासनरतो विप्रो नरकं याति सर्वथा ।।

देवी भागवत,१२।८।९२

उस दिव्य गायत्री को छोड़कर विष्णु तथा शिव की उपासना में संलग्न ब्राह्मण सर्वथा नरक में जाता है।

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के लिये शिव, विष्णु अथवा अन्य किसी देवी देवता के मन्दिर में जाकर पुष्प एवं जल चढ़ा देना अथवा प्रसाद अर्पण कर देना पर्याप्त नहीं है। सद्गति प्राप्त करने हेतु उसके लिये गायत्री का जप करना अनिवार्य है। यद्यपि इस श्लोक में किया गया कथन कठोर प्रतीत होता है किन्तु यह वास्तव में सत्य है।

सावित्री विहीनो यो वै न विप्रत्वमवाप्नुयात्।

बृहत्पराशर स्मृति,५।१४

जो गायत्री जप से विहीन है, वह कभी ब्राह्मणत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

न तिष्ठति तु यःपूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।

मनुस्मृति,२।१०३

जो ब्राह्मण नित्य प्रति प्रातः एवं सायं सन्ध्योपासन नहीं करता (सः शूद्रवद् सर्वस्माद् द्विज कर्मणः बहिष्कार्यः) उसको शूद्र के समान मानकर समस्त द्विज कर्मों से बहिष्कृत कर देना चाहिये।

सन्ध्यायां च प्रभाते च मध्याह्ने च ततः पुनः।
सन्ध्यां नोपासते यस्तु ब्राह्मणो हि विशेषतः।
स जीवन्नेव शूद्रः स्यान्मृतः श्वा चैव जायते।।

दक्ष संहिता,२।१८

प्रभात काल, मध्याह्नकाल तथा सांयकाल में, विशेष रूप से ब्राह्मण कुलोत्पन्न जो पुरुष, गायत्री मन्त्र का जप नहीं करता वह जीवित रहते हुये शूद्र है तथा मृत्यु के उपरान्त कुत्ते की योनि प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि उसका अत्यन्त अधः पतन हो जाता है।

गायत्री रहितो विप्रः शूद्रादप्यशुचिर्भवेत् ।
गायत्रीब्रह्मतत्वज्ञाः सम्पूज्यन्ते द्विजोत्तमाः ।।

पाराशर स्मृति,८ । ३२

गायत्री से रहित ब्राह्मण शूद्र से भी अधिक अपवित्र होता है । गायत्री रूप वेद के तत्व को जानने वाले ब्राह्मण पूजित होते हैं ।

य इमां न विन्दन्ति नाधीयते सन्ध्याकाले नोपासते ते ह्यश्रोत्रिया भवन्त्यनुपनीताकृत्यहीनाश्छेदन भेदन भोजन मैथुनायाभिचरन्तः ।

अथर्ववेद परिशिष्ट, सन्ध्यासूत्र, ३ ।३

जो द्विज गायत्री को नहीं जानते, गायत्री का अध्ययन नहीं करते और सन्ध्योपासन के समय गायत्री की उपासना नहीं करते तथा जो वृक्षादि के छेदन, भेदन, एवं भोजन और मैथुन में रत रहते हैं, वे समस्त कृत्यों से हीन होकर अश्रोत्रिय और अनुपनीत कहलाते हैं ।

गायत्रीं यो न जानाति जातो विप्रकुले यदि ।
ब्राह्मणत्वं कुतस्तस्य स शूद्रेण समः स्मृतः ।।

भारद्वाज स्मृति,१२ । ५०, ५१

विप्र कुल में उत्पन्न होकर जो पुरुष गायत्री को नहीं जानता, उसमें ब्राह्मणत्व कहाँ रह सकता है ? वह तो शूद्र के समान कहा गया है ।

किं वेदैः पठितैः सर्वैः सेतिहासपुराणकैः ।
साङ्गैः सावित्रीहीनो यो न विप्रत्वमवाप्नुयात् ।।

बृहत् पाराशर स्मृति,५ । १४

उस व्यक्ति के (साङ्गैः सेतिहास पुराणकैः पठितैः सर्वैः वेदैः किम्) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन वेदाङ्गों तथा इतिहास एवं पुराण के साथ समस्त वेदों के अध्ययन से क्या लाभ, (यः सावित्रिहीनः सन् विप्रत्वं न अवाप्नुयात्) जो सावित्री का जप न करने के

कारण विप्रत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

गायत्रीं तु परित्यज्य योऽन्यमन्त्रमुपासते ।
मुण्डकरा वै ते ज्ञेया इति वेदविदो विदुः ।।

गायत्री मन्त्र को त्यागकर जो अन्य मन्त्र की उपासना करते हैं, वे निःसन्देह नास्तिक हैं, ऐसा वेदवेत्ता लोग जानते हैं।

गायत्रीं तु परित्यज्य अन्यमन्त्रामुपासते ।
त्यक्त्वा सिद्धान्नमन्यत्र भिक्षामटति दुर्मतिः ।।

गायत्री कवच, ४३

जो व्यक्ति गायत्री को छोड़कर अन्य मन्त्रों की उपासना करता है, वह दुर्बुद्धि पकाये हुये अन्न को छोड़कर भिक्षा के लिये घूमने वाले पुरुष के समान है।

त्रैवर्णिकानां सर्वेषां गायत्री परमा गतिः ।
कर्मान्तरेष्वसक्तोऽपि तयैव लभते गतिम् ।।
तां बिनाऽन्यानि कर्माणि निष्फलानि कृतान्यपि।
अतः प्रतिदिनं सर्वैः समुपास्या जपादिभिः ।।

समस्त त्रैवर्णिकों अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये गायत्री ही परम गति है। अन्य कर्मों में असमर्थ होने पर भी पुरुष गायत्री उपासना से ही परम गति को प्राप्त कर लेता है। गायत्री उपासना के बिना अन्य कर्म करने पर वे निष्फल ही रहते हैं, अतः सभी को प्रतिदिन जप आदि द्वारा गायत्री उपासना करनी चाहिये।

एतयार्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ।।मनुस्मृति,२।८०

(एतया ऋचा) इस गायत्री ऋचा (काले च स्वया क्रियया विसंयुक्तः) तथा समय समय पर किये जाने वाले अपने कर्तव्यों से हीन (ब्रह्म क्षत्रिय

विट्योनिः) ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि में जन्म लेने वाला पुरुष (साधुषु निर्गर्हणां याति) साधु पुरुषों में निन्दा का पात्र बनता है।

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ।।

मनुस्मृति, ११।२२५

गायत्री तथा मन को शुद्ध करने वाले ईश्वरोपासना के मन्त्रों का यथा शक्ति जप करे। समस्त व्रतों में प्रायश्चित के लिये यह आवश्यक है।

गायत्री जप से पाप नाश

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ।।

मनुस्मृति,२।१०२

(पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठन्) पूर्वाभिमुख बैठकर प्रातः कालीन सन्ध्या में ओ३म् तथा गायत्री मन्त्र का जप करते हुये मनुष्य (नैशं एनः व्यपोहति) रात्रि में होने वाले पापों को नष्ट कर देता है, (पश्चिमां तु समासीनः) तथा सायंकाल में पश्चिम की ओर अभिमुख होकर उपासना करने से (दिवाकृतम् मलं हन्ति) दिन में किये हुये पापों अथवा दोषों को दूर कर देता है।

प्रातः प्रदोषे रात्रौ वा जपेद् ब्रह्म मनोभवन् ।
सर्वपापविमुक्तोऽसौ नाधर्मे कुरुते मनः ।।

जो प्रातःकाल, सायंकाल अथवा रात्रि में, ब्रह्म में अपना मन लगाकर गायत्री का जप करता है वह समस्त प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है और उसका मन कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

सकृज्जपश्च गायत्र्याः पापं दिनभवं हरेत् ।
दशवारं जपेनैव नश्येत्पापं दिवानिशम् ।।

देवी भागवत,९।२६।१४

गायत्री का एक बार जप करने से दिन में किये हुये समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं तथा दश बार जप करने से दिन एवं रात्रि के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

गायत्रीं जपते यस्तु कल्पमुत्थाय वै द्विज: ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण ।

जो द्विज प्रात: काल उठकर गायत्री का जप करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता।

हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ।
तस्मात्तामभ्यसेन्नित्यं ब्राह्मणो हृदये शुचि: ।।

शङ्ख स्मृति, १२।१२

(नरकार्णवे पततां हस्तत्राण प्रदा देवी) यह दिव्य गायत्री, नरक रूपी समुद्र में गिरने वालों को हाथ पकड़कर बचाने वाली है। (तस्मात् हृदये शुचि: ब्राह्मण: तां नित्यं अभ्यसेत्) अत: ब्राह्मण को शुद्ध हृदय से उस गायत्री का नित्य अभ्यास करना चाहिये, उसकी उपासना करनी चाहिये।

दशकृत्व: प्रजप्ता सा रात्र्याह्ना यत्कृतं लघु ।
तत्पापं प्रणुदत्याशु नात्र कार्या विचारणा ।।

रात और दिन में किये गये जो लघु पाप होते हैं, वे गायत्री के दश बार जप करने से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

शतजप्ता तु सा देवी पापोपशमनी स्मृता ।
सहस्रजप्ता तु सा देवी उपपातकनाशिनी ।।

अग्नि पुराण, २१५।६,७

सौ बार जपी गयी दिव्य गायत्री पापों का शमन करने वाली तथा

एक सहस्र बार जप की गयी वह देवी उपपातकों का विनाश करने वाली कही गयी है।

शतवारं जपश्चैव पापं मासार्जितं हरेत् ।
सहस्रधा जपश्चैव कल्मषं वर्षरार्जितम् ।।

देवी भागवत, ९।२६।१५

सौ बार के जप से महीने भर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं तथा एक हज़ार बार जप करने से वर्ष भर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

लक्षो जन्म कृतं पापं दशलक्ष्योऽन्यजन्मजम् ।
सर्वजन्मकृतं पापं शतलक्षाद् विनश्यति ।।
करोति मुक्तिं विप्राणां जपो दशगुणस्ततः ।

देवी भागवत, ९।२६।१६-१७

एक लाख जप करने से इस जन्म के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और दश लाख बार जप करने से दूसरे जन्म के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। एक करोड़ जप करने से समस्त जन्मों में किये हुये सब पाप नष्ट हो जाते हैं तथा दश करोड़ जप करने से ब्राह्मणों की मुक्ति हो जाती है।

गायत्रीं जपते यस्तु द्विकालं ब्राह्मणः सदा ।
असत् प्रतिगृहीताऽऽपि स याति परमां गतिम् ।।

जो ब्राह्मण सदा सायंकाल तथा प्रातः काल गायत्री का जप करता है, वह अयोग्य दान लेने पर भी परम गति को प्राप्त होता है।

गायत्र्युच्चारमात्रेण पापकूटात्पुनाति च ।
स्वर्गापवर्गमाप्नोति जप्त्वा नित्यं द्विजोत्तमः ।।

पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, ४८।१९७-१९८

गायत्री के उच्चारण मात्र से पाप राशि से छुटकारा मिल जाता है तथा मनुष्य पवित्र हो जाता है। जो द्विज श्रेष्ठ प्रतिदिन गायत्री का जप

करता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं।

सायं प्रातश्च सन्ध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते ।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।।
स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्ट किल्विषः।
न सीदेत् प्रतिग्रह्णानो महीमपि ससागरम् ।।

महाभारत, वनपर्व, २००।८३, ८४

जो ब्राह्मण सायं प्रातः दोनों समय सन्ध्योपासन करता है तथा सबको पवित्र करने वाली वेदमाता ज्ञानदात्री गायत्री का जप करता है, वह उस दिव्य, गायत्री की कृपा से पवित्र एवं निष्पाप हो जाता है तथा समुद्र पर्यन्त समस्त पृथिवी का दान ग्रहण करने पर भी दुःख अथवा कष्ट का भागी नहीं होता।

जपन् हि पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।
तपसा भावितो देव्या ब्राह्मणः पूतकिल्विषः ।।

कूर्म पुराण।

पवित्र करने वाली दिव्य वेदमाता गायत्री का जप करता हुआ ब्राह्मण इस देवी की अर्थात् इस दिव्य माँ की कृपा से तपस्वी हो जाता है तथा समस्त पापों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है।

सावित्रीजाप्यनिरतः स्वर्गमाप्नोति मानवः ।
गायत्रीजाप्यनिरतो मोक्षोपायं च विन्दति ।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्नातः प्रयतमानसः ।
गायत्रीं तु जपेद् भक्त्या सर्वपापप्रणाशिनीम् ।।

गायत्री तन्त्रम्, १४१-१४२, शङ्ख स्मृति, १२।१६,१७

सावित्री के जप में तत्पर पुरुष स्वर्ग प्राप्त करता है तथा मोक्ष का भागी होता है। अतः स्नान करने के उपरान्त मन को प्रयास पूर्वक स्थिर

करके शुद्ध चित्त से समस्त पापों का नाश करने वाली गायत्री का भक्ति पूर्वक जप करे।

गायत्री जपकृद् भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते।
गायत्रीजपशुद्धो हि शुद्धो ब्राह्मण उच्यते।।

शिवपुराण, विद्येश्वर संहिता, १५।१८

भक्ति पूर्वक गायत्री का जप करने वाला समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। गायत्री जप से पवित्र हुआ ब्राह्मण ही शुद्ध ब्राह्मण कहा जाता है।

त्रिसन्ध्यं यो जपेन्नित्यं गायत्रीं हायनं द्विजः।
तस्य पापं क्षयं याति जन्मकोटिसमुद्भवम्।।

पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, ४८।१९६

जो द्विज एक वर्ष तक प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल तीन समय गायत्री का जप करता है उसके करोड़ों जन्मों में किये गये पाप नष्ट हो जाते हैं।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादनुष्ठानादिकं तथा।
गायत्रीमात्रनिष्ठस्तु कृतकृत्यो भवेद् द्विजः।।

देवी भागवत, उत्तरार्ध, ११।१।८

ब्राह्मण दूसरा कोई अनुष्ठान आदि करे अथवा न करे किन्तु गायत्री का जप अवश्य करे। गायत्री मन्त्र में निष्ठा रखने वाला द्विज कृतकृत्य हो जाता है।

प्रणवव्याहृतिभ्याञ्च गायत्री पठिता यदि।
सर्वासु ब्रह्मविद्यासु भवेदाशु शुभप्रदा।।

यदि प्रणव (ॐ) तथा (भूः भुवः स्वः) के सहित गायत्री का पाठ किया जाय तो समस्त ब्रह्म विद्याओं में गायत्री ही सबसे शीघ्र शुभ फल देने वाली है।

यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां तु विकर्मस्था द्विजातय:।
तेषां तु पावनार्थाय सन्ध्या सृष्टा स्वयंभुवा ।।
या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधाभूत्वाप्रतिष्ठिता ।
सन्ध्या ह्युपासिता येन तेन विष्णुरुपासित: ।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति,६।९,१०

इस पृथिवी पर जो कर्मों में व्यस्त रहने वाले द्विज हैं, उन्हें पवित्र करने के लिये ही सृष्टिकर्ता स्वयम्भू ने सन्ध्या एवं गायत्री का विधान किया है। जो सन्ध्या है, वह गायत्री ही है और वह दो प्रकार से प्रतिष्ठित है। जो सन्ध्योपासन करता है, वह भगवान् विष्णु की ही उपासना करता है। सन्ध्या के द्विधा होने का तात्पर्य यह है कि सन्ध्योपासन प्रात:काल तथा सायंकाल दो बार किया जाता है। सन्ध्या को गायत्री इसलिये कहा गया है क्योंकि सन्ध्योपासन में प्रमुख रूप से गायत्री जप का ही विधान है।

यं यं पश्यति चक्षुर्भ्याम् यं यं स्पृशति पाणिना ।
यं यमाभाषते किञ्चित् तत्सर्वं पूतमेव च ।।

बृहत्पाराशर स्मृति,२।९७

गायत्री का जप करने वाला पुरुष नेत्रों से जिस जिस को देखता है, हाथों से जिस जिस का स्पर्श करता है और जिस जिस से कुछ भी बात करता है उन सबको पवित्र कर देता है।

सायं प्रातश्च य: सन्ध्यामुपास्ते शुद्धमानस: ।
जपन् हि पावनीम् देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।।
यावन्तश्च पृथिव्यां हि चीर्णवेदव्रता द्विजा: ।
अचीर्णव्रतवेदा वा विकर्मपथमाश्रिता: ।।
तेषां हि पावनार्थाय गायत्री नित्यमेव हि ।

अग्नि पुराण।

जो द्विज शुद्ध मन से सायंकाल एवं प्रातःकाल सन्ध्योपासन करता है तथा जो पवित्र करने वाली ज्ञान की माँ दिव्य गायत्री का जप करता है, वह अपने जीवन को सफल बनाता है। पृथिवी में जितने वेद का अनुष्ठान करने वाले,वेदानुसार आचरण करने वाले द्विज हैं तथा जो वेदव्रती नहीं हैं और जो विशेष रुप से कर्मों में ही रत रहते हैं, उन सभी को पवित्र करने के लिये गायत्री का नित्य जप अनिवार्य है।

एतदक्षरमेतांच जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्योर्वेदविद् विप्रो वेद पुण्येन युज्यते ।।

मनुस्मृति, २।७८

(एतत् अक्षरम्) इस अविनाशी परब्रह्म के वाचक ओ३म् तथा (व्याहृति पूर्विकाम् एताम् च सन्ध्योः जपन्) भूः, भुवः, स्वः इन महाव्याहृतियों के साथ गायत्री मन्त्र का दोनों सन्ध्याओं में जप करते हुये, (वेद विद् विप्रः वेद पुण्येन युज्यते) वेदज्ञ विप्र वेदाध्ययन के पुण्य से युक्त होता है।

जपनिष्ठो द्विजः श्रेष्ठोऽखिलयज्ञफलं लभेत् ।
सर्वेषामेव यज्ञानां जायतेऽसौ महाफलः ।।

तन्त्रसार, ३९

गायत्री जप में निष्ठा रखने वाला द्विज श्रेष्ठ यज्ञ के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है। समस्त यज्ञों में गायत्री जपयज्ञ महाफल को देने वाला है।

ओङ्कारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्तथैव च ।
चतुर्विंशत्यक्षरां च गायत्रीं प्रोच्चरेत्ततः ।।

एवं नित्यं जपं कुर्याद् ब्राह्मणो विप्रपुङ्गवः।
स समग्रं फलं प्राप्य सन्ध्यायाः सुखमेधते ।।

देवी भागवत,११।१६।१०५-१०६

पहले ओङ्कार का उच्चारण करके तत्पश्चात् भूः,भुवः,स्वः का उच्चारण करे और तदनन्तर चौबीस अक्षरों वाली ब्रह्मगायत्री का जप करे। जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इस प्रकार प्रतिदिन गायत्री का जप करता है, वह सन्ध्योपासन का समस्त फल प्राप्त कर सुख पूर्वक अपनी वृद्धि करता है।

प्रणवेन त्रिमात्रेण सार्द्धं जप्त्वा विशेषतः ।
पूताः सर्वे न सन्देहो जप्त्वा मां शिरसा सह ।।

पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, १७।२८५

ओङ्कार तथा तीन व्याहृतियों के सहित विशेष रूप से गायत्री शीर्ष के साथ जप करके सभी पवित्र हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः।
न हस्तपाद चलनं न देशान्तरसङ्गतम् ।।
न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः ।
केवलं तन्मनस्कस्य जपेनासाद्यते पदम् ।।

पद्मपुराण, पाताल खण्ड, ९९।४०,४१

धन, मित्र, बान्धवगण, हाथ तथा पैरों का संचालन, दूसरे देश में गमन, शरीर को कष्ट देना तथा तीर्थ स्थानों का आश्रय, ये सभी मनुष्य का उतना उपकार नहीं करते जितना कि तन्मनस्क अर्थात शान्त चित्त होकर केवल जप में मन लगाकर गयत्री मन्त्र का जप करने से होता है।

गायत्री से अभय एवं ग्रहों की शान्ति

प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।
ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।।

ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवा: शिवतरा: सदा।

महाभारत वनपर्व, २००।८३, ८५

जो सबको पवित्र करने वाली ज्ञानदायिनी गायत्री का जप करता है, उसके लिये द्युलोक में स्थित सूर्य आदि ग्रहों में से कोई भी ग्रह कष्टकारी नहीं होता, प्रत्युत वे गायत्री जप के प्रभाव से उसके लिये सदा सौम्य, सुखद एवं उत्तरोत्तर मङ्गलकारी होते जाते हैं।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
ये जपन्ति सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ।।

शङ्खस्मृति, १२।१

प्रणव तथा व्याहृतियों के साथ जो शिर सहित गायत्री का जप करते हैं उन्हें कभी कोई भय नहीं होता।

राक्षसाश्च पिशाचाश्च महासर्पाश्च भीषणा:।
जपितान्नोपसर्पन्ति दूरादेव प्रयान्ति ते ।।

हारीत स्मृति, ४।४६

भयङ्कर राक्षस, पिशाच तथा भीषण सर्प भी गायत्री का जप करने वालों के पास नहीं आते वरन् दूर से ही भाग जाते हैं।

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ।
तत्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ।।

महाभारत, भीष्म पर्व,४।१६

हे भरत कुल श्रेष्ठ! जो पुरुष समस्त गुणों वाली इस परम पवित्र गायत्री को यथार्थ रूप से जानता है, उसका इस लोक में कभी विनाश नहीं होता।

सर्वे नानुगतं चैनं दारुणा: पिशितानना: ।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति द्विजोत्तमम् ।।

महाभारत, वनपर्व,२००।८६

भयङ्कर और विशाल शरीर वाले समस्त क्रूरकर्मा मांसभक्षी राक्षस भी गायत्री जप परायण श्रेष्ठ द्विज पर आक्रमण नहीं करते।

शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम्।
जप्यं यद् ब्रह्मसमितं तद् भवान् वक्तुमर्हति ।।

महाभारत, अनुशासन पर्व, १५०।३

महाराज युधिष्ठिर ने महाप्राज्ञ भीष्म पितामह से निवेदन किया कि कृपया शान्ति, पुष्टि रक्षा, भय तथा शत्रु नाश आदि में समर्थ वेदमन्त्र का उपदेश करें।

इसके उत्तर में भीष्म पितामह ने गायत्री जप का जो महात्म्य बताया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि ऐसे पूजनीय महापुरुषों के वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकते।

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात्।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद् भयं तस्योपजायते ।।

महाभारत, अनुशासन पर्व, १५०।६९

गायत्री का जप करने वालों को न तो राजभय और न दुष्टों, पिशाचों अथवा राक्षसों से भय होता है। उन्हें अग्नि, जल, वायु, तथा सर्प आदि से भी कभी भय नहीं होता।

नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ।।
न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परां गतिम्।
ये श्रृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ।।

महाभारत अनुशासन पर्व, १५०।७१, ७२

जहाँ सावित्री (गायत्री मन्त्र) का पाठ होता है, वहाँ अग्नि काष्ठों को हानि नहीं पहुँचाती, बाल मृत्यु नहीं होती और वहाँ सर्प निवास नहीं करते। जो सावित्री गुण कीर्तन रूपी महद् ज्ञान का श्रवण करते हैं, उन्हें

दुःख प्राप्त नहीं होता और वे परम गति को प्राप्त करते हैं।

जपतां जुह्वतां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ।।
याथातथ्येन सिद्धस्य इतिहासं पुरातनम्।
पराशरमतं दिव्यं शक्राय कथितं पुरा।।
तदेतत्ते समाख्यातं तथ्यं ब्रह्मसनातनम्।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ।।

महाभारत अनुशासन पर्व, १५०।७४ से ७६

जप परायण, होमनिष्ठ तथा सदा सावधान चित्त ऋषियों का यह परम जप्य एवं गुप्त मन्त्र है। पूर्व काल में यह पराशर सम्मत पुरातन इतिहास यथार्थ रीति से देवराज इन्द्र के निकट वर्णित हुआ था; वही इतिहास पूर्ण रूप से तुम्हारे समीप कहा गया। यह (गायत्री) ब्रह्मस्वरुपा, सर्वभूतों का हृदय तथा सनातन श्रुति है।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ।।

मनुस्मृति, २।७९

जो द्विज एक मास तक बाहर एकान्त में प्रतिदिन एक सहस्रबार गायत्री का जप करता है, वह बड़े भारी पाप से भी उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे केंचुली से सर्प।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ।।

अग्नि पुराण २१५।४ मनु.२।८२

जो पुरुष बिना आलस्य के तीन वर्ष तक निरन्तर गायत्री का जप करता है, वह मृत्यु के पश्चात् पवन के समान होकर अर्थात् प्राण रूप होकर

अपने आत्मा से, आकाश के समान व्यापक परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी।।

मनु.२।११८

अपने मन एवं इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने वाला तथा केवल गायत्री मन्त्र के तत्व को जानने वाला विप्र उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो समस्त वेदों का ज्ञाता होने पर भी असंयमित इन्द्रियों वाला तथा सर्वभक्षी एवं सर्वविक्रयी है।

यह है संयम, सदाचार एवं गायत्री की महिमा।

गायत्र्युपासनाकरणादात्मशक्तिस्तु लभ्यते।
प्राप्यते क्रमशोऽजस्य सामीप्यं परमात्मनः।।

गायत्री की उपासना करने से मनुष्य आत्मशक्ति प्राप्त करता है तथा क्रमशः अजन्मा परमात्मा का सामीप्य प्राप्त कर लेता है।

तां देवीमुपतिष्ठन्ते ब्राह्मणा ये जितेन्द्रियाः।
सूर्यलोकं ते प्रयान्ति क्रमान्मुक्तिं च पार्थिव।।

पद्मपुराण

हे राजन्! जो ब्राह्मण जितेन्द्रिय होकर उस दिव्य गायत्री की उपासना करते हैं, वे सूर्य लोक को जाते हैं और क्रम से मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

गायत्रीजप्यनिरता ब्राह्मणा ब्रह्मचिन्तकाः।
सूर्योपस्थाननिरतास्तस्य सायुज्यभागिनः।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति १०।१७

जो ब्राह्मण नियमित रूप से गायत्री जप में रत रहते हैं तथा ब्रह्म का चिन्तन एवं सूर्योपस्थान करते हैं, वे परमात्मा के सायुज्य के भागी होते हैं, परमात्मा के साथ अपने आत्मा को संयुक्त करने में समर्थ हो जाते हैं।

सावित्र्याश्चैव माहात्म्यं ज्ञात्वा चैव यथार्थत: ।
तस्यां यदुक्तं चोपास्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति,९ ।४०

सावित्री मन्त्र के महात्म्य को यथार्थ रुप से जानकर तथा शास्त्र में वर्णित विधि के अनुसार उसकी उपासना करके जपकर्ता अवश्य ही ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ।

गायत्रीमेव यो ज्ञात्वा सम्यगर्चयते पुन: ।
इहामुत्र च पूज्योऽसौ ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।।

बृहत्पाराशर स्मृति,२ ।१५

जो पुरुष गायत्री को जानकर सम्यक् रुप से उसकी अर्चना करता है, वह इस लोक तथा परलोक में पूजनीय होता है और ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ।

दशसहस्रजप्येन निष्काम: पुरुषोत्तम: ।
विधिना नियतो ध्यायेत् प्राप्नोति परमं पदम् ।।

अग्निपुराण

हे पुरुषोत्तम ! निष्काम भाव से यथा विधि दश सहस्र गायत्री का जप नित्य करने से पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेता है ।

सप्रभं सत्यमानन्दं हृदये मण्डलेऽपि च ।
ध्यायन् जपेत्तदित्येतन्निष्कामो मुच्यतेऽचिरात् ।।

अग्निपुराण विश्वामित्र:

जो (हृदये अपि च मण्डले) हृदय में तथा सूर्य मण्डल में स्थित सत्य, आनन्दस्वरुप परम तेजस्वी ब्रह्म का ध्यान करता हुआ निष्काम भाव से गायत्री मन्त्र का जप करता है, वह संसार के समस्त बन्धनों से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।

उशन संहिता (३ ।५३।,पद्मपुराण, स्वर्ग खण्ड ५३ ।५७ तथा कूर्म

पुराण उत्तरार्ध १४।५७ में कहा गया है–

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां गायत्रीं वेदमातरम् ।
विज्ञायार्थं ब्रह्मचारी स याति परमां गतिम् ।।

जो ब्रह्मचारी वेदमाता गायत्री का प्रतिदिन अर्थज्ञान के साथ अध्ययन करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

गायत्रीं संस्मरेद् योगात् स याति ब्रह्मण: पदम् ।
गायत्रीजप्यनिरतो मोक्षोपायञ्च विन्दति ।।

बृहत् पाराशर स्मृत, ५।७८

योग में स्थित होकर जो गायत्री का स्मरण करता है वह ब्रह्म पद को प्राप्त करता है। गायत्री उपासना में रत पुरुष मोक्ष का भागी होता है।

गायत्रीं यो जपेन्नित्यं प्राणायामसमन्विताम् ।
प्रत्यक्षरामरैर्युक्तां स्वाङ्गे विन्यस्यतामपि ।।
सर्वपापाद विनिर्मुक्तो जन्मकोटिकृतादपि ।
ब्रह्मण: पदवीं प्राप्य स गच्छेत्प्रकृते: परम् ।।

पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड,४८।१५५,१५६

जो द्विज गायत्री के प्रत्येक अक्षर का उसके देवता सहित अपने शरीर में न्यास करके प्रतिदिन प्राणायाम पूर्वक गायत्री जप करता है,वह करोड़ों जन्मों में किये हुये समस्त पापों से छुटकारा पा जाता है तथा ब्रह्म के परम पद को प्राप्त करके प्रकृति से परे चला जाता है अर्थात् जन्म,मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

गायत्री मन्त्रार्थ

विश्वामित्र: ऋषि: । सविता देवता ।

निचृद् गायत्री छन्द: । षड्ज: स्वर:

(ओ३म्) भूर्भुव: स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो न: प्रचोदयात् ।।

यजुर्वेद ३६ । ३ तथा ३ । ३५, २२ । ९, ३० । २

ऋग् ३ । ६२ । १०, साम उत्तरा, १३ । ४ । १, क्र.सं. १४६२

यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद में आया है तथा अथर्ववेद के मन्त्र सं. १९ ।७१ ।१, जो इस पुस्तक के प्रारम्भ में ही दिया गया है, में इसकी महिमा का वर्णन किया गया है । यजुर्वेद में तो यह श्रेष्ठ मन्त्र चार बार आया है किन्तु तीनों महाव्याहृतियों सहित सम्पूर्ण मन्त्र केवल यजुर्वेद, अध्याय ३६ के मन्त्र सं. ३ में आया है ।

मन्त्र के प्रथम पाद में एक अक्षर कम होने के कारण इसका छन्द निचृद गायत्री कहा जाता है।

मन्त्र का विस्तृत अर्थ आगे दिया जायेगा किन्तु नित्य उपासना के लिये इसका सरल अर्थ यहाँ दिया जा रहा है।

(ओ३म्) हे अन्तर्यामी,हमारे हृदय, मन, प्राण तथा आत्मा में वसने वाले, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् परमपिता परमात्मा! (भू:=सत्) हे सर्वाधार ! (आपकी ही एकमात्र और अनन्त सत्ता पर यह समस्त ब्रह्माण्ड आश्रित है) (भुव:=चित्) हे ज्ञान स्वरुप, सर्वज्ञ ! (हमारे समस्त अवगुणों, दु:खों, कष्टों तथा संकटों को जानने वाले और उन्हें दूर करके हमें सुख देने वाले), (स्व:=सुख) सुखस्वरुप, परम आनन्द को देने वाले, (भूर्भुव: स्व:) हे सच्चिदानन्द ! (तत् सवितु: देवस्य) समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले, उसका पालन पोषण करने वाले तथा उसे प्रेरणा देने वाले उस सविता देव के, परब्रह्म के, (वरेण्यं भर्ग:) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ, कल्याणकारी पाप नाशक तेज का हम (धीमहि) ध्यान करते हैं, उपासना

करते हैं तथा उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को अपने अन्त:करण में धारण करते हैं। (धियो यो न:) जो परब्रह्म हमारी बुद्धि, वाणी तथा कर्मों को (प्रचोदयात्) कल्याणकारी मार्ग पर प्रेरित करे। अथवा, हे प्रभो! हमारी बुद्धि,वाणी तथा कर्मों को कल्याणकारी मार्ग पर प्रेरित कीजिये।

हे प्रभो ! हम आपके शरणागत हैं, हमारी रक्षा कीजिये।

जप करते समय यही अर्थ अपने मन, बुद्धि तथा हृदय में स्थिर रखना चाहिये तथा जप के अन्त में भगवान् को अपना अत्यन्त प्रेम करने वाला पिता समझ कर उससे विश्वास पूर्वक अपनी मनोकामना का निवेदन करना चाहिये। यह मेरा अपना अनुभव है कि श्रद्धा, भक्ति,एवं विश्वास पूर्वक इस प्रकार की गयी उचित प्रार्थना निश्चय ही स्वीकार होती है तथा सब प्रकार का संकट दूर होता है और समस्याओं से संघर्ष करने के लिये अपूर्व बल प्राप्त होता है। यदि निष्काम उपासना करनी हो तो अन्त में इस प्रकार की प्रार्थना की कोई आवश्यकता नहीं है।

गायत्री मन्त्र का विभिन्न विद्वानों द्वारा अर्थ

१. महर्षि अगस्त्य—

यो देव: सविताऽस्माकं धियो धर्मादिगोचरा: ।
प्रेरयेत्तस्य यद् भर्गस्तं वरेण्यमुपास्महे ।।

जो सविता देव हमारी बुद्धि को धर्मादि कार्यों में प्रेरित करता है, उसका जो वरेण्य तेज है, उसकी हम उपासना करते हैं अर्थात् हमारी बुद्धि को धर्म आदि श्रेष्ठ कार्यों की ओर प्रेरित करने वाले सविता देव के वरण करने योग्य तेज की हम उपासना करते हैं।

२. पाराशर मुनि—

देवस्य सवितुर्भर्गो वरणीयञ्च धीमहि ।
तदस्माकं धियो यस्तु ब्रह्मत्वे च प्रचोदयात् ।।

हम उस सविता देव के वरणीय तेज का ध्यान करते हैं (य: तु) जो

(सविता) हमारी बुद्धियों को ब्रह्मत्व की ओर प्रेरित करे अथवा करता है।

३. स्वामी दयानन्द जी ने अपने ऋग्वेद भाष्य में गायत्री मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार लिखा है।

हम सब लोग (यः नः धियः) जो हम लोगों की बुद्धियों को (प्रचोदयात्) उत्तम गुण, कर्म और स्वभावों में प्रेरित करे, उस (सवितुः) सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न करने वाले और सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त स्वामी (देवस्य) तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्य के दाता, प्रकाशमान, सबके प्रकाश करने वाले, सर्वत्र व्यापक, अन्तर्यामी के (तत् वरेण्यम्) उस सबसे उत्तम, प्राप्त होने योग्य (भर्गः) पापरुप दुःखों के मूल को नष्ट करने वाले प्रभाव को (धीमहि) धारण करें।

'पञ्चमहायज्ञ विधिः' में उन्होंने इसका अर्थ निम्न प्रकार लिखा है-

(सवितुः) सुनोति सूयते सुवति वोत्पादयति सृजति सकलं जगत्, स सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्य (वरेण्यम्) यद्वरं वर्तुमर्हमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम् (भर्गः) यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद्भर्गः।(देवस्य) यो दीव्यति प्रकाशयति खलु आनन्दयति सर्वं विश्वं स देवः, तस्य देवस्य (धीमहि) तमेव परमात्मानं वयं नित्यमुपासीमहि। कस्मै प्रयोजनाय (यः) परमेश्वरः (नः) अस्माकं (धियो) धारणावतीर्बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयेत्।

(सवितुः) जो सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा और ऐश्वर्य का देने वाला है, (देवस्य) जो सब के आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है, उसका जो (वरेण्यम्) अत्यन्त ग्रहण करने योग्य, (भर्गः) शुद्ध विज्ञानस्वरुप है, (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। किस प्रयोजन के लिये ? (यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है, वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कर्मों से अलग करके सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करे।

उनके द्वारा सत्यार्थ प्रकाश में इसका अर्थ निम्न प्रकार किया गया है–

सवितु:'य: सुनोत्युत्पादयति सर्व जगत् स सविता तस्य' जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है (देवस्य) 'यो दीव्यति दीव्यते वा स देव:' जो सर्वसुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं, उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) 'वर्तुमर्हम्'स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ (भर्ग:) 'शुद्धस्वरूपं' शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उस परमात्मा के स्वरुप को हम लोग (धीमहि) 'धरेमहि' धारण करें । किस प्रयोजन के लिये कि (य:) 'जगदीश्वर:' जो सविता देव परमात्मा (न:)'अस्माकम्' हमारी (धिय:)'बुद्धी:' बुद्धियों को (प्रचोदयात्) 'प्रेरयेत्' प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ा कर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

जो सब समर्थों में समर्थ सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्तस्वभाव वाला, कृपासागर,ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा, जन्ममरणादि क्लेशरहित, आकाररहित, सब के घट-घट का जानने वाला, सब का धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरुप है उसी को हम धारण करें । इस प्रयोजन के लिये कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामी स्वरूप हमको दुष्टाचार तथा अधर्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार सत्य मार्ग में चलावे, उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । वही हमारा पिता राजा न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है ।

यहाँ भर्ग: का अर्थ परमात्मा का चेतन शुद्धस्वरुप किया गया है । इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि शब्दों में बहुत अधिक अन्तर है, फिर भी इस अर्थ में और स्वामी शंकराचार्य जी द्वारा किये गये अर्थ में

कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि उन्होंने भी भर्ग का अर्थ अविद्या को नष्ट करने वाला ज्ञानस्वरूप मानते हुये स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप ब्रह्म का ही ध्यान करने की बात लिखी है।

४. श्री शंकराचार्य जी—

तत्र शुद्ध गायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधिका। धियो यो नः प्रचोदयादिति नोऽस्माकं धियो बुद्धयः, प्रचोदयात् प्रेरयेदिति सर्वबुद्धि संज्ञान्तःकरण प्रकाशक सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मेत्युच्यते। यस्य प्रचोदयात् शब्दनिर्दिष्टस्यात्मनः स्वरूपभूतं परब्रह्म तत् सवितुरिति आदि पदै र्निर्दिश्यते।

तत्र ओम् तत्सदितिर्निर्देशो ब्रह्मणा त्रिविधः स्मृतः इति तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतःसिद्धं परं ब्रह्मोच्यते। सवितुरिति सृष्टिस्थिति प्रलय लक्षणकस्य सर्व प्रपंचकस्य समस्तद्वैत विभ्रमस्याधिष्ठान लक्ष्यते,वरेण्यमिति सर्ववरणीयं निरतिशया नन्दरूपम्। भर्ग इत्यविद्यादि दोष भर्जनात्मक ज्ञानैकविषयत्व - म्। देवस्येति सर्व द्योतनात्मकाखंडचिदेकरसम्। सवितुर्देवस्ये - त्यत्रषष्ठ्तयर्थो राहो शिरोवदौपचारिक बुद्ध्यादि सर्व दृश्य साक्षिलक्षणं यन्मे स्वरूपं तत्सर्वाधिष्ठानभूतं परमानन्द निरस्तसमस्तानर्थ रूपं स्वप्रकाशचिदात्मकं ब्रह्मेत्येवं धीमहि ध्यायेम। सर्वात्मक ब्रह्मबोधकोऽयं गायत्री मन्त्रः।

शुद्ध गायत्री जीवात्मा और ब्रह्म की एकता का सूचक है 'धियो यो नः प्रचोदयात्' अर्थात् हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। जो अन्तःकरण का प्रकाशक तथा सर्वव्यापक है,उसे प्रत्यगात्मा कहा जाता है।

जो 'प्रचोदयात्' शब्द से निर्दिष्ट है, उस आत्मास्वरूपभूत परब्रह्म का निर्देश 'तत् सवितुः' इस पद से किया गया है।

'ओम् तत् सत्' इन तीन शब्दों से ब्रह्म का स्मरण किया जाता है,

अत:यहाँ तत् शब्द से प्रत्यग्भूत स्वत: सिद्ध परब्रह्म का उल्लेख किया गया है। सविता सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय लक्षण वाले समस्त प्रपञ्च के अधिष्ठान हैं अर्थात् सविता ही जगत्सृष्टा, पालन कर्ता तथा प्रलय कर्ता हैं। 'वरेण्यम्' सर्ववरणीय तथा निरतिशय आनन्द रूप है। 'भर्ग' अविद्या रूपी दोष को नष्ट करने वाला ज्ञान रूप है। देव का अर्थ है सबका प्रकाशक एकरस अखण्ड आत्मा। सवितु: देवस्य में षष्ठी 'राहो: शिरो' की भाँति औपचारिक है। (तात्पर्य यह है कि सविता और सविता के भर्ग अर्थात् ज्ञानस्वरुप में कोई अन्तर नहीं है) अत: सब पदार्थों का साक्षी रुप जो मेरा स्वरूप है, वह सबके अधिष्ठान रूप परमानन्द, समस्त अनर्थरहित, स्वयं प्रकाश चैतन्य रूपब्रह्म है, इस प्रकार ध्यान करते हैं।

यह गायत्री मन्त्र सर्वात्मक ब्रह्म का बोध कराने वाला है।

'सवितु: भर्ग:' का अर्थ 'सविता का तेज'होने के साथ साथ, सविता अर्थात् परब्रह्म का तेजस्वरुप, प्रकाशस्वरुप अथवा ज्योति: स्वरुप भी है। वास्तव में ब्रह्म का स्वरुप तो केवल प्रकाशस्वरुप, सुखस्वरूप अथवा परमानन्द स्वरूप ही है, जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है—'स्व: यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:'। आनन्द एवं प्रकाश वास्तव में एक ही सत्य के दो रूप हैं और लगभग पर्यायवाची हैं। अत: स्पष्ट है कि गायत्री मन्त्र में सविता के पापनाशक,ज्योतिर्मय स्वरुप का ध्यान करने की बात कही गयी है। वास्तव में सविता के तेज और उसके ज्योतिर्मय स्वरुप में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि तेज, प्रकाश, ज्योति एवं आनन्द ही तो उसका स्वरुप है।

इसीलिये स्वामी शंकराचार्य जी ने गायत्री मन्त्र के अर्थ में परब्रह्म के चिन्तन का ही उल्लेख किया है तथा स्वामी दयानन्द जी ने भी 'भर्ग:' का अर्थ 'परमात्मा का स्वरुप' किया है।

५. श्री पण्डित दामोदर सातवलेकर—

हम (सवितु: देवस्य) सविता देव के (तत् वरेण्यं भर्ग:) उस श्रेष्ठ,वरण करने योग्य, तेज का (धीमहि) ध्यान क ते हैं,(य: न: धिय:

प्रचोदयात्) जो सविता हमारी बुद्धियों को उत्तम मार्ग में प्रेरित करे।

६. सामवेद के भाष्यकार पं० तुलसीराम—

हम (सवितुः देवस्य) उस सर्वोत्पादक सर्वपिता प्रकाशमान ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर के (तत्) उस अनिर्वचनीय (वरेण्यम् भर्गः) भजनीय तेज का (धीमहि) ध्यान करते हैं, (यः) जो परमेश्वर (नः धियः प्रचोदयात्) हमारी बुद्धियों को अत्यन्त प्रेरित करे।

इसके आगे उन्होंने दो अन्य अर्थ श्री सायणाचार्य जी के भाष्य, जो आगे दिया जायेगा के अनुसार ही लिखे हैं।

७. गोपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री क्षेमकरण दास त्रिवेदी—

(तत्) उस (देवस्य सवितुः) प्रकाशमय, सबके चलाने वाले जगदीश्वर के (वरेण्यम्) अति उत्तम (भर्गः) ज्योति को (धीमहि) हम धारण करें (यः नः धियः प्रचोदयात्) जो परमेश्वर हमारी बुद्धियों वा कर्मों को आगे बढ़ावे।

जिन विद्वानों ने यः को लिङ्गव्यत्यय मानते हुये यः के स्थान पर यत् मानकर अर्थ किया है, उनमें से कतिपय विद्वानों द्वारा किये गये अर्थ आगे दिये जा रहे हैं। इन विद्वानों में अनेक ऋषियों के नाम सम्मिलित हैं किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये अर्थ वास्तव में इन ऋषियों द्वारा ही किये गये हैं।

इस प्रकार से किये गये अर्थ में सविता के स्थान पर सविता के भर्ग से बुद्धि को श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रेरित करने की प्रार्थना की गयी है, जो उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि वास्तव में सविता का ही अर्थ है प्रेरणा देने वाला। भर्ग का सीधा अर्थ 'प्रेरणा देने वाला' नहीं है। साथ ही यः को यत् मानकर अर्थ करने का कोई औचित्य नहीं है।

१. भरद्वाज मुनि—

तदिति द्वितीयैकवचनम्। अनेनाखिल जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणभूतमुपनिषदि कथ्यमानं निरुपमं तेजः सूर्यमण्डलाभिध्येयं परब्रह्माभिधीयते।

'तत्' यह द्वितीया का एकवचन है। इससे सकल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कारणभूत, उपनिषदों आदि में वर्णित अनुपम तेज से युक्त (सूर्यमण्डलान्तर्गत अभिध्येयं) सूर्य मण्डल के अन्तर्गत ध्यान करने योग्य उस परब्रह्म की ओर संकेत किया गया है। (जिसके लिये यजुर्वेद में कहा गया है 'योऽसावादित्ये पुरुष:' जो वह आदित्य में पुरुष है।)

सवितुरिति षष्ठ्येकवचनम्। षूञ् प्राणि प्रसवे इत्यस्य धातोरेतद्रूपम्। सर्वस्य भूतजातस्य प्रसवितुरित्यर्थ:॥

'सवितु:' यह षष्ठी का एक वचन है। 'समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने' के अर्थ वाली षूञ् धातु का यह रूप है। इसका अर्थ है, समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाला।

वरेण्यं वरणीयं प्रार्थनीयं नियमादिभिरपगत कल्मषै: सततं ध्येयमित्यर्थ:।

'वरेण्यं' का अर्थ है वरणीय, प्रार्थनीय अर्थात् यम नियमादि का भली प्रकार पालन करने से नष्ट हो गये हैं पाप जिनके, ऐसे निष्पाप महापुरुषों द्वारा सतत् ध्यान किये जाने योग्य।

'भर्ग:' भञ्जो आमर्दने, 'भृजि' भर्जने इत्येतयोर्धात्वोर्भजतां पाप भर्जन हेतु भूतमित्यर्थ:। अथवा भ्राज दीप्तावित्यस्य धातो: भर्ग: तेज इत्यर्थ:।

'भर्ग' शब्द आमर्दन अर्थ वाची 'भञ्जो' तथा भर्जन अर्थ वाची 'भृजि' धातुओं से बनता है। अत: इसका अर्थ है, भजन करने वालों के पापों का नाश करने वाला, अथवा 'भ्राज दीप्तौ' धातु से सिद्ध करने पर इसका अर्थ होता है, पापों को नाश करने वाला तेज।

देवस्य—वृष्टिदानादिगुणयुक्तस्य निरतिशयस्येत्यर्थ: दीप्यते प्रकाशकत्वात्।

वृष्टि, दान आदि गुणों से युक्त निरतिशय अर्थात् सर्वोत्कृष्ट

देदीप्यमान एवं समस्त संसार को प्रकाशित करने वाले सविता देव के।

धीमहि—'ध्यै' चिन्तायाम् निगम निरुक्त विद्यारूपेण चक्षुषा योऽसावादित्येहिरण्यमय:पुरुष:सोहमिति चिन्तयामि।

'धीमहि'—चिन्तन अथवा ध्यान अर्थ वाली 'ध्यै' धातु से यह शब्द सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य है कि निगम अर्थात् वेद विद्या रूपी ज्ञान चक्षु से हम यह ध्यान करते हैं, 'योऽसावादित्ये हिरण्यमय: पुरुष: सोहमिति' कि वह जो आदित्य में सुवर्णमय पुरुष है, वही मैं हूँ।

(वेद में सोहम् शब्द का प्रयोग नहीं है प्रत्युत यह कहा गया है 'योऽसावादित्ये पुरुष: सोऽसावहम्' यजु. ४०। १६। जो वह आदित्य में पुरुष है, वही प्राणों में रहने वाला मैं हूँ।

धिय: इति द्वितीयाया: बहुवचनम्।

'धिय:' यह द्वितीया का बहुवचन है।

य इति छांन्दसत्वाद् लिंगव्यत्यय:। यत्तेज: सवितुर्देवस्य-वरेण्यमस्माभि: अभिध्यातं भर्गो जपतां पापभञ्जनहेतुभूतं तत्तेज: धीमहि उपास्महे।

यत् के स्थान पर य: रूप में वैदिक लिङ्गव्यत्यय है अर्थात् नपुंसक लिङ्ग यत् के स्थान पर पुल्लिङ्ग य: का प्रयोग किया गया है।

सविता देव का (यत्) जो वरणीय, सबके द्वारा संभजनीय एवं श्रेष्ठ भर्ग अर्थात् जप करने वालों के पापों का नाश करने वाला तेज है तथा जो तेज हमारी बुद्धियों को श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करता है, (तत् तेज: धीमहि उपास्महे) उस तेज का हम ध्यान करते हैं, उपासना करते हैं।

न: अस्माकं।

इसका अर्थ है हम सब की।

प्रचोदयात्—यत्तेजो नोऽस्माकं धियो बुद्धी: श्रेयस्करेषु कर्मसु प्रचोदयात् प्रेरयेदित्यर्थ:।

इसका अर्थ है, जो तेज हमारी बुद्धियों को श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रेरित करे।

२. योगि याज्ञवल्क्य (बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति) में कहा गया है–

तत्–

तत्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्य: सततं बुधै: ।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्द: उदितो भवेत ।।

विद्वानों द्वारा तत् शब्द से यत् का बोध किया जाना चाहिये तथा यत् शब्द के प्रयोग से तत् शब्द का बोध किया जाना चाहिये ।

सवितु:–

सविता सर्वभूतानां सर्वभावांश्च सूयते ।
सवनात्प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते ।।

सविता, समस्त भूतों तथा भावों को उत्पन्न करने वाला है । उत्पन्न करने तथा प्रेरणा देने के कारण उसे सविता कहते हैं ।

वरेण्यं–

वरणीयञ्च यो नित्यं संसारभयभीरुभि: ।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभि: ।।

संसार के भय से डरे हुये तथा मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों द्वारा जो नित्य वन्दनीय है तथा जो आदित्य में स्थित है, उसे भर्ग कहते हैं ।

भर्गो–

भ्रस्ज पाके भवेद्धातुर्यस्मात्पाचयते ह्यसौ ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगदन्ते हरित्यपि ।।

पकाने के अर्थ वाली 'भ्रस्ज' धातु से भर्ग शब्द सिद्ध होता है । जो सबको पकाने वाला, प्रकाशित करने वाला तथा अन्त में हरण करने अर्थात् नाश करने वाला है, उसे भर्ग कहते हैं । सविता का तेज ही समस्त प्राणियों,वनस्पतियों तथा ओषधियों आदि को पकाता है, उन्हें आभ्यान्तर एवं बाह्य प्रकाश से प्रकाशित करता है और अन्त में प्रलय काल में सबका

हरण करता है, उन्हें अपने अन्दर विलीन कर लेता है।

कालाग्नि रुपमास्थाय सप्तार्चि: सप्तरश्मिभि: ।
भ्राजते तत्स्वरुपेण तस्माद् भर्ग: स उच्यते ।।

अग्नि की सात ज्वालाओं तथा प्रकाश की सात रंगों की किरणों से युक्त जो अपने स्वरूप से देदीप्यमान रहता है और अन्त में जो कालाग्नि का रूप धारण करता है, उसे भर्ग कहा जाता है।

भेति भ्राजयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजा: ।
ग इत्यागच्छतेऽजस्रं भरगो भर्ग उच्यते ।।

'भ' से समस्त लोकों को प्रकाशित करता है, 'र' से प्रजाओं का रञ्जन करता है, समस्त प्राणियों को सुख देता है तथा 'ग' से गति का अजस्र स्रोत उत्पन्न करता है। इन तीन प्रकार के कार्यों को करने वाला 'भरग' अथवा भर्ग कहलाता है।

देवस्य–

दीव्यते क्रीडते यस्माद्रुच्यते शोभते दिवि ।
तस्माद् देव इति प्रोक्त: स्तूयते सर्व देवतै: ।।

स्वयं प्रकाशमान होने, सबको प्रकाशित करने, क्रीड़ा करने तथा द्युलोक में शोभायमान होने के कारण देव कहा जाता है।

धीमहि–

देवस्य सवितुर्यच्च भर्गमन्तर्गतं विभुम् ।
ब्रह्मवादिन एवाहुर्वरेण्यं तच्च धीमहि ।।

सविता देव का जो सर्वव्यापक भर्ग है, उसे ही ब्रह्म ज्ञानी वरेण्य कहते हैं तथा उसी का ध्यान करते हैं।

धियो यो नः प्रचोदयात्–

चिन्तयामो वयम्भर्गो धियो यो नः प्रचोदयात् ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तिं पुनः पुनः ।।

हम उस भर्ग का चिन्तन करते हैं जो हमारी बुद्धि को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में पुनः पुनः प्रेरित करे।

३. आग्नेय निर्वाण तन्त्र में दिया गया अर्थ–

यो भर्गः सर्वसाक्षी च मनोबुद्धीन्द्रियाणि नः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु प्रेरयेद्विनियोजयेत् ।।

जो भर्ग सर्वसाक्षी है तथा हमारे मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की ओर प्रेरित करता है तथा उनमें संयुक्त करता है, उसका हम ध्यान करते हैं।

४. आचार्य रावण–

तत् तस्य भर्गस्तेजःधीमहि ध्यायेम चिन्तयाम अत्र यद्यपि तत् इति पदं भर्गो विशेषणं नास्ति तथापि तच्छब्देन प्रयोगेनेव यच्छब्द प्रयोग उपलभ्यते।

हम उसके तेज का ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं। यद्यपि यहाँ 'तत्' शब्द भर्ग का विशेषण नहीं है, फिर भी तत् के प्रयोग से यत् का प्रयोग उपलब्ध होता है।

तस्य कस्य ? सवितुः सर्व भावानां प्रसावितुः । पुनः किं भूतस्य 'देवस्य' दीप्तिक्रीडादि युक्तस्य तं कं यो भर्गो नोऽस्माकं धियो बुद्धिः प्रचोदयात् ।

उसके, किसके ? समस्त भावों को उत्पन्न करने वाले सविता के। फिर वह सविता कैसा है ? दीप्ति एवं क्रीड़ादि से युक्त सविता के तेज का ध्यान करते हैं, वह तेज कैसा है ? जो तेज हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।

कुछ विद्वानों ने दोनों प्रकार का अर्थ किया है, जिसके कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं।

१. श्री सायणाचार्य– (ऋग्वेद एवं सामवेद के भाष्य में)

यः सविता देवः नः अस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धीः प्रचोदयात् तत् तस्य देवस्य द्योतमानस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य वरेण्यं सर्वैः उपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं भर्गः अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनात् भर्गः स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि वयं ध्यायामः।

जो सविता देव हमारे कर्मों को तथा धर्मादि विषयक बुद्धियों को प्रेरित करता है, (तत् तस्य) उस सविता देव के, सर्वान्तर्यामी रूप से प्रेरणा देने वाले तथा समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के, (वरेण्यं भर्गः) सबके द्वारा उपास्य तथा जानने योग्य होने के कारण संभजनीय एवं अविद्या तथा उससे उत्पन्न कार्यों को नष्ट करने वाले स्वयं ज्योतिस्वरुप परब्रह्मात्मक तेज का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं।

२. यद्वा, तत् इति भर्गोविशेषणम् । सवितुः देवस्य तत्तादृशं भर्गो धीमहि । किं तदित्यपेक्षायामाह । यः इति लिङ्गव्यत्ययः । यद्भर्गो धियः प्रचोदयात्, तत् ध्यायेमेतिसमन्वयः ।

अथवा, तत् भर्ग का विशेषण है तथा यः लिङ्ग व्यत्यय है, अर्थात् यः को यत् मानना चाहिये। ऐसा करने पर मन्त्र का अर्थ होगा–

हम सविता देव के उस तेज का ध्यान करते हैं, (यत् भर्गः) जों तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे।

३. यद्वा, यः सविता सूर्यो धियः कर्माणि प्रचोदयात् प्रेरयति तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य तत्सर्वदृश्यमानतया प्रसिद्धं वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं भर्गः

पापानां तापकं तेजोमण्डलं धीमहि ध्येयतया मनसा धारयेम।

३. अथवा, जो सविता अर्थात् सूर्य हमारी बुद्धियों एवं कर्मों को प्रेरित करता है, उस सविता के अर्थात् सब को प्रेरणा देने वाले प्रकाशमान सूर्य के सबके लिये दर्शनीय प्रसिद्ध (वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं भर्गः पापानां तापकं तेजोमण्डलं) सबके द्वारा भजनीय तथा पापों का नाश करने वाले तेजोमण्डल का (धीमहि ध्येयतया मनसा धारयेम) ध्यान करते हैं।

४. यद्वा, भर्गः शब्देनान्नमभिधीयते। यः सविता देवो धियः प्रचोदयति तस्य प्रसादाद्भर्गोऽन्नादिलक्षणं फलं धीमहि धारयामः। तस्याधारभूता भवेमेत्यर्थः भर्गः शब्दस्यान्नपरत्वे धीशब्दस्य कर्मपरत्वे चाथर्वणं वेदांश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः। कर्माणि धियस्तदु ते प्रब्रवीमि प्रचोदयंत्सविता याभिरेति।

४. अथवा, भर्ग शब्द का अर्थ अन्न है तथा धी का अर्थ कर्म है, जैसा कि गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है 'वेद छन्द हैं, विद्वान् लोग सविता देव के वरेण्य भर्ग को अन्न कहते हैं। धियः कर्म हैं तथा सविता उनको प्रेरित करता है।' अतः मन्त्र का अर्थ है–

जो सविता देव हमारे कर्मों को प्रेरित करता है, उसकी कृपा से हम (तद् भर्गः) अन्नादि लक्षण वाले फल को (धीमहि धारयामः) धारण करते हैं।

यहाँ 'भ्रस्ज पाके' धातु से भर्ग शब्द सिद्ध किया गया है।

२. श्री उवट–(यजुर्वेद ३।३५ के भाष्य में किया गया अर्थ।)

(यः सविता नोऽस्माकम् धियः) जो सविता देव हमारी बुद्धि, वाणी तथा कर्मों को (प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति) श्रेष्ठ प्रकार से अत्यन्त प्रेरित करता है, (तस्य सवितुः संबन्धि वीर्यं तेजो वा) उस सविता के वीर्य अथवा तेज का हम (धीमहि ध्यायामः चिन्तयामः) ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं। 'ध्यै चिन्तायाम्'।

वीर्यं वै भर्गः। शतपथ, ५। ४। ५। १। तेन हि पापं भृजति दहति। भृजी भर्जने। भर्ग वीर्य है,उस से सभी पाप दग्ध हो जाते हैं,भस्म हो जाते हैं।

अथवा, भर्गस्तेजोवचनः। भर्ग तेज है।

धी शब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वा वाग्वचनश्च। बुद्धीः कर्माणि वा वाचो वा।

धीः का अर्थ है बुद्धि, कर्म तथा वाणी।

अथवा, (वाक्यभेदेन योजना) तत्सितुर्वरणीयं वीर्यं तेजो वा देवस्य ध्यायामः। यश्च बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयति अस्माकं तं च ध्यायामः स च सवितैव भवति।

हम उस सवित्र देव के वरणीय तेज का ध्यान करते हैं। जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है, हम उसका ध्यान करते हैं, वह सविता ही है।

अथवा, लिङ्गव्यत्यय योजना से यः को यत् मानकर अर्थ है–
तत्सवितुर्वरणीयं भर्गो देवस्य ध्यायामः यद्भर्गः अस्माकं धियो प्रेरयति।

हम सविता देव के (तत् वरेण्यं भर्गः) उस वरणीय तेज का ध्यान करते हैं, (यत् भर्गः) जो तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है।

३. श्री महीधर–(यजुर्वेद के भाष्य में किया गया अर्थ) –

तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो .....वा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जन समर्थं ...... तेजः वयं धीमहि ध्यायामः। ..... तस्य कस्य। यः सविता नोऽस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठानाय।

हम उस प्रकाशमान तथा सबको अन्तर्यामी रूप से प्रेरणा देने वाले सविता देव के वरणीय, सबके द्वारा प्रार्थनीय (भर्गः) तथा समस्त पापों का नाश करने में समर्थ वीर्य अथवा तेज का ध्यान करते हैं, जो

सविता देव हमारी बुद्धियों तथा कर्मों को प्रकर्ष रूप से श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रेरित करता है।

अथवा,(वाक्य भेदेन योजना) सवितुर्देवस्य तत् वरेण्यम् भर्गोध्यायाम: यश्च नो बुद्धी: प्रेरयति तं च ध्यायाम:,स च सवितैव।

हम सविता देव के उस वरणीय तेज का ध्यान करते हैं। जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है, हम उसका ध्यान करते हैं, वह सविता ही है।

अथवा, लिङ्गव्यत्ययेन योजना।

सवितुर्देवस्य तत् भर्गो धीमहि। यो यत् भर्गो नो बुद्धी: प्रेरयति।

हम सविता देव के उस वरणीय तेज का ध्यान करते हैं, जो तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है।

४. ऋग्वेद के भाष्यकार श्री माधवाचार्य जी–

य: सविता देवो नोऽस्माकं धिय: कर्माणि धर्मादिविषया बुद्धी: वा प्रचोदयात् प्रेरयति तत्तस्य देवस्य सवितु: सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्त्रष्टु: परमेश्वरस्य वरेण्यं सर्वै: उपास्यतया ज्ञेयतया च सम्भजनीयं भर्गोऽविद्यातत्कार्य्ययोर्भर्जनाद्भर्ग: स्वयंज्योति: परब्रह्मात्मकं तेजो धीमहि वयं ध्यायेम इत्यर्थ:।।

जो सविता देव हमारे कर्मों अथवा धर्मादि विषयक बुद्धियों को प्रेरणा देता है, (तत्तस्य देवस्य सवितु: सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत् सृष्टु: परमेश्वरस्य) उस सविता देव, जो सर्वान्तर्यामी रूप से सबका प्रेरक है तथा समस्त सृष्टि का परमेश्वर है, के (वरेण्यं सर्वै: उपास्यतया ज्ञेयतया च सम्भजनीयं) समस्त जगत् के द्वारा उपास्य तथा ज्ञेय होने के कारण वरण करने तथा भजन करने योग्य (भर्ग: अविद्या तत् कार्ययो: भर्जनाद् भर्ग: स्वयं ज्योति: परब्रह्मात्मकं तेज:) भर्ग अर्थात अविद्या तथा उसके

कार्यों को भस्म करने वाले स्वयं प्रकाशमान परब्रह्मात्मक तेज का (धीमहि वयं ध्यायेम इत्यर्थ:) हम ध्यान करें, अथवा करते हैं।

श्री माधवाचार्य ने भी अन्य तीन प्रकार के अर्थ श्री सायण तथा महीधर आदि के अनुसार ही किये हैं।

५. श्री वरदराजाचार्य–

१. वरेण्यम् वृञ् संभक्तौ एण्य प्रत्यय: सर्वेषां सम्भजनीयम्।

भजन के अर्थ वाली वृञ् धातु में एण्य प्रत्यय लगाकर वरेण्य शब्द सिद्ध होता है। अत: इसका अर्थ है भजनीय अर्थात् भजन एवं चिन्तन किये जाने के योग्य।

भर्गस्तेज: भञ्जनाद् भर्ग प्रकाशप्रदानेन जगतो बाह्याभ्यन्तर-तमो भञ्जकत्वात्भर्जनाद्वा कालात्मकतया सकल कर्म फल पाकहेतुत्वाद् भरणाद्वा वृष्टिप्रदानेन भूतानां भरण हेतुत्वात्।

भर्ग तेज है। समस्त पापों एवं दु:खों का भंजन करने, प्रकाश देकर समस्त संसार के बाह्य एवं आभ्यन्तर अन्धकार का नाश करने, समस्त कर्म फलों को परिपक्व करने तथा वृष्टि आदि द्वारा प्राणि मात्र का भरण पोषण करने के कारण भर्ग कहा जाता है।

यो न: सविता अस्माकं धिय: दानोपादानविषयाणि ज्ञानानि प्रचोदयात् प्रचोदयति प्रवर्तयति तत्सवितुर्देवस्य द्योतमानस्य यद् वरेण्यं भर्ग: तद् ध्यायाम: चिन्तयाम:।

जो सविता देव हमारी बुद्धि को ज्ञान आदि की ओर प्रेरित करता है, उस देदीप्यमान सविता का जो वरणीय तेज है, उसका हम चिन्तन करते हैं, ध्यान करते हैं।

६. श्री विद्यारण्य स्वामी–

तदिति वाङ् मनोगम्यं ध्येयं यत्सूर्यमण्डले।
सवितु: सकलोत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम्॥

तत् उस परब्रह्म को इंगित करता है, जो मन तथा वाणी का विषय

नही है तथा (जिसके लिये वेद में कहा गया है, 'यो ऽसावादित्ये पुरुष:' जो वह आदित्य में पुरुष है ।) सविता समस्त संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है ।

वरेण्यमाश्रयंणीयं यदाधारमिदञ्जगत् ।
भर्ग: स्वसाक्षात्कारेणाविद्यातत्कार्यदाहकम् ।।

वरेण्यं का अर्थ है, जिसका आश्रय, जिसका आलंबन ग्रहण किया जाना चाहिये तथा जो समस्त जगत का आश्रय है, आधार है। भर्ग का अर्थ है, अपने साक्षात्कार से अविद्या, अज्ञान तथा उससे उत्पन्न कर्मों एवं पापों को नष्ट करने वाला।

देवस्य द्योतमानस्य ह्यानन्दात्क्रीडतोपि वा ।
धीमह्यहं स एवेति तेनैवाभेद सिद्धये ।।

देव का अर्थ है देदीप्यमान, आनन्द देने वाला तथा संसार में विभिन्न रूपों में क्रीड़ा करने वाला। धीमहि का अर्थ है,यह चिन्तन करना कि जो वह सविता देव है वही मैं हूँ अर्थात् उस सविता देव से अभेद सिद्ध करने के लिये ध्यान करना।

धियोऽन्त: करणवृत्ती: प्रत्यक्प्रवणचारिणी: ।

धिय: का अर्थ है, अन्तःकरण की वृत्तियाँ जो प्रत्यगात्मा की ओर चलने वाली हैं ।

य इत्यलिङ्गधर्मं यत्सत्यज्ञानादिलक्षणम् ।।

य:, यह लिङ्ग व्यत्यय है, इसका अर्थ है, 'जो सत्य एवं ज्ञानादि लक्षणों से युक्त है, ज्ञानस्वरूप है।'

नोऽस्माकं बहुधाभ्यस्तभिन्नभेददृशां तया ।

अनेक प्रकार के अभ्यास से अनेक भेद देखने वाले लोगों के

प्रचोदयात् प्रेरयतु प्रार्थनेयं विचार्यते ।।

प्रचोदयात् का अर्थ है, हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे । यह प्रार्थना है।

'सवितु: भर्ग:'– का अर्थ 'सविता का तेज' होने के साथ साथ, सविता अर्थात् परब्रह्म का तेजस्वरूप,प्रकाशस्वरूप अथवा ज्योति:स्वरूप भी है । वास्तव में ब्रह्म का स्वरूप तो केवल सुखस्वरूप अथवा परमानन्द स्वरूप ही है, जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है- **'स्व: यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:'** । सुख एवं प्रकाश वास्तव में एक ही सत्य के दो रूप हैं और लगभग पर्यायवाची हैं । अत: स्पष्ट है कि मन्त्र में सविता के पापनाशक, ज्योतिर्मय स्वरूप का ध्यान करने की बात कही गयी है । वास्तव में सविता के तेज और उसके ज्योतिर्मय स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि तेज, प्रकाश, ज्योति एवं आनन्द ही तो उसका स्वरूप है ।

इसीलिये स्वामी शङ्कराचार्य जी ने गायत्री मन्त्र के अर्थ में परब्रह्म के चिन्तन का ही उल्लेख किया है तथा स्वामी दयानन्द जी ने भी 'भर्ग:' का अर्थ 'परमात्मा का स्वरुप' किया है ।

महाव्याहृतियाँ

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापति: ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुव: स्वरितीति च ।।

मनुस्मृति २ ।७६

प्रजापति ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद से ओ३म् की तीन मात्राओं क्रमश: अकार, उकार, मकार तथा भू: भुव: स्व: इन तीन महाव्याह्रतियों को दुहा है, निकाला है ।

भू:, भुव:, स्व:, ये तीन महाव्याहृतियाँ कही जाती हैं । व्याहृति का अर्थ है—वि+आहृति=विशेष अर्थों की आहृति अथवा बोध कराने वाली । वैदिक वाङ्मय में इन महाव्याहृतियों का अत्यधिक महत्व है । जहाँ अलग अलग ये व्याहृतियाँ प्रतीक रुप में ब्रह्माण्ड के विभिन्न महत्वपूर्ण अवयवों का बोध कराती हैं, वहीं समग्र रुप से ये परब्रह्म का बोध कराती हैं, जैसा कि निम्नाङ्कित विवरण से स्पष्ट है—

(१)	भूः	भुवः	स्वः	भूर्भुवः स्वः
	ओम् की	ओम् की	ओम् की	
	प्रथम मात्रा	द्वितीय मात्रा	तृतीय मात्रा	
	'अ'	'उ'	'म्'	ओम्
(३)	सत्	चित्	आनन्द	सच्चिदानन्द
(४)	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक	
(५)	अग्नि	वायु	आदित्य	
(६)	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	
(७)	प्राण	अपान	व्यान	समष्टि प्राण
(८)	दक्षिणाग्नि	गार्हपत्य अग्नि	आहवनीय अग्नि	

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि संसार को उत्पन्न करने की इच्छा से प्रजापति ने श्रम एवं तप करके सर्व प्रथम पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक, इन तीन लोकों को बनाया। तत्पश्चात् उसने तप करके पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु तथा द्युलोक से सूर्य, इन तीन ज्योतियों को उत्पन्न किया।

तत्पश्चात् प्रजापति ने इन ज्योतियों को तपाकर अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा सूर्य से सामवेद को उत्पन्न किया। तदनन्तर प्रजापति ने इन तीन वेदों को तपाकर ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः तथा सामवेद से स्वः, ये तीन शुक्र अर्थात् निर्मल सारभूत तत्व उत्पन्न किये, जिन्हें महाव्याहृतियाँ कहा जाता है।

प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत्। एक एव सोऽकामयत स्याम् प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानांत्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः।

शतपथ ब्राह्मण ११।५।८।१

(अग्रे प्रजापतिः वै इदम् एकः एव आसीत्) निःसन्देह पूर्व में केवल एक प्रजापति ही था। (स अकामयत प्रजायेय स्याम् इति) उसने इच्छा की कि मैं सन्तान वाला हो जाऊँ। (सः अश्राम्यत् सः तपः अतप्यत) उसने श्रम

किया, उसने तप किया। (तस्मात् श्रान्तात् तेपानात् त्रयो लोकाः असृज्यन्त पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौः) उसके श्रम तथा तप से तीन लोक उत्पन्न हुये— पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ।

स इमांस्त्रींलोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतीꣳष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः।

शतपथ ११।५।८।२

(सः इमान् त्रीन् लोकान् अभितताप) उसने इन तीनों लोकों को तपाया। (तेभ्यः तप्तेभ्यः त्रीणि ज्योतींषि अजायन्त अग्निः यः अयं पवते, सूर्यः) उन तपाये हुये लोकों से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुयीं—अग्नि, दूसरी वायु जो बहती है तथा सूर्य।

स इमानि त्रीणि ज्योतीꣳष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्य स्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

शतपथ ११।५।८।३

(स इमानि त्रीणि ज्योतींषि अभितताप) उसने इन तीनों ज्योतियों को तपाया। (तेभ्यस्तप्तेभ्यः त्रयो वेदाः अजायन्त अग्नेः ऋग्वेदः वायोः यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः) उन तपायी हुई तीन ज्योतियों से तीन वेद उत्पन्न हुये—अग्नि से ऋग्वेद; वायु से यजुर्वेद तथा सूर्य से सामवेद।

स इमांस्त्रीन् वेदानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद्भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्तदृग्वेदेनैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यवꣳ सामवेदेनोद्गीथं यदेव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम।

शतपथ ११।५।८।४

(स इमान् त्रीन् वेदान् अभितताप) उसने इन तीन वेदों को तपाया। (तेभ्यः तप्तेभ्यः त्रीणि शुक्राणि अजायन्त) उन तपे हुये वेदों से तीन शुक्र अर्थात निर्मल सारभूत अंश उत्पन्न हुये-(भूः इति ऋग्वेदात्) भूः यह ऋग्वेद से, (भुवः इति यजुर्वेदात्) भुवः यह यजुर्वेद से तथा (स्वः इति सामवेदात्)

स्वः यह सामवेद से। (ऋग्वेदेन एव होत्रम् अकुर्वत) ऋग्वेद से ही होत्र को बनाया, (यजुर्वेदेन अध्वर्यवम्) यजुर्वेद से अध्वर्यव को तथा (सामवेदेन उद्गीथम्) सामवेद से उद्गीथ को (यद् एव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वं अथ उच्चक्राम) त्रयीविद्या में जो शुक्र अथवा तेज था उससे ब्रह्मत्व निकला।

तदाहुः। यदृचा होत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवः साम्नोउद्गीथोऽथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात्।

शतपथ ११।५।८।७

(तदाहुः) इस पर कहते हैं कि (यद् ऋचा होत्रं क्रियते) ऋग्वेद से होता का कार्य किया जाता है, (यजुषा अध्वर्यवम्) यजुर्वेद से अध्वर्यु का तथा (साम्ना उद्गीथः)सामवेद से उद्गाता का कार्य किया जाता है। (अथ केन ब्रह्मत्वं इति) तो फिर ब्रह्मा का कार्य किससे? (अनया त्रय्याविद्यया इति ब्रूयात्) इसका उत्तर देना चाहिये कि इस त्रयी विद्या से ब्रह्मा का कार्य किया जाता है।

इस प्रकार यज्ञ के ऋत्विजों में होता का सम्बन्ध ऋग्वेद से, अध्वर्यु का सम्बन्ध यजुर्वेद से, उद्गाता का सम्बन्ध सामवेद से तथा ब्रह्मा का सम्बन्ध पूर्ण त्रयीविद्या अर्थात् चारों वेदों से होता है।

यही विषय गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग १।६ में निम्न प्रकार आया है।

स तांस्त्रींल्लोकानभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तेभ्य श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमताग्निं वायुमादित्यमिति। स खलु पृथिव्या एवाग्निं निरमिमतान्तरिक्षाद्वायुन्दिव आदित्यम्। स तांस्त्रीन् देवान् अभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान्निरमिमत ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति, अग्ने ऋग्वेदं वायोर्यजुर्वेदमादित्यात्सामवेदम्। स तांस्त्रीन् वेदानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत् तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्तिस्त्रो महाव्याहृतीर्निरमिमत भूर्भुवः स्वरिति। भूरित्यृग्वेदात्, भुवः

इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात् । स य इच्छेत्सर्वैरेतैस्त्रिभिर्वेदैः कुर्वीयेत्येताभिरेव तं महाव्याहृतिभिः कुर्वीत सर्वैर्ह वा अस्यैतैस्त्रिभिर्वेदैः कृतं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेताभिर्महाव्याहृतिभिः कुरुते ।

(सः) उस परब्रह्म परमात्मा ने (त्रीन् लोकान् निर् अमिमत) तीन लोकों को बनाया पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक, उसने इन तीन लोकों को (अभि अश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत्) सब ओर से दबाया, सब ओर से तपाया तथा भली भाँति तपाया (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः स त्रीन् देवान् निरमिमत अग्निं वायुमादित्यमिति) उन सभी ओर से दबाये हुये, तपाये हुये तथा भलीभाँति तपाये हुये तीनों लोकों से उसने तीन देवताओं अग्नि, वायु तथा आदित्य को बनाया । (सः खलु पृथिव्याः एव अग्निं, अन्तरिक्षाद् वायुं दिवः आदित्यम् निरमिमत) उसने निश्चय ही पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु तथा द्युलोक से आदित्य को बनाया ।

(स तान् त्रीन् देवान् अभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत्) उसने उन तीन देवों को सब ओर से दबाया, सब ओर से तपाया तथा भलीभाँति तपाया । (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः त्रीन् वेदान् निरमिमत ऋग्वेदम् यजुर्वेदम् सामवेदम् इति) उन दबाये हुये, तपाये हुये, भलीभाँति तपाये हुये देवों से परमात्मा ने तीन वेदों को बनाया–ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद (अग्नेः ऋग्वेदम् वायोः यजुर्वेदम्, आदित्यात् सामवेदम्) अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा आदित्य से सामवेद । तदनन्तर (सः तान् त्रीन् वेदान् अभि अश्राम्यत् अभि अतपत् सम् अतपत्) उसने उन तीनों वेदों को सब ओर से दबाया, सब ओर से तपाया,भलीभाँति तपाया। (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः तिस्रः महाव्याहृतीः निरमिमत भूः भुवः स्वः इति) उन दबाये हुये, तपाये हुये, तथा भलीभाँति तपाये हुये वेदों से तीन महाव्याहृतियाँ बनायीं–भूः भुवः स्वः । (भूः इति ःऋग्वेदात्, भुवः इति यजुर्वेदात्, स्वः इति सामवेदात्) भूः को ऋग्वेद से, भुवः को यजुर्वेद

से तथा स्व: को सामवेद से। (स: य: इच्छेत्) जो पुरुष यह चाहे (एतै: सर्वै: त्रिभि: वेदै: कुर्वीय इति) कि इन सब तीनों वेदों से कर्म करूँ तो उसे, (तम्) उस कर्म को (एताभि: एव महाव्याहृतिभि: कुर्वीत्) इन्हीं महाव्याहृतियों से करना चाहिये। (य: एवम् वेद च य: एवम् विद्वान्) जो इस रहस्य को जानता है और जो इसे जानकर (एताभि: महाव्याहृतिभि: कुरुते) इन महाव्याहृतियों से कर्म करता है, (अस्य) उस पुरुष का कर्म (एतै: सर्वै: त्रिभि: वेदै: ह वै कृतम् भवति) निश्चय ही इन सभी तीनों वेदों से किया हुआ हो जाता है।

गोपथ ब्राह्मण के एक अन्य प्रकरण में तथा तैत्तिरीय उपनिषद् में चार महाव्यहृतियों का उल्लेख किया गया है।

प्रजापतिरथर्वा देव: स तपस्तप्त्वैतञ्चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत, चतुर्लोकं चतुर्देवं चतुर्वेदं चतुर्होत्रमिति, चत्वारो वा इमे लोका: पृथिव्यन्तरिक्षद्यौराप इति, चत्वारो वा इमे देवा अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा:, चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदो ब्रह्मवेद इति चतस्रो वा इमा: होत्रा हौत्रमाध्वर्य्यवमौद्गात्रं ब्रह्मत्वमिति। तदप्येतदृचोक्तम्।

गोपथ ब्राह्मण पूर्व २।१६

(प्रजापति: अथर्वा देव:) प्रजापति अथर्वा अर्थात् ध्रुव, निश्चल प्रकाशमान परमात्मा है। (स तप: तप्त्वा एतं चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनम् निरमिमीत) उसने तप करके इस चार प्रकार से फैले हुये ब्रह्मौदन की रचना की (चतुर्लोकं चतुर्देवम् चतुर्वेदम् चतुर्होत्रम् इति) चार लोक, चार देव, चार वेद तथा चार ऋत्विजों के कर्म। (चत्वार: वै इमे लोका: पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौ: आप: इति) ये लोक चार हैं– पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तथा चन्द्रलोक। (चत्वार: वै इमे देवा: अग्नि: वायु: आदित्य: चन्द्रमा:) ये देवता भी चार हैं– अग्नि वायु, आदित्य तथा चन्द्रमा। चत्वार: वै इमे वेदा: ऋग्वेद: यजुर्वेद: सामवेद: ब्रह्मवेद: इति) चार ही वेद हैं–ऋग्वेद,

यजुर्वेद, सामवेद तथा ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद। (चतस्रः वै इमाः होत्राः हौत्रम्, आध्वर्य्यवम् औद्गात्रम् ब्रह्मत्वम् इति) यज्ञ में चार ऋत्विजों के कर्म होते हैं– होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा के कार्य। (तद् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) ऋचा में भी यही कहा गया है–

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यान्२ आ विवेश॥ ऋग्. ४।५८।३ यजु. १७।९१

इस यज्ञ पुरुष के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्व वेद रूपी चार शृङ्ग अथवा शीर्षस्थ अवयव हैं, (त्रयः पादा) प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन अर्थात् प्रातः काल में किया जाने वाला यज्ञ, मध्याह्न में किया जाने वाला यज्ञ तथा सायंकाल में किया जाने वाला यज्ञ, यही इसके तीन पाद अथवा चरण हैं; (द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये) प्रायणीय अर्थात् यज्ञ के प्रारम्भिक कार्य तथा उदयनीय अर्थात् यज्ञ के अन्तिम कार्य, अथवा ब्रह्मौदन एवं प्रवर्ग्य, इसके दो शिर हैं।(सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि) गायत्री आदि सात छन्द इसके सात हाथ हैं। (त्रिधा बद्धः) मन्त्र,ब्राह्मण तथा कल्प से तीन प्रकार से बँधा हुआ (वृषभः रोरवीति) सुख की वर्षा करने वाला यह श्रेष्ठ बलवान शब्द करता है, (महादेवः मर्त्यान् आविवेश) अतिशय पूजनीय यज्ञ रूपी यह महान देव मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है, मनुष्यलोक में स्थित है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में यह विषय निम्न प्रकार आया है।

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः॥

तैत्तिरीय उपनिषद् १।५।१

भूः भुवः स्वः (इति वै एताः तिस्रः व्याहृतयः) ये तीन व्याहृतियाँ हैं,

(महाचमस्य:) महाचमस्य नाम के ऋषि ने (तासां मह: इति एताम्) उनमें मह: एक और (चतुर्थीम् उ ह प्रवेदयते स्म) चौथी व्याहृति जान ली। (तत् ब्रह्म) वह मह: व्याहृति ब्रह्म ही है (स: आत्मा) वही आत्मा है, (अन्या देवता अङ्गानि) अन्य देवता उसके अङ्ग हैं।

भूरिति वा अयं लोक:। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोक:। मह इत्यादित्य: आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ।।

तैत्तिरीय उपनिषद्, १।५।२

(भू: इति वै अयं लोक:) भू: यह व्याहृति इस भूलोक की वाचक है (भुव: इति अन्तरिक्षम्) भुव: यह अन्तरिक्ष की सूचक है, (सुव: इति असौ लोक:) स्व: यह उस द्युलोक की वाचक है और (मह: इति आदित्य:) मह: यह व्याहृति आदित्य की वाचक है। (आदित्येन वाव सर्वे लोका:) आदित्य के द्वारा ही सब लोकों का (महीयन्ते) महत्व बढ़ाया जाता है। (आदित्य द्वारा ही तीनों लोक प्रकाशित होते हैं।)

भूरिति वा अग्नि:। भुव इति वायु:। सुवरित्यादित्य:। मह इति चन्द्रमा:। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते।।

तैत्तिरीय उपनिषद् १।५।३

(भू: इति वै अग्नि:) भू: यह व्याहृति अग्नि की वाचक है (भुव: इति वायु:) भुव: यह वायु की सूचक है (सुव: इति आदित्य:) स्व: यह आदित्य की वाचक है और (मह: इति चन्द्रमा) मह: यह चन्द्रमा की वाचक है। (चन्द्रमसा वाव) चन्द्रमा द्वारा ही (सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते) सब ज्योतियों की महिमा बढ़ायी जाती है।

भूरिति वा ऋच:। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।

तैत्तिरीय उपनिषद्, १।५।४

(भू: इति वै ऋच:) भू: व्याहृति ऋग्वेद की सूचक है (भुव: इति सामानि) भुव: यह सामवेद की वाचक है, (सुव: इति यजूंषि) स्व: यह

यजुर्वेद की वाचक है । (महः) इति ब्रह्म) महः यह व्याहृति ब्रह्म अथवा ब्रह्मवेद की वाचक है, (ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते) ब्रह्म अथवा अथर्ववेद से ही समस्त वेद महिमावान् होते हैं।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम् ।अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ।।

तैत्तिरीय उपनिषद, १।५।५

(भूः इति वै प्राणः) भूः यह व्याहृति प्राण की सूचक है (भुवः इति अपानः) भुवः यह अपान की दर्शक है, (सुवः इति व्यानः) स्वः यह व्यान की सूचक है। महः यह व्याहृति अन्न को दर्शाती है। (अन्नेन वाव सर्वे प्राणाः महीयन्ते) अन्न से ही सब प्राणों का पोषण होता है।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद ।स वेद ब्रह्म ।सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।

तैत्तिरीय उपनिषद्, १।५।६

(ताः वै एताः चतस्रः चतुर्धा) वे यह लोक आदि सब चार हैं तथा चार प्रकार के हैं। (चतस्रः चतुर्धा व्याहृतयः) व्याहृतियाँ चार हैं तथा चार प्रकार की हैं (ताः यः वेदः) उनको जो जानता है (सः ब्रह्म वेद)वह ब्रह्म को जानता है । (अस्मै सर्वे देवाः) उसके लिये समस्त देव (बलिं आवहन्ति) बलि समर्पण करते हैं।

व्याहृतियाँ	अधि-लोकम्	अधि-ज्योतिषम्	अधि-विद्यम्	अध्यात्मम्
भूः	पृथिवी	अग्निः	ऋचः (ऋग्वेद)	प्राणः
भुवः	अन्तरिक्ष	वायुः	यजूंषि (यजुर्वेद)	अपानः
स्वः	द्युलोक	आदित्य	सामानि (सामवेद)	व्यानः
महः	आदित्यलोक	चन्द्रमा	ब्रह्मवेद (अथर्ववेद)	अन्नम्

स वाऽएकाक्षरद्व्यक्षराण्येव प्रथमं वदन्प्रजापतिरवदत्तस्मादेकाक्षरद्व्यक्षराण्येव प्रथमं वदन् कुमारो वदति ।

शतपथ.११।१।६।४

उस प्रजापति ने पहले एक अक्षर या दो अक्षर वाले शब्द भू:, भुव:, स्व: कहे थे इसीलिये बच्चा पहले एक अक्षर या दो अक्षर वाले शब्द ही बोलता है।

तानि वा ऽएतानि पञ्चाक्षराणि तान्पञ्चर्तूनकुरुत ता इमे पञ्चर्तव:। शतपथ.११।१।६।५

वे (भू: भुव: स्व:) ये पाँच अक्षर हुये। प्रजापति ने इनसे पाँच ऋतुयें बनायीं। इसीलिये वर्ष में पाँच ऋतुयें होती हैं। (वैदिक वाङ्मय में कहीं पाँच और कहीं छ: ऋतुओं का उल्लेख है।)

शतपथ ब्राह्मण (१४।८।६।४,५) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (५।५।३,४) के अनुसार भू: भुव: स्व: आत्मा एवं परमात्मा के वाचक ही नहीं, प्रत्युत उसके स्वरुप के शब्द चित्र भी हैं।

परमात्मा का वर्णन—

य: एष एतस्मिन् मण्डले पुरुष: तस्य भूरिति शिर एक:शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वेऽएतेऽअक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वेऽएतेऽअक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद।

शतपथ.१४।८।६।४

जो यह इस आदित्य मण्डल में पुरुष अर्थात पूर्ण परमात्मा है, उसका 'भू:' यह शिर है। (एकं शिर: एकम् एतत् अक्षरम्) शिर एक होता है और यह अक्षर भी एक है। (भुव: इति बाहू) 'भुव:' यह भुजायें हैं। (द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे) भुजायें दो होती हैं; 'भुव:' भी ये दो अक्षर हैं। (स्व: इति प्रतिष्ठा) 'स्व:' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरण हैं, चरण दो होते हैं 'स्व:' भी दो अक्षर हैं। (अहर् इति तस्य उपनिषद्) 'अहर्' यह उसका उपनिषद् है, गूढ़ नाम है। (य: एवं वेद पाप्मानं हन्ति जहाति च) जो ऐसा जानता है वह पाप का नाश करता है तथा उसे त्याग देता है। तात्पर्य यह है कि जो भू: भुव: स्व: के इस परमात्म स्वरूप के रहस्य को जानकर उपासना करता है वह

पाप से लिप्त नहीं होता। स्वामी शङ्कराचार्य जी के अनुसार अहर् शब्द का अर्थ है पापों का नाश करने वाला तथा त्यागने वाला क्योंकि यह 'हन् हिंसागत्योः तथा हा, 'ओहाक् त्यागे' धातुओं से बनता है।

<u>आत्मा का वर्णन</u>–

यो ऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकः शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे, तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद।

बृहदारण्यक उपनिषद्, ५।५।४

जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष अर्थात् जीवात्मा है, (शरीर में आत्मा के तीन स्थान माने जाते हैं–हृदय, कण्ठ तथा दक्षिण नेत्र) उसका 'भूः' यह शिर है। शिर एक होता है; भूः यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजायें हैं। भुजायें दो होती हैं 'भुवः' भी ये दो अक्षर हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरण हैं। पैर दो होते हैं स्वः भी ये दो अक्षर हैं। 'अहम्' यह उसका उपनिषद् है, गूढ़ नाम है। जो ऐसा जानता है वह पाप को नष्ट करता है तथा उसे त्याग देता है। जीवात्मा का वर्णन होने के कारण उसका नाम अहम् बताया गया है क्योंकि शरीर में आत्मा ही अहम् (मैं) होता है।

'भूः भुवः स्वः' न केवल ब्रह्म के शब्द चित्र हैं प्रत्युत उसके गुणों का वर्णन करने वाले सबसे महत्वपूर्ण शब्द भी हैं क्योंकि भूः का अर्थ है सत्, भुवः का अर्थ है चित् अर्थात् ज्ञानस्वरुप तथा स्वः का अर्थ है सुखस्वरुप। इस प्रकार भूः भुवः स्वः का शाब्दिक अर्थ है (सत्+चित्+आनन्द) सच्चिदानन्द।

वास्तव में वैदिक वाङ्मय के ये सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक शब्द हैं, जिन्हें उचित रुप से महाव्याहृति (महा + वि + आहृति) अर्थात् विशेष अर्थों का आहरण करने वाले महान् शब्द कहा जाता है, जो ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, जीवात्मा, प्रकृति, वेद, काल, लोक, शरीर आदि का अनेक प्रकार से वर्णन करने वाले हैं। इनके रहस्य को समझने के लिये अत्यधिक मनन,

चिन्तन एवं स्वाध्याय की आवश्यकता है।

विष्णु सहस्रनाम (श्लोक सं. ११७) में भगवान को भूर्भुवः स्वः तरुः कहा गया है–

भूर्भुवः स्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः ।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः ।।

वह भगवान्, (भूर्भुवः स्वः तरुः) भूः भुवः स्वः द्वारा वर्णित तीनों लोकों से युक्त संसार रूपी वृक्ष हैं, जिस पर समस्त प्राणियों को आश्रय प्राप्त होता है, (तारः) संसार सागर से तारने वाले, (सविता) सबको उत्पन्न करने वाले, (प्रपितामहाः) पितामह ब्रह्मा के भी पिता, (यज्ञः) यज्ञ स्वरुप, (यज्ञपतिः) यज्ञ की रक्षा करने वाले, (यज्वा) यज्ञ करने वाले, (यज्ञाङ्गः) यज्ञ जिनके अङ्ग हैं तथा (यज्ञ वाहनः) यज्ञों का वहन करने वाले हैं ।

जिस प्रकार वृक्ष में पक्षी आश्रय लेते है, उसी प्रकार समस्त प्राणी भगवान् में आश्रय लेते हैं। इसीलिये भगवान् को 'भूर्भुवः स्वः तरुः' अर्थात् भूः र्भुवः स्वः रुपी वृक्ष कहा गया है। विष्णु सहस्र नाम के श्लोक सं.११४ में भी भगवान् को 'भूर्भुवः' कहा गया है ।

भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः ।

तैत्तिरीय उपनिषद्,१।५।३

भूः यह प्राण है, भुवः यह अपान है, स्वः यह व्यान है ।

इसी आधार पर स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश (तृतीय समुल्लास) में प्रत्येक महाव्याहृति को ब्रह्म का वाचक बताते हुये इनके निर्वचन निम्न प्रकार दिये हैं ।

भूः- 'भूरिति वै प्राणः'-निःसन्देह भूः प्राण है। यः प्राणयति चराचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः। जो समस्त चराचर जगत् को जीवन देता है वह परमेश्वर भूः नाम वाला है। वह सब जगत् के जीवन का आधार और स्वयम्भू है ।

'भुवरित्यपानः'-भुवः यह अपान है । यः सर्व दुःखमपानयति सोऽपानः। जो समस्त दुःखों को दूर करता है, उस परमेश्वर का नाम भुवः है।

'स्वरिति व्यान:'-स्व: यह व्यान है । यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यान:। जो नाना रूपों वाले जगत् में व्याप्त होकर सबको सुख देता है, उस परमेश्वर का नाम स्व: है ।

१. भू: सत्तायाम् धातु से बनने के कारण भू का अर्थ है सत्ता । जिसकी वास्तविक सत्ता है, वही सत् है ।

२. श्री नारायण स्वामी जी ने तैत्तिरीय उपनिषद् की अपनी व्याख्या में लिखा है-

भुव अवचिन्तने धातु से बनने के कारण भुव: का अर्थ है चित् अर्थात् ज्ञान स्वरुप । श्री सातवलेकर जी ने भी यजुर्वेद भाष्य में लिखा है, भुव धातु का अर्थ 'कल्पना करना, मिश्रण करना और चिन्तन करना' है ।

३. स्व: शब्द का अर्थ है प्रकाश, सुख अथवा आनन्द । वेद में ब्रह्म को सुख स्वरूप ही कहा गया है।

स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम समुल्लास) मे सत् तथा चित् का अर्थ निम्न प्रकार लिखा है–

'अस् भुवि' इस धातु से सत् शब्द सिद्ध होता है ।

यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद्ब्रह्म।

जो सदा वर्तमान है, अर्थात् भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालों में जिसका बाध न हो, उस परमेश्वर को सत् कहते हैं ।

'चिती संज्ञाने' इस धातु से चित् शब्द सिद्ध होता है ।

यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिन: तत् चित् परम् ब्रह्म ।

जो चेतन स्वरूप, सब जीवों को चिताने और सत्यासत्य का जानने हारा है, उस परमात्मा का नाम चित् है । इसलिये परमात्मा को सत्+चित्+आनन्द=सच्चिदानन्द कहा जाता है ।

असौ देवस्त्रिलोकात्मा त्रिगुणं व्याप्य तिष्ठति ।
यतो विश्वमयं ब्रह्म वाच्यं व्याहृतिभिस्त्रिभि: ।।

आग्नेय निर्वाण तन्त्र।

वह देव त्रिलोक का आत्मा है और तीनों गुणों मे व्याप्त होकर विद्यमान है। इस कारण विश्वमय ब्रह्म तीनों व्याहृतियों का वाच्य है।

भूर्भुव: स्वस्तथा पूर्व स्वयमेव स्वयम्भुवा: ।
व्याहृता ज्ञानदेहेन तेन व्याहृतया: स्मृता: ।।

योगि याज्ञवल्क्य १।९

सृष्टि से पूर्व ब्रह्मा जी ने स्वयं ज्ञानदेह से भूः, भुवः, स्वः, कहा। इसी कारण से इनका नाम व्याहृति हुआ।

भूर्भुव: स्व: ब्रह्म। भूर्भुव: स्वराप ओ३म् ।।

महानारायण उपनिषद्, ८।१४।१

भू: भुव: स्व: ब्रह्म रुप हैं। भूर्भुव: स्व: आप ओङ्कार स्वरुप हैं।

पुरा कल्पे समुत्पन्ना भूर्भुव: स्व: सनातन: ।
महाव्याहृतयस्तिस्त्र: सर्वासुरनिवर्हणा: ।।

कूर्म पुराण।

कल्प के प्रारम्भ में समस्त असुरों का विनाश करने वाली तीन सनातन महाव्याहृतियाँ भू: भुव: स्व: उत्पन्न हुयीं।

प्रधानं पुरुष: कालो ब्रह्माविष्णुमहेश्वर: ।
सत्वं रजस्तमस्तिस्त्र: क्रमाद्व्याहृतय: स्मृता: ।।

कूर्म पुराण, उत्तर भाग १।१४।५४

भू: भुव: स्व: इन महाव्याहृतियों के अर्थ क्रमश: प्रकृति, पुरुष, काल; ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सत्व, रज, तम माने गये हैं।

गायत्री मन्त्र में प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ

गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर तथा दश पद हैं। ये २४ अक्षर पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय तथा पञ्चमहाभूत एवं मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार रूपी अन्त:करण चतुष्टय तथा प्राणों के प्रतीक हैं।

इस प्रकार ये २४ अक्षर संसार के सबसे महत्वपूर्ण २४ अङ्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च च ।
पञ्च बुद्धीन्द्रियार्थाश्च भूतानां चैव पञ्चकम् ॥
मनो बुद्धिस्तथैवात्मा अव्यक्तञ्च यदुत्तमम् ।
चतुर्विंशतिरेतानि गायत्र्या अक्षराणि च ॥
प्रणवं पुरुषं विद्धि सर्वगं पञ्चविंशकम् ।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण ।

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाश एव च ।
गंध: रसश्च रूपं च शब्द: स्पर्शस्तथैव च ॥
उपस्थं पायुपादं च पाणौ वागपि तत: परम ।
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं च तत: परम् ॥
प्राणोऽपानस्तथा व्यान: समानश्च तत: परम् ।
तत्वान्येतानि वर्णानां क्रमश: कीर्तितानि तु ॥

देवी भागवत १२।२।१०-१२

गायत्री मन्त्र में निम्नाङ्कित दश पद हैं।

तत्, सवितु:, वरेण्यं, भर्ग:, देवस्य, धीमहि, धिय:, य:, न:, प्रचोदयात्।

उक्त दश पदों के अर्थ निम्न प्रकार हैं।

१. तत् तत् का अर्थ है 'वह' अथवा 'उस'।

यह स्पष्ट है कि शब्दों द्वारा ब्रह्म का सम्पूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता, केवल उसकी अनन्त महिमा की ओर ही संकेत किया जा सकता है, उसे शब्दों की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। इसीलिये 'तत्' शब्द का प्रयोग ब्रह्म की ओर संकेत करने के लिये किया जाता है, जैसा कि गीता के निम्नाङ्कित श्लोकों से स्पष्ट है–

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

गीता १७।२३

(ॐ तत् सत् इति ब्रह्मणः त्रिविधः निर्देशः स्मृतः) ॐ, तत्, सत् इन तीन प्रकार से सच्चिदानन्द घन ब्रह्म का निर्देश किया गया है। उसी के द्वारा सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञों की रचना की गयी है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

गीता १७।२५

(मोक्षकाङ्क्षिभिः) मोक्ष की इच्छा रखने वालों के द्वारा (तत् इति) तत् नाम से संकेत किये जाने वाले परमात्मा का स्मरण करके (फलं अनभिसंधाय) फल की इच्छा न करते हुये (विविधाः यज्ञ तपः दान क्रियाः च क्रियन्ते) यज्ञ, तप तथा दान की विविध क्रियायें सम्पन्न की जाती हैं।

तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

गीता ५।१७

(तद् बुद्धयः) परमात्मा की ओर अभिमुख है बुद्धि जिनकी, (तदात्मनः) परमात्मा से संयुक्त है आत्मा जिनकी, (तन्निष्ठाः) केवल

परमात्मा के प्रति ही निष्ठा है जिनकी (ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः) तथा ज्ञान से नष्ट हो गये हैं पाप जिनके, ऐसे (तत्परायणाः) परमात्मा के प्रति अपने को अर्पण करने वाले एवं उसके प्रति शरणागत ज्ञानी भक्त (अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति) आवागमन के चक्र से मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

तत् शब्द का विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया अर्थ–

१. श्री भारद्वाज मुनि–

तदिति द्वितीयैकवचनम्, अनेनाखिल जगदुत्पत्तिस्थितिलय-कारणभूतमुपनिषदि कथ्यमानं निरुपमं तेजः सूर्यमण्डला-भिध्येयं परब्रह्माभिधीयते।

'तत्' द्वितीया का एक वचन है । इसके द्वारा उपनिषद् में उल्लिखित, समस्त संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कारणभूत अनुपम तेजरूप सूर्यमण्डल में स्थित ज्योतिर्मय परब्रह्म का उल्लेख किया गया है । (जिसके लिये यजुर्वेद में कहा गया है 'योऽसावादित्ये पुरुषः' जो वह आदित्य में पुरुष है।)

२. महर्षि अगस्त्य–

योदेवः सविताऽस्माकं धियो धर्मादिगोचराः ।
प्रेरयेत्तस्य यद् भर्गस्तं वरेण्यमुपास्महे ।।

जो सविता देव हमारी बुद्धियों को धर्मादि श्रेष्ठ कार्यों की ओर प्रेरित करता है, उस सविता देव का जो वरणीय तेज है, हम उसकी उपासना करते हैं ।

इस प्रकार यहाँ 'तत्' का अर्थ तत् तस्य 'उस सविता का' किया गया है ।

३. महर्षि पाराशर–

देवस्य सवितुर्भर्गो वरणीयञ्च धीमहि ।
तदस्माकं धियो यस्तु ब्रह्मत्वे च प्रचोदयात् ।।

हम उस सविता देव के वरणीय भर्ग का ध्यान करते हैं, जो सविता देव हमारी बुद्धि को ब्रह्म की ओर प्रेरित करता है।

४. श्री शंकराचार्य जी–

तत्र ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण: त्रिविध: स्मृत: इति तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वत: सिद्धं परं ब्रह्मोच्यते।

तत् शब्द से प्रत्यग्भूत स्वत: सिद्ध परब्रह्म का उल्लेख किया गया है।

५. श्री माधवाचार्य–

य: सविता देवो नोऽस्माकं धिय: कर्माणि धर्मादिविषया बुद्धी: वा प्रचोदयात् प्रेरयति तत्तस्य देवस्य सवितु:।

जो सविता देव हमारी बुद्धि तथा कर्मों को प्रेरित करता है, उस सविता देव के।

यद्वातदिति भर्गो विशेषणम्। अथवा तत् यह भर्ग का विशेषण है, ऐसा मानने पर अर्थ होगा, **सवितुर्देवस्य तत्तादृशं भर्गो धीमहि, यद्भर्गो नो धियः प्रचोदयात्।**

सविता देव के उस भर्ग का ध्यान करते हैं, जो भर्ग हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है।

इस अर्थ में य: को यत् माना जाता है और कहा जाता है कि लिङ्गव्यत्यय के कारण यत् के स्थान पर मन्त्र में य: का प्रयोग हुआ है।

६. श्री सायणाचार्य–

(तत् देवस्य) सर्वासु श्रुतिषु प्रसिद्धस्य देवस्य।

समस्त श्रुतियों में प्रसिद्ध उस देव के।

अथवा, तदिति भर्गो विशेषणम्। सवितु: देवस्य तत्तादृशं भर्ग: धीमहि।

अथवा, तत्, यह भर्ग का विशेषण है। ऐसा मानने पर अर्थ होगा, सविता देव के उस भर्ग का मैं ध्यान करता हूँ।

७. आचार्य रावण–

तत् तस्य भर्गस्तेजः धीमहि। उस सविता देव के भर्ग का हम ध्यान करते हैं।

८. यजुर्वेद के भाष्यकार महीधर तथा उवट–

तदिति षष्ठ्यर्थे। तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः वयं धीमहि यः सविता नोऽस्माकं धियः प्रचोदयात्।

तत् शब्द षष्ठी के अर्थ में है। उस प्रकाशमान् सविता देव के तेज का ध्यान करते हैं, जो सविता देव हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करता है।

अथवा, लिङ्गव्यत्ययेन योजना–

सवितुः देवस्य तद् भर्गो धीमहि यो यद् भर्गो नो बुद्धिः प्रेरयति।

हम सविता देव के उस तेज का ध्यान करते हैं, जो तेज हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करता है।

९. **प्रपञ्चसार तन्त्र**– तत् द्वितीया का एकवचन है। इसके द्वारा सृष्टि को उत्पन्न करने वाले आनन्दस्वरुप परब्रह्म का उल्लेख किया गया है।

१०. विद्यारण्य स्वामी–

तदिति वाङ् मनोगम्यं ध्येयं यत्सूर्यमण्डले।
सवितुः सकलोत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम्॥

'तत्' शब्द से वाणी एवं मन आदि द्वारा अगम्य तथा समस्त संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के कारण भूत, सूर्य मण्डल में स्थित उस सविता देव का उल्लेख है। (जिसके लिये वेद में 'योऽसावादित्ये पुरुषः')जो वह आदित्य में पुरुष है, कहा गया है।

११. स्वामी दयानन्द सरस्वती–

१. (तत्) उसी परमात्मा के स्वरुप को हम लोग(धीमहि) धारण करें।

सत्यार्थ प्रकाश,तृतीय समुल्लास

२. सवितुः देवस्य यद्वरेण्यं भर्गस्तद्वयं धीमहि यः नः धियः

प्रचोदयात् ।

सविता देव का जो अत्यन्त ग्रहण करने योग्य (भर्गः) शुद्ध विज्ञान स्वरुप है (तत् वयं धीमहि) उसका हम लोग ध्यान करें अथवा उसको हम लोग धारण करें, जो सविता देव हमारी बुद्धियों को उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करे।

२. सवितुः ।

इसका शाब्दिक अर्थ है 'सविता के' ।

सविता शब्द का सामान्य अर्थ सूर्य होता है। अत: अनेक विद्वान् गायत्री मन्त्र में भी सविता का अर्थ सूर्य करने का हठ करते हैं और कहते हैं कि इस मन्त्र में सूर्य की उपासना का ही उल्लेख है जब कि कुछ विद्वान् कहते है कि इस मन्त्र में सूर्य के माध्यम से भगवान् की उपासना का विधान है किन्तु वास्तव में ये दोनो ही विचार सही नहीं हैं ।

यद्यपि सूर्य की महिमा एवं महत्ता सूर्य के समान ही स्पष्ट है और यद्यपि यह सर्व विदित है कि सूर्य के बिना पृथ्वी पर जीवन सम्भव नहीं है, फिर भी यह स्पष्ट है कि गायत्री मन्त्र में सूर्य की उपासना का विधान नहीं है, प्रत्युत कोटि कोटि सूर्यों से भी महान तथा सूर्य को भी उत्पन्न करने वाले, सूर्य के भी सूर्य, उस परब्रह्म की उपासना का विधान है, जहाँ सूर्य का प्रकाश दिखायी नहीं देता, बल्कि जिसके प्रकाश से केवल अपना ही सूर्य नहीं प्रत्युत ब्रह्माण्ड के समस्त सौर मण्डलों को धारण करने वाले सूर्य प्रकाशित होते हैं तथा मानव कल्पना से भी परे स्थित नक्षत्र पुञ्ज, निहारिकायें एवं आकाश गङ्गायें आदि प्रकाशित होती हैं ।

उपनिषदों में इस तथ्य का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया गया है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

मुण्डकोपनिषद् २।२।१०,
श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६।१४, कठोपनिषद् २।२।१५

वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारागण, ये बिजलियाँ भी वहाँ प्रकाशित नहीं होतीं, फिर यह अग्नि वहाँ कैसे प्रकाशित हो सकती है ? उस परब्रह्म के प्रकाशित होने से ही यह सूर्यादि उसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं । उसी के प्रकाश से यह समस्त जगत प्रकाशित होता है, आलोकित एवं सुशोभित होता है ।

अत: यह स्पष्ट है कि सद्प्रेरणा की प्रार्थना तो उस परमेश्वर से ही की जा सकती है जो सूर्य का भी प्रेरक है, सूर्य का भी सूर्य है ।

स्वमाया शक्ति संभिन्नं शिवरुद्रादिसंज्ञितम् ।
आदित्यदेवतायास्तु प्रेरकं परमेश्वरम् ।।

स्कन्द पुराण।

अपनी माया शक्ति से शिव, रुद्र आदि भिन्न भिन्न नामों को धारण करने वाले परमेश्वर आदित्य देवता के भी प्रेरक हैं ।

हमारे प्राचीन साहित्य में सूर्य चन्द्र आदि का जो आलंकारिक वर्णन किया गया है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि ये कोई चेतन दिव्य पुरुष हैं जिनकी उपासना की जाय और जिन्हें अपना इष्ट देव माना जाय । वास्तव में गायत्री मन्त्र द्वारा ब्रह्म की ही उपासना की जाती है, इसीलिये इसे ब्रह्म गायत्री कहा जाता है । सन्ध्योपासन में भी नित्य ब्रह्म की ही उपासना की जाती है, सूर्य आदि किसी देव की नहीं ।

य: सन्ध्यामुपासते ब्रह्मैव तदुपासते ।

सविता शब्द का वास्तविक अर्थ है उत्पन्न करने वाला, रक्षा करने वाला तथा प्रेरणा देने वाला ।

सविता सर्वभूतानां सर्वभावांश्च सूयते।
सवनात्प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते।।

बृहद्योयोगियाज्ञवल्क्य स्मृति,९।५५

सविता समस्त प्राणियों को तथा समस्त भावों को उत्पन्न करने वाला है। उत्पन्न करने से तथा प्रेरक होने से उसे सविता कहा जाता है।

संरक्षिता च भूतानां सविता च ततः स्मृताः ।।

बृहद्योयोगियाज्ञवल्क्य स्मृति,९१

समस्त प्राणियों की रक्षा करने के कारण सविता कहा जाता है।

सवनात् सविता। मैत्राण्युपनिषद्,६।३५

जगत को उत्पन्न करने से सविता कहा जाता है।

प्रजानां च प्रसवनात् सवितेत्यभिधीयते।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण।

प्रजाओं को उत्पन्न करने से सविता कहा जाता है।

सविता सर्वस्य प्रसविता। निरुक्त,१०।३।२०

सविता सब को उत्पन्न करने वाला तथा प्रेरणा देने वाला है।

'षू प्रेरणे' धातु से तृच् प्रत्यय करने पर सविता शब्द सिद्ध होता है। अतः इसका अर्थ है प्रेरित करने वाला। इसलिये आधिदैविक अर्थ में सूर्य तथा सूत्रात्मा वायु जो सबको प्रेरित करते हैं, तथा नियमबद्ध रखते हैं, सविता कहलाते हैं। यस्काचार्य जी ने लिखा है—

आदित्योऽपि सवितोच्यते। निरुक्त,१०।३।२०

आदित्य को भी सविता कहा जाता है।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण ६।३।१।१९ तथा २० में कहा गया है— 'असौ वा ऽआदित्यो देवः सविता'। यह आदित्य देव सविता है।

किन्तु उपासना के सन्दर्भ में सविता का अर्थ परमात्मा होता है क्योंकि वही समस्त जगत की सृष्टि करता है, सबको प्रेरणा देता है, गति देता है एवं सबकी रक्षा करता है।

महर्षि भरद्वाज ने 'सविता' शब्द की निष्पत्ति 'षूङ् प्राणिप्रसवे' धातु से मानी है और सविता का अर्थ– 'सर्वस्य भूतजातस्य प्रसवितुः' समस्त प्राणिजगत् को उत्पन्न करने वाला किया है। स्पष्ट है कि सब को उत्पन्न करने वाले के अर्थ में सविता का अर्थ सूर्य नहीं प्रत्युत सूर्य को भी उत्पन्न करने वाले परब्रह्म ही हो सकता है।

प्राय: सभी विद्वानों का निश्चित मत है कि सावित्री मन्त्र का ज्ञेय ब्रह्म ही है, इससे ब्रह्म का ही बोध होता है।

ओङ्कार व्याहृतिवाच्यो सावित्र्या ज्ञेय एव स: ।
जगद्रूपस्य सवितु: संस्रुष्टु: दीप्यते विभो: ।।

आग्नेय निर्वाण तन्त्र।

जो ओङ्कार व्याहृतियों का वाच्य है,वही सावित्री से ज्ञेय है। समस्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाले तथा प्रेरणा देने वाले परमात्मा का रुप ही संसार में (दीप्यते) प्रकाशित होता है।

स्वामी शंकराचार्य जी ने भी लिखा है–

सर्वात्मक ब्रह्मबोधकोऽयं गायत्री मन्त्र: सम्पद्यते।

यह गायत्री मन्त्र सर्वात्मक ब्रह्म का बोध कराने वाला है।

आत्मन: स्वरुपभूतं परब्रह्म तत् सवितुरिति आदि पदं निर्दिश्यते।

आत्मस्वरुपभूत परब्रह्म का 'तत् सवितु:' आदि पदों से निर्देश किया गया है।

सवितुरिति सृष्टिस्थिति प्रलय लक्षणकस्य सर्व प्रपंचकस्य समस्तद्वैत विभ्रमस्याधिष्ठान लक्ष्यते।

सविता सृष्टि, स्थिति, प्रलय लक्षण वाले इस समस्त प्रपंच के अधिष्ठान हैं अर्थात् वही इस जगत की सृष्टि करने वाले, उसका पालन तथा प्रलय करने वाले हैं।

स्वामी दयानन्द जी ने सविता शब्द की निष्पत्ति निम्नाङ्कित दो

धातुओं से मानी है।

'षुञ् अभिषवे'। अभिषवः उत्पादनं प्राणिगर्भविमोचनञ्च तथा 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने'।

इन दोनों धातुओं से सिद्ध करने पर सविता का अर्थ 'समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाला होता है'। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश (तृतीय समुल्लास) में सविता का निर्वचन निम्न प्रकार किया है।

यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः।

जो समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति करता है, वह परमेश्वर सविता है। इसलिये उन्होंने सवितुः का अर्थ 'सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य' लिखा है। पञ्चमहायज्ञविधि में उनके द्वारा 'सविता' का निर्वचन निम्न प्रकार दिया गया है।

सवितुः सुनोति सूयते सुवति वोत्पादयति सृजति सकलं जगत स सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्य।

जो समस्त संसार को उत्पन्न करने वाला सविता परमात्मा है, उसका।

कतिपय अन्य आचार्यों द्वारा सवितुः का अर्थ निम्न प्रकार से किया गया है।

१. आचार्य रावण–

सवितुः सर्वभावानां प्रसावितुः– समस्त भावों को उत्पन्न करने वाले के।

२. महीधर–

सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो– अन्तर्यामी रुप से प्रेरित करने वाले के।

३. सायण तथा माधवाचार्य–

सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत् स्रष्टुः परमेश्वरस्य–

सर्वान्तर्यामी रुप से सबको प्रेरणा देने वाले तथा समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के।

४.उवट–

सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुः— समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के।

५. प्रपंञ्चसार तन्त्र

अभिध्येयं सदानन्दं परं ब्रह्माऽभिधीयते ।
यत्तु सवितुरित्युक्तं षठ्येकवचनात्मकं ।।

वह सदानन्द परब्रह्म है,जिसके लिये षष्ठी एकवचन में 'सवितुः' का प्रयोग किया गया है।

धातोरिह विनिष्पन्नं प्राणि प्रसव वाचकात् ।
सर्वानां प्राणिजातीनामिति प्रसवितुः सदा ।।

प्राणियों का प्रसव करने के अर्थ वाली 'षुञ् प्राणि प्रसवे' धातु से सविता शब्द निष्पन्न होता है । वह समस्त प्राणियों को उत्पन्न करता है, अतः उसे सविता कहते हैं ।

६. श्री वरदराजाचार्य–

सवितुः जगतां प्रसवितुः, सविता वै प्रसवानामीशे।

सविता का अर्थ है जगत् को उत्पन्न करने वाला । सविता ही समस्त उत्पन्न हुये प्राणियों का ईश्वर है ।

७. श्री विद्यारण्य स्वामी–

सवितुः सकलोत्पत्तिस्थिति संहारकारणम् ।

जो समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है, उस सविता का ।

८. महर्षि भारद्वाज –

सवितुरिति षष्ठ्येकवचनम् । 'षुञ् प्राणि प्रसवे' इत्यस्य धातोरेतद्रूपम । सर्वस्य भूतजातस्य प्रसवितुरित्यर्थः ।

प्राणियों के प्रसव के अर्थ वाली 'षुञ्' धातु से सविता शब्द निष्पन्न होता है । अतः इसका अर्थ है, समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाला ।

यद्यपि मन्त्रों के अनेक अर्थ होते हैं, वास्तव में किसी भी मन्त्र में प्रयोग किये गये शब्दों से ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस मन्त्र में प्रयुक्त 'आदित्य', 'सविता' अथवा 'सूर्य' शब्द का तात्पर्य परमात्मा से है अथवा भौतिक सूर्य से। इसके अतिरिक्त अनेक मन्त्रों में आधिदैविक अर्थ में आदित्य, सूर्य अथवा सविता का अर्थ, भौतिक सूर्य तथा आध्यात्मिक अर्थ में परमात्मा होता है। उदाहरणार्थ निम्नाङ्कित मन्त्र में सविता का अर्थ केवल ब्रह्म ही है, सूर्य आदि अन्य कोई देव नहीं।

सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्तात् सविताधरात्तात्। सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥

ऋग्वेद १०।३६।१४

(सविता पश्चातात्) सविता अर्थात् समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले परमात्मा पीछे से, (सविता पुरस्तात्) सविता देव आगे से, (सविता उत्तरात्तात्) सविता ऊपर से, (सविता अधरात्तात्) सविता नीचे से, (सविता नः सर्वतातिं सुवतु) सविता देव हमें सब ओर से धन, ऐश्वर्य एवं अभिलषित सुख प्रदान करें तथा (सविता नः दीर्घम् आयुः रासताम्) वह सर्व प्रेरक एवं सर्व रक्षक प्रभु हमें दीर्घ आयु प्रदान करें।

जबकि निम्नाङ्कित मन्त्र में प्रयुक्त सूर्य शब्द का तात्पर्य आधिदैविक अर्थ में भौतिक सूर्य तथा आध्यात्मिक अर्थ में परमात्मा है।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

साम पूर्वा.६।५।३ क्रमां० ६२९, यजु. ७।४२ तथा १३।४६

अथर्व. १३।२।३५ तथा २०।१०७।१४ ऋग्. १।११५।१,

मन्त्र का आधिदैविक अर्थ निम्न प्रकार है–

(देवानां अनीकं) देवों का मुख स्थानीय अर्थात् देवों में प्रमुख (चित्रं) यह अद्भुत देव अर्थात् सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है। (मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) यह मित्र, वरुण तथा अग्नि अर्थात् समस्त देवताओं एवं मनुष्यों के चक्षु के समान है क्योंकि इसके प्रकाश में ही सब कुछ स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होता है। (आ अप्राः द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं) उदय होकर इसने द्युलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी को अपने प्रकाश से परिपूर्ण कर दिया है, पूर्ण रूप से आलोकित कर दिया है। (सूर्यः आत्मा जगतः तस्थुषः च) सूर्य, जङ्गम तथा स्थावर अर्थात् इस समस्त चराचर जगत् का आत्मा है।

आध्यात्मिक अर्थ–

(मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) मित्र, वरुण एवं अग्नि आदि महान् देवों का चक्षुरूप अर्थात् समस्त जगत् का दृष्टा, प्रकाशक, पथ प्रदर्शक एवं नियामक (चित्रं देवानां अनीकं उद् अगात्) अद्भुत कान्तिमान रश्मिपुञ्ज अर्थात् अलौकिक प्रकाशस्वरुप परमात्मा विश्व में व्याप्त हुआ है। (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं आ अप्राः) उसने द्युलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी को अपनी आभा से सब ओर से आलोकित कर रखा है। (सूर्यः आत्मा जगतः तस्थुषः च) समस्त प्राणियों को जीवन एवं प्रेरणा देने वला परमात्मा जङ्गम एवं स्थावर सभी का आत्मा है, आधार है।

देवों मे अग्रणी यह सूर्य संसार में समस्त प्राणिमात्र को उसी प्रकार जीवनी शक्ति प्रदान करता है जिस प्रकार शरीर में प्राण। इसीलिये इसे समष्टि प्राण कहा जाता है। प्रश्नोपनिषद् में इसका वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है किन्तु यह स्पष्ट है कि सूर्य केवल उस सीमा तक ही जगत् को प्रेरणा, स्फूर्ति एवं जीवन दे सकता है, जितनी शक्ति उसे भगवान् ने प्रदान की है।

वेद के जिन मन्त्रों में सविता का आशय सूर्य से होता है, उनमें सूर्य के गुणों का स्पष्ट उल्लेख होता है; उदाहरणार्थ–

विश्वा रूपाणि प्रतिं मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति।।

ऋग्वेद, ५।८१।२ यजुर्वेद, १२।३

(कविः) मेधा शक्ति को बढ़ाने वाला सविता (विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते) समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूपों तथा सब प्रकार के ज्ञानों को प्रकट करता है, दिखाता है (द्विपदे चतुष्पदे भद्रं प्रासावीत्) तथा मनुष्यों, पशुओं एवं अन्य सभी प्राणियों के लिये कल्याण को उत्पन्न करता है, उनके लिये मङ्गलकारी एवं सुखद वातावरण तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। (वरेण्यः सविता नाकं व्यख्यत्) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ सूर्य स्वर्ग अथवा द्युलोक को प्रकाशित करता है, (उषसः प्रयाणम् अनु विराजति) तथा उषा के प्रयाण के पश्चात् सुशोभित होता है।

निरुक्त १२।१२।७ में रूपाणि का अर्थ प्रज्ञानानि किया गया है।

(निरुक्त १।१४) के अनुसार नाक शब्द का अर्थ है ऐसा लोक जहाँ दुःख न हो। क=सुख, अक=असुख, (न+अक)=नाक। अतः नाक का अर्थ है वह लोक जहाँ अत्यन्त सुख प्राप्त हो।

सविता शब्द आदित्य की उस स्थिति का वाचक है, जो पूर्ण सूर्योदय से पूर्व की होती है। इस समय अन्तरिक्ष में तो प्रकाश रहता है किन्तु भूमि पर थोड़ा थोड़ा अंधेरा रहता है। यह काल पुरुष की मेधा शक्ति को बढ़ाने वाला होता है। इसीलिये सविता को कविः कहा गया है। सूर्योदय से पूर्व का यह समय मनुष्यों के लिये हर प्रकार से कल्याणकारी एवं स्वास्थ्यवर्धक होता है, इसीलिये सविता को भद्रता अथवा कल्याण उत्पन्न करने वाला कहा गया है।

सविता के उपर्युक्त काल की पुष्टि करते हुये यास्काचार्य जी ने लिखा है—अधोरामः सवित्रः। अधोराम पक्षी को सवित्र कहा जाता है क्योंकि सवितृ काल में ऊपर प्रकाश होता है और नीचे पृथ्वी पर अन्धकार

होता है। इसी के समान अधोराम पक्षी भी ऊपर से श्वेत तथा टाँगो से काला होता है। इसी प्रकार (कृकवाकुः सवित्रः)। 'कृक-कृक' करके बोलने वाला कृकुवाकु पक्षी, जिसे कुकुट अथवा मुर्गा कहते हैं, भी सवित्र कहलाता है क्योंकि यह सविता के काल में बोलता है।

यह स्पष्ट है कि सूर्य समस्त संसार को उत्पन्न करने वाला नहीं है बल्कि वह स्वयं ही भगवान् द्वारा उत्पन्न किया गया है, जैसा कि इस मन्त्र में कहा गया है।

त्वमिन्द्राभिभूरंसि त्वं सूर्यमरोचयः।
विश्वकंर्मा विश्वदेवो महाँ अंसि ॥

ऋग्वेद, ८।९८।२

हे इन्द्र! हे ऐश्वर्यवान् परमात्मा! (त्वं अभिभूः असि) तुम सबका पराभव करने वाले, सब पर शासन करने वाले हो। (त्वं सूर्यं अरोचयः) तुम्हीं ने सूर्य को प्रकाशित किया है। (विश्वकर्मा विश्वदेवः महान् असि)तुम विश्वकर्मा, विश्वदेव तथा महान् हो अर्थात् समस्त जगत के रचयिता हो, सबके इष्टदेव हो तथा सबसे महान् हो।

सूर्य में जो प्रकाश, तेज तथा शक्तियाँ हैं, वह उतनी ही हैं, जितनी भगवान् द्वारा उसमें निहित की गयी गयी हैं। वह तेज एवं शक्तियों का कोई स्वतन्त्र स्रोत नहीं है और उसे भी भगवान् के सत्य एवं अपरिवर्तनीय नियमों का सर्वदा पालन करना होता है।

कठोपनिषद् में इस तथ्य को अत्यन्त आलंकारिक एवं सुन्दर ढंग से कहा गया है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

कठोपनिषद् २।३।३

इस ब्रह्म के भय से ही अग्नि तपती है, इसी के भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से इन्द्र अर्थात् विद्युत चमकती है, इसी के भय से वायु चलती

है तथा पाँचवीं मृत्यु भी इसी के भय से दौड़ दौड़ कर अपना कार्य करती है।

यही तथ्य तैत्तिरीय उपनिषद् २।८ में भी दिया गया है।

गायत्री मन्त्र उपासना का मन्त्र है और उपासना केवल परब्रह्म की ही की जाती है, सूर्य आदि की नहीं। सूर्य चन्द्र आदि से तो केवल उसकी महिमा का बोध होता है इनसे तो केवल उसकी उपमा ही दी जा सकती है और उसकी महानता को एक सीमा तक समझा जा सकता है।

एतावा॑नस्य महि॒माता॒ ज्यायाँ॑श्च॒ पूरु॑षः।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भूतानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑दि॒वि ॥

अथर्व.१९।६।३(पाठभेद) यजु. ३१।३,
साम पूर्वा. ६।४।६ क्र सं. ६२०, ऋग्वेद,१०।९०।३,

(एतावान् अस्य महिमा) यह समस्त ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है, इस विश्व से केवल उसकी महिमा का बोध होता है। (च पूरुषः अतः ज्यायान्) वह पुरुष तो इससे कहीं अधिक महान् और श्रेष्ठ है, (विश्वा भूतानि अस्य पादः) समस्त चराचर जगत् केवल उसका एक पाद है। (अस्य त्रिपाद् अमृतं दिवि) उसके तीन पाद द्युलोक में अपने अमृत स्वरुप में स्थित हैं।

उस महान पुरुष के एक अंश से उत्पन्न होने वाली यह सृष्टि सदा परिवर्तित होती रहती है, बनती और बिगड़ती रहती है किन्तु उसके तीन पाद अर्थात् वह पूर्ण पुरुष अपने अमृत स्वरूप में सदा अविकारी, अपरिवर्तनशील एवं ध्रुव होकर रहता है। वास्तव में सृष्टि रूपी अंश को निकालने के बाद भी वह परमात्मा सदा पूर्ण ही रहता है।

इन्द्रो॒ विश्व॑स्य॑ राजति। शं नो अस्तु द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥

साम. ४।७।१० क्रम. सं. ४५६ यजु. ३६।८

परमात्मा ही समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, जगत् में उसी का प्रकाश शोभायमान हो रहा है, वही इस विश्व पर शासन करता है। हमारे पुरुषों, पक्षियों तथा पशुओं आदि का कल्याण हो।

सूर्य चन्द्र आदि सभी देव ब्रह्माण्ड रूपी विशाल माला की देदीप्यमान मणियाँ हैं, जो परमात्मा द्वारा एक सूत्र में पिरोई हुयी हैं। वह स्वयं इस सूत्र का भी सूत्र है, आधार है। उसी की शक्ति से यह सूत्र स्थिर एवं अक्षीयमाण है।

यो विद्यात्सूत्रं वितंतं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रंस्य यो विद्यात् सविंद्याद् ब्राह्मंणं महत्।।

अथर्ववेद,१०।८।३७

(यः विततं सूत्रं विद्यात्) जो उस सर्वत्र फैले हुए सूत्र को जानता है,(यस्मिन् इमाः प्रजाः ओताः) जिसमें ये प्रजायें पिरोयी हुई हैं और (सूत्रस्य सूत्रं यः विद्यात्) जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, (सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह उस महान ब्रह्म को जानता है।

ये समस्त प्राणी सूत्रात्मा वायु रूपी सूत्र में पिरोये हुये हैं, और वायु का भी वायु, प्राण का भी प्राण, सूत्र का भी सूत्र, वह परब्रह्म है।

सूर्य चन्द्र आदि महान् देव ब्रह्म के विराट रूप के अङ्गमात्र हैं, सब उसी से उत्पन्न हुये और उसी में समर्पित हैं, उसी के आधार पर स्थित हैं। इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

चन्द्रमा मनंसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रंश्चाग्निश्चं प्राणाद्वायुरंजायत।।

यजु. ३१।१२ (पाठ भेद) अथर्व.१९।६।७, ऋग्.१०।९०।१३

सूर्य चन्द्र आदि की उत्पत्ति का आलंकारिक वर्णन करते हुये यहाँ बताया गया है कि (चन्द्रमा मनसः जातः) ब्रह्म के विराट शरीर के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, (चक्षोः सूर्यः अजायत) चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ, (मुखाद् इन्द्रः च अग्निः च) मुख से इन्द्र तथा अग्नि एवं (प्राणाद् वायुः अजायत) प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

यत्रांदित्याश्चं रुद्राश्च वसंवश्च समाहिंता: । भूतं च यत्र भव्यं च सर्वें लोका: प्रतिंष्ठिता: स्कम्भं तं ब्रूंहि कतम: स्विंदेव स: ।। अथर्व.१०।७।२२

जहाँ बारह आदित्य, एकादश रुद्र तथा आठ वसु समाहित हैं, जहाँ भूत, भविष्य, वर्तमान तथा सभी लोक प्रतिष्ठित हैं उस सर्वाधार के विषय में कहो कि वह देव कौन है ? अथवा, (ब्रूहि कतम: स्विदेव स:) कहो वह देव कौन है ।

उत्तर– (तं स्कम्भं) उसको सर्वाधार परब्रह्म कहते हैं ।

यस्य त्रयंस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वें समाहिंता: ।
स्कम्भं तं ब्रूंहि कतम: स्विंदेव स: ।।

अथर्व.१०।७।१३

(यस्य अङ्गे) जिसके शरीर के अवयवों में (त्रयस्त्रिंशद् देवा: समाहिता) तेंतीस देव समाहित हैं, (ब्रूहि कतम: स्वित् एव स:) कहो, वह देव कौन है ?

उत्तर– (तं स्कम्भं) उसको सर्वाधार परब्रह्म कहते हैं ।

सहस्रंशीर्षा पुरुंष: सहस्राक्ष: सहस्रंपात् ।
सभूमिंꣳसर्वतं स्पृत्वाऽत्यंतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।

साम.पू.६।४।३ क्र.सं. ६१७(पाठभेद), यजु. ३१।१
अथर्व.१९।६।१ (पाठ भेद), ऋग्.१०।९०।१ (पाठ भेद)

(सहस्रशीर्षा पुरुष:) वह परम पुरुष परमात्मा सहस्त्रों शिर वाला, (सहस्राक्ष:) सहस्रों नेत्रों वाला तथा सहस्रों पाद वाला है। (स: भूमिं सर्वत: स्पृत्वा) वह इस भूमि को सब ओर से घेर कर, आच्छादित करके (दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्) पाँच स्थूल भूत तथा पाँच सूक्ष्म भूत रुपी दश अवयवों वाले ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसके अन्दर तथा इसका उल्लंघन

करके इसके बाहर भी स्थित है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ इस प्रकार कुल दस इन्द्रियों वाला होने के कारण पुरुष शरीर को भी दशाङ्गुल कहते हैं।

इसके अतिरिक्त नाभि के दश अङ्गुल ऊपर स्थित होने के कारण भी पुरुष हृदय को दशाङ्गुल कहते हैं। अत: मन्त्र का अर्थ हुआ कि असंख्य शिरों, नेत्रों तथा पैरों वाला सर्वव्यापक परमात्मा इस भूमि को सब ओर से आच्छादित करके पुरुष के हृदय में तथा उसके बाहर भी स्थित है।

हमारा उपास्य देव तो वह परब्रह्म ही है जिसे वेद में अनेक स्थानों पर एक मात्र देव कहा गया है तथा जो इस सृष्टि को उत्पन्न करके धारण कर रहा है।

विश्वतंश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतंस्पात् । सं बाहुभ्यां धमंति सं पतंत्रैर्द्यावा-भूमी जनयंन् देव एकः ।।

अथर्व.१३।२।२६ (पाठभेद), यजु. १७।१९
श्वेताश्वतर उप. ३।३ ऋग्. १०।८१।३

(विश्वत: चक्षु: उत विश्वत: मुख:) सब ओर आखों वाला, सब ओर मुख वाला, (विश्वत: बाहु: उत विश्वत: पात्) सब ओर बाहुओं तथा सब ओर पैरों वाला अर्थात् सब का दृष्टा, श्रोता, ज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान्, सर्वगत:, सर्वव्यापक (देव: एक:) वह एकमात्र देव, (द्यावा भूमी) द्युलोक तथा पृथिवी आदि लोकों को (पतत्रै: संजनयन्) अपनी अनन्त शक्तियों से अथवा गतिशील परमाणुओं से एक साथ उत्पन्न करता हुआ (बाहुभ्यां सं धमति) अपने अनन्त बाहुबल अथवा पराक्रम से संसार को सम्यक् रुप से प्राप्त होता है अर्थात् संसार में व्याप्त होकर तथा उसे आधार देकर स्थित रहता है।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्,३।११

(सः भगवान् सर्वानन शिरोग्रीवः) वह परमात्मा सब ओर मुख, शिर तथा ग्रीवा वाला है, (सर्वभूत गुहाशयः) समस्त प्राणियों के हृदय रुपी गुहा में रहने वाला है तथा सर्वव्यापक है । (तस्मात् सः शिवः सर्वगतः) इसलिये वह (शिवः) कल्याण स्वरुप परमेश्वर समस्त स्थानों पर तथा समस्त प्राणियों के प्रति गया हुआ है अर्थात् समस्त प्राणियों को प्राप्त है, उसकी कृपा से कोई प्राणी वंचित नहीं है।

एको देवः सर्व भूतेषु गूढः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६।११

(एकः देवः सर्व भूतेषु गूढः) वह देव केवल एक है तथा समस्त प्राणियों एवं पदार्थों में अन्तर्यामी रुप से स्थित है। गूढ का तात्पर्य यह है कि वह सब भूतों में स्थित होते हुये भी देखा नहीं जा सकता । वह (सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा) सर्वव्यापी और सब प्राणियों का अन्तरात्मा है, (कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः) समस्त प्राणियों के कर्मों का फल देने वाला है तथा समस्त प्राणियों का आधार है, समस्त प्राणी उसी में निवास करते हैं, जिसके कारण उसे जगन्निवास कहा जाता है। (साक्षी चेता केवलो निर्गुणः च) वह सभी प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को तथा समस्त संसार के सम्पूर्ण व्यापार को देखने वाला है तथा स्वयं निर्लिप्त, विशुद्ध एवं ज्ञानस्वरूप होते हुये वह समस्त प्राणियों को चेतना, प्रेरणा एवं ज्ञान प्रदान करने वाला है और सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों से ऊपर है ।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं,
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्,६।७

(तं ईश्वराणां परमं महेश्वरम्) उस ईश्वरों के भी श्रेष्ठ एवं महान ईश्वर, (देवतानां च परमं दैवतम्) तथा समस्त देवताओं के भी परम देवता (पतीनां परमं पतिम्) पतियों अर्थात् रक्षा करने वालों के भी परम पति अर्थात् उनकी भी रक्षा करने वाले (ईड्यम् भुवनेशम् तं देवम्) उस स्तुति एवं प्रशंसा योग्य समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रकाश स्वरूप परमात्मा को (परस्तात् विदाम) हम सबसे श्रेष्ठ जानते हैं।

वास्तव में समस्त ज्ञान, कर्म एवं यज्ञों का उद्देश्य एकमात्र ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की ही उपासना करना है, अन्य किसी की नहीं। ज्ञान के प्रकाश से ही सविता देव के, परमात्मा के उस वरेण्य रूप का दर्शन होता है, जो केवल शिव है, मङ्गलकारी है।

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न,
सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्,४।१८

(यदा अतमः) जिस समय अज्ञानरूप अन्धकार का सर्वथा अभाव हो जाता है, (तत् न दिवा न रात्रिः, न सत् न च असत्) उस समय ज्ञानी के लिये न दिन रहता है, न रात्रि, न सत्, न असत् बल्कि (शिवः एव केवलः) केवल एक मात्र शिव अर्थात् भगवान् का मङ्गलमय रूप ही रह जाता है। (सवितुः) सविता देव का, भगवान् का (तद् अक्षरम् तद्

वरेण्यम्) वही अविनाशी तथा श्रेष्ठ वरण करने योग्य स्वरूप है, (तस्मात् च पुराणी प्रज्ञा प्रसृता) और उसी से यह सनातन ज्ञान उत्पन्न होकर सब ओर फैला हुआ है।

वेद में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि हमे जन्म मरण के चक्र से मुक्ति पानी है, मोक्ष तथा ब्रह्म के उस श्रेष्ठ परम पद को प्राप्त करना है, तो हमें ब्रह्म को ही जानने का प्रयास करना होगा, ब्रह्म की ही उपासना करनी होगी, सूर्य आदि किसी अन्य देव की नहीं।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तंमादित्यवर्णं तमंस: परस्तांत्। तमेव विंदित्वाऽतिं मृत्युमेंति नान्य: पन्थां विद्यतेऽयंनाय।। यजु.३१।१८

(अहम् एतं आदित्य वर्ण तमस: परस्तात् महान्तं पुरुषं वेद) मैं उस आदित्य वर्ण वाले अर्थात् अन्धकार एवं अज्ञान से परे प्रकाश स्वरूप महान् पुरुष को जानता हूँ (तम् एव विदित्वा मृत्युं अति एति) उसी को जानकर ज्ञानी भक्त मृत्यु को पार कर जाता है, (अयनाय अन्य: पन्था न विद्यते) मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेंन तृप्तो न कुतंश्चनोनं: ।तमेव विद्वान्न बिंभाय मृत्योरात्मानं धीरंमजरं युवानम् ।। अथर्व वेद, १०।८।४४

वह कामना रहित, धैर्यवान्, प्रज्ञावान्, अमर, स्वयम्भू, रस से तृप्त अर्थात् आनन्द से परिपूर्ण तथा किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण है। उस धीर, अजर और सदैव तरुण रहने वाले परमात्मा को जानकर ही मृत्यु का भय दूर होता है।

अत: कोई बुद्धिमान व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि जप मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ इस परम पवित्र मन्त्र में सूर्य की उपासना का विधान किया गया

है । स्पष्ट है कि इस मन्त्र का सविता सूर्य नहीं प्रत्युत वह परमपिता परमात्मा है जिसने सूर्य समेत इस समस्त संसार को उत्पन्न किया है तथा जो सूर्य समेत सभी देवताओं का प्रेरक है ।

सविता वै देवानां प्रसविता ।। शतपथ ब्रा.५।४।५।६

सविता ही देवताओं का प्रेरक है ।

३.वरेण्यम्

विभिन्न विद्वानों ने वरेण्य शब्द का अर्थ निम्न प्रकार किया है–

१. महर्षि भरद्वाज

वरेण्यं वरणीयं प्रार्थनीयं नियमादिभि: अपगत कल्मषै: सततं ध्येयमित्यर्थ:।

वरेण्य का अर्थ है (वरणीयं प्रार्थनीयं) प्रार्थना किये जाने योग्य । यम नियमादि साधनों से नष्ट हो गये हैं प्राप जिनके, ऐसे पुरुषों द्वारा सतत् ध्यान किये जाने योग्य ।

२. महर्षि याज्ञवल्क्य–

वरणीयश्च यो नित्यं संसारभयभीरुभि:।

संसार सागर से भयभीत तथा मोक्ष की इच्छा करने वालों द्वारा वरणीय,वन्दनीय ।

३. स्वामी शङ्कराचार्य–

वरेण्यमिति सर्ववरणीयं निरतिशयानन्दरूपम् ।

वरेण्य अर्थात् सर्ववरणीय, निरतिशय आनन्दरूप ।

४. स्वामी दयानन्द –

यद्वरं वर्तुमर्हमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम् ।

पञ्च महायज्ञ विधि

(यद् वरं वर्तुं अर्हम्) जो वरण करने योग्य, अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह वरेण्य है ।

५. विद्यारण्य स्वामी–

वरेण्यं आश्रयणीयम्।, आश्रय लेने योग्य

वरेण्यमाश्रयणीयं यदाधारमिदञ्जगत् ।
भर्गः स्वसाक्षात्कारेणाविद्या तत्कार्यदाहकम् ।।

जो इस जगत् का आधार है तथा सबके द्वारा आश्रय लेने योग्य है, वह भर्ग अपने साक्षात्कार से अविद्या तथा तज्जनित कर्मों का नाशक है ।

६. स्कन्द पुराण—सूक्त संहिता

दीप्तस्य सर्वजन्तूनाम् प्रत्यक्षस्य स्वभावतः।
सवितुः स्वात्मभूतन्तु वरेण्यं सर्व जन्तुभिः।।

(सर्वजन्तूनाम् प्रत्यक्षस्य, स्वभावतः दीप्तस्य) समस्त जन्तुओं में प्रत्यक्ष, आत्मरूप से प्रकाशित तेजोयुक्त (सवितुः स्वात्मभूतन्तु सर्वजन्तुभिः वरेण्यम्) सविता देव का, परमेश्वर का तेज समस्त प्राणियों द्वारा वरण करने योग्य है, ध्यान किये जाने योग्य है ।

७. अग्नि पुराण, २१६।५

वरेण्यं सर्व तेजोभ्यो श्रेष्ठं वै परमं पदम् ।
स्वर्गापवर्गकामैर्वा वरणीयं सदैव हि ।।

(सर्व तेजोभ्यः वरेण्यम्) समस्त तेजों में श्रेष्ठ तथा वरण करने योग्य (श्रेष्ठं वै परमं पदम्) वह परम पद निश्चित रूप से अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा (स्वर्गापवर्गकामैः वा सदैव हि वरणीयम्) स्वर्ग एवं अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखने वालों के द्वारा सदा ही वरणीय है ।

८. वरदराजाचार्य—

वरेण्यम् वृञ् वरणे एण्य प्रत्ययः सर्वेषां सम्भजनीयम् ।

वृञ् वरणे धातु से एण्य प्रत्यय करने पर वरेण्य शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ है श्रेष्ठ, वरण करने योग्य, सब के द्वारा भजन करने योग्य ।

९. प्रपंञ्चसार तन्त्र—

वरेण्यं वरणीयत्वात् सेवनीयतया तथा ।
भजनीयतया सर्वैः प्रार्थनीयतया स्मृतम् ।।

वरण करने योग्य, उपासना करने योग्य, भजन करने योग्य तथा सबके द्वारा प्रार्थना करने योग्य होने के कारण वरेण्य कहा गया है।

१०. आचार्य रावण, महीधर तथा उवट–

वरेण्यम् वरणीयं प्रार्थनीयं ।

वरण करने योग्य तथा प्रार्थना किये जाने योग्य ।

११. सायणाचार्य तथा माधवाचार्य–

वरेण्यम् सर्वैः उपास्यतया ज्ञेयतया च सम्भजनीयं ।

सबके द्वारा उपासनीय, जानने योग्य तथा भजन करने योग्य ।

१२. भट्टोजि दीक्षित–

दीप्यतीति देवः परमात्मा तस्य वरेण्यं सर्वैभजनीयं वृञ्, एण्यः।

प्रकाशित होने के कारण परमात्मा देव है,उसका वरेण्य अर्थात् सबके द्वारा भजन करने योग्य तेज। वृञ् वरणे धातु से एण्य प्रत्यय करने पर वरेण्य शब्द बनता है।

४. भर्गः

भर्ग शब्द का अर्थ है अज्ञान रूपी अन्धकार एवं पापों का नाश करने वाला तथा गति, चेतना, स्फूर्ति एवं प्रकाश देने वाला भगवान् का कल्याणकारी ज्योतिर्मय दिव्य तेज अथवा ज्योतिर्मय दिव्य स्वरुप क्योंकि भगवान् तो केवल आनन्द अथवा प्रकाश स्वरुप ही हैं, जैसा कि वेद में कहा गया है।

स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

अथर्ववेद.१०।८।१

जिसका केवल आनन्दमय अथवा प्रकाशमय स्वरुप ही है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा भर्ग शब्द का अर्थ निम्न प्रकार किया गया है।

१. महर्षि भरद्वाज–

भञ्जो आमर्दने, भृजी भर्जने इत्येतयोर्धात्वोर्भजतां पाप भञ्जन हेतुभूतमित्यर्थः। भ्राजृ दीप्तौ इत्यस्य धातोर्वा भर्गः तेज इत्यर्थः।

'भञ्जो आमर्दने' तथा 'भृजी भर्जने' धातु से भर्ग शब्द सिद्ध होता है, अतः इसका अर्थ है (भजतां पाप भञ्जन हेतु भूतम्) भजन करने वालों, उपासना करने वालों के पापों का नाश करने वाला। 'भ्राजृ दीप्तौ' धातु से सिद्ध करने पर भर्ग का अर्थ प्रकाशमान दिव्य तेज होता है। भगवान् का यही पापनाशक, कल्याणकारी प्रखर तेज अथवा ज्योतिर्मय दिव्यस्वरूप दुःख, अज्ञान एवं अन्य सभी प्रकार के अन्धकारों का नाश करने वाला तथा हमारा रक्षक एवं मार्ग दर्शक है।

२. माधवाचार्य एवं सायणाचार्य–

अविद्या तत्कार्ययोर्भर्जनाद् भर्गः स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः।

अविद्या तथा उसके कार्यों का भर्जन करने वाले स्वयं ज्योति परब्रह्मात्मक तेज को भर्ग कहते हैं। (यह परब्रह्मात्मक तेज ही ब्रह्म का ज्योतिर्मय स्वरूप है।)

३. सन्ध्या भाष्य–

भञ्जन्ति पापानि संसारजन्ममरणादि दुःखमूलानि येन असौ भर्गः।

संसार के जन्म मृत्यु आदि दुःखों के मूलभूत पापों का जो नाश करता है, वह भर्ग है।

४. अग्नि पुराण–

भादीप्ताविति रूपं हि भ्रस्ज पाकेऽर्थे हि स्मृतम्
ओषध्यादिकं पचति भ्राजृ दीप्तौ ततो भवेत्।
भर्गस्याद् भ्राजत इति बहुलं वेद ईरितम्॥

दीप्ति अर्थ में भा धातु से निर्मित भर्ग का अर्थ तेज रूप है। 'भ्रस्ज पाके' धातु से सिद्ध करने पर भर्ग का अर्थ होता है पकाने वाला क्योंकि यह भर्ग समस्त औषधियों तथा पदार्थों आदि को पकाता है, पचाता है तथा 'भ्राजृ दीप्तौ' धातु से बनाने पर भर्ग का अर्थ प्रकाश होता है। (भ्राजत इति स्याद् भर्गः) प्रकाशित होता है इसलिये भर्ग। (वेदे बहुलं ईरितम्) इसका वर्णन वेद में अनेक प्रकार से किया गया है।

५. ऋषि याज्ञवल्क्य–

भ्रस्ज पाके भवेद्धातुर्यस्मात् पाचयते ह्यसौ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगदन्ते हरत्यपि॥

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य, ९।५२

(भ्रस्ज पाके भवेद् धातुः) पकाने अथवा पचाने के अर्थ वाली भ्रस्ज धातु से भर्ग शब्द बनता है। (हि यस्मात् असौ पाचयते) क्योंकि यह औषधियों आदि को पकाता है इसलिये भर्ग है। (अन्ते हरत्यपि) तथा अन्त में समस्त पदार्थों का हरण भी करता है, उन्हें लय करता है। (यस्मात् जगत् भ्राजते दीप्यते) 'भ्राजृ दीप्तौ' धातु से भी भर्ग शब्द बनता है। इससे समस्त जगत प्रकाशित होता है इसलिये इसे भर्ग कहते हैं।

कालाग्नि रूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः।
भ्राजते तत्स्वरूपेण तस्माद्भर्गः स उच्यते॥

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य, ९।५३

जो परमात्मा प्रलयकाल में सात प्रकार की ज्वालाओं तथा सात प्रकार की रश्मियों से युक्त कालाग्नि का रूप धारण करता है, वह सदैव अपने ज्योतिर्मय स्वरूप से प्रकाशमान एवं शोभायमान रहता है। अतः भगवान् के दिव्य ज्योतिर्मय आनन्द स्वरूप को भर्ग कहा जाता है।

भर्ग के तीन अक्षरों भ, र तथा ग के अर्थ निम्न प्रकार हैं।

भेति भासयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः ।
ग इत्यागच्छतेऽजस्रं भरणात् भर्ग उच्यते ।।

बृहद्योगि याज्ञवल्क्य, अध्याय,९

भ– सब लोकों को प्रकाशित करता है ।

र– प्रजाओं को आनन्दित करता है ।

ग– निरन्तर सृष्टि की उत्पत्ति, भरण पोषण एवं प्रलय करता है । अथवा, यह अजस्र शक्ति का स्रोत है और निरन्तर प्राणि मात्र का भरण पोषण करता है ।

इस प्रकार भ, र तथा ग से बना हुआ शब्द भर्ग कहा जाता है।

६. मैत्रायण्युपनिषद् ६।७–

भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गः भर्जयन्तीति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ । भ इति भासयतीमान् लोकान्, र इति रञ्जयतीमानि भूतानि, ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्माद् इमाः प्रजास्तस्माद् भ-र- गत्वात् भर्गः ।

भा का अर्थ गति भी होता है । जिससे समस्त संसार को गति तथा प्रेरणा प्राप्त होती है, वह भर्ग है । अथवा जो पापों का, दुःखों का भर्जन करे, नाश करे वह भर्ग है । प्रलयकाल में संसार का नाश करने वाला जो रुद्र है, वह भर्ग है, ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं । अथवा,

भ– भासयतीमांल्लोकानिति ।

इन समस्त लोकों को प्रकाशित करता है ।

र– रञ्जयति इमानि भूतानि ।

इन समस्त प्राणियों को आनन्दित करता है ।

ग– गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्

भ–र–गत्वात् भर्गः ।

प्रलय काल में समस्त सृष्टि इसमें लय होती है तथा सृष्टि काल में इससे उत्पन्न होती है, इसलिये भ, र, ग, से बना हुआ भर्ग उक्त गुणों से युक्त है ।

इस व्युत्पत्ति से तो 'भर्ग' शब्द का अर्थ, ब्रह्म का ज्योतिर्मय दिव्य स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

७. स्वामी शङ्कराचार्य–

भर्ग इत्यविद्यादि दोष भर्जनात्मक ज्ञानैकविषयत्वम्।

भर्ग अविद्या आदि दोषों को नष्ट करने वाला ज्ञान रुप है।

८. स्वामी दयानन्द–

यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद्भर्गः। पञ्चमहायज्ञविधिः

जो उपद्रव रहित, निर्गुण, शुद्ध, सकल दोष रहित परिपक्व एवं परमार्थ विज्ञान स्वरूप है, वह भर्ग है।

इस प्रकार स्वामी शङ्कराचार्य एवं स्वामी दयानन्द के अनुसार भर्ग का अर्थ है, ब्रह्म का दिव्य, ज्योतिर्मय, विशुद्ध, आनन्दमय ज्ञान स्वरूप।

९. वरदराजाचार्य–

भर्गस्तेजः भञ्जनाद् भर्ग प्रकाशप्रदानेन जगतो बाह्याभ्यन्तरतमो भञ्जकत्वात्भर्जनाद्वा कालात्मकतया सकल कर्म फल पाकहेतुत्वाद् भरणाद्वा वृष्टिप्रदानेन भूतानां भरणहेतुत्वात्।

भर्ग वह तेज है, जो प्रकाश द्वारा जगत् के बाह्य तथा आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करता है। तम का भञ्जन अथवा भर्जन करने के कारण इसे भर्ग कहा जाता है। अथवा, कालरूप होने के कारण समस्त कर्मों के फलों को परिपक्व करने से अथवा वृष्टि प्रदान करके प्राणियों का भरण पोषण करने से इसे भर्ग कहा जाता है।

१०. गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग १।३२–

वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं

भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः।

कर्माणिधियस्तदु ते ब्रवीमि

प्रचोदयात्सविता याभिरेति ।।

मौद्गल्य ने मैत्रेय से कहा–

वेद छन्द हैं। कवि अर्थात् श्रेष्ठ क्रान्तदर्शी विद्वान् सविता के वरेण्य, अतिश्रेष्ठ भर्ग को अन्न कहते हैं। यह भी तुम्हें बताता हूँ कि धियः कर्म हैं, जिनको सविता प्रेरित करता है और जिनसे मनुष्य आगे बढ़ता है।

वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से ही प्राणियों की उत्पत्ति तथा उनका भरण पोषण होता है। इसलिये भर्ग को अन्न भी कहा जाता है। सविता ही समस्त संसार को उत्पन्न करने वाला है अतः उसका भर्ग अन्नरुप होना आवश्यक है क्योंकि बिना अन्न के सृष्टि का सृजन एवं संरक्षण हो ही नहीं सकता। सविता का यह अन्न रूपी भर्ग ही वास्तव में सबसे वरेण्य एवं श्रेष्ठ है और इसी के आधार पर तथा इसी की प्रेरणा से समस्त प्राणी अपने अधिकांश कार्य करते हैं और यह अन्न रुपी भर्ग ही उन्हें उन कार्यों के लिये प्रेरित करता है।

११. माधवाचार्य–

यद्वा भर्गः शब्देनान्नमभिधीयते । यः सविता देवो नो धियः प्रचोदयति तस्य प्रसादादन्नादिलक्षणं फलं धीमहि धारयाम तस्याधारभूता भवेमेत्यर्थः।

भर्ग शब्द का अर्थ अन्न है। जो सविता देव हम सबके कर्मों को प्रेरणा देता है उसी के प्रसाद से अन्नादिरुप फल को हम धारण करते हैं, प्राप्त करते हैं।

वास्तव में शरीर में प्राण ही तेज तथा बल है। यदि शरीर में प्राण न हों, तो वह मृत हो जाता है, उसमें कोई तेज अथवा बल नहीं रहता और इस प्राण का आधार है अन्न। इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद् में प्राण को ही अन्न कहा गया है।

प्राणो वा अन्नम्। तैत्तिरीय उप.३।७

प्राण ही अन्न है। इस प्रकार तेज अथवा भर्ग जो कि वास्तव में प्राण ही है, अन्न है।

यह स्पष्ट है कि प्राण, तेज तथा बल का वास्तविक आधार अन्न ही है। भगवान् ने अन्न द्वारा ही हमें तेज तथा बल प्रदान किया है। इस प्रकार भगवान् का वरेण्य तेज अन्न के रूप में प्राणिमात्र को प्राप्त है। वास्तविकता यह है कि न केवल भगवान् के तेज को ही अन्न कहते हैं, बल्कि भगवान् स्वयं अपने को ही अन्न कहते हैं।

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्त-मद्मि ॥

तैत्तिरीय उपनिषद्,३।१०।६ (पाठभेद), साम. पूर्वा.,६।१।९ क्रम सं.,५९४

(अहम् ऋतस्य प्रथमजा अस्मि) मैं सत्य का, शाश्वत एवं सत्य नियमों का तथा ब्रह्मज्ञान अथवा वेदज्ञान का प्रथम प्रवर्तक एवं प्रकाशक हूँ और (देवेभ्यो पूर्वं अमृतस्य नाम) समस्त देवों से पूर्व प्रकट होने वाला तथा अमृत नाम वाला हूँ, अमृत स्वरूप हूँ। (अहम् अन्नम्) मैं अन्न हूँ, (अन्नरूप में भगवान् ही सबको धारण करता है) (यो मा ददाति) जो अन्न स्वरूप मुझको, दूसरे को देता है, (स: इत् एवं मा आवत्) वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है। (क्योंकि जिस भूखे व्यक्ति की अन्न से रक्षा होती है, वह भी तो भगवान् का ही रूप है।) (अन्नं अदन्तं अद्मि) अन्न का दान न करते हुये जो स्वयं अकेले ही अन्न को खाता है, उसे मैं खा जाता हूँ।

यह कथन कितना महत्वपूर्ण है कि भगवान् स्वयं अन्न स्वरूप हैं। अन्न के द्वारा ही भगवान् समस्त प्राणियों का पालन पोषण करते हैं। नि:सन्देह भूखे प्राणी के लिये अन्न ही भगवान् का वास्तविक रूप है। प्राणियों की उत्पत्ति तथा उनके जीवन के लिये अन्न के महत्व को दृष्टि में रखते हुये ही ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु भृगु ने पहले यह समझा कि अन्न ब्रह्म है।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।।

तैत्तिरीय उपनिषद्,३।२।१

अन्न ब्रह्म है, यह जाना। (अन्नात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते) क्योंकि निःसन्देह अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, (जातानि अन्नेन जीवन्ति) उत्पन्न होकर अन्न से जीवित रहते हैं और अन्त में (प्रयन्ति अन्नं अभिसंविशन्ति) संसार से प्रयाण करते समय अन्न में ही लीन हो जाते हैं, दूसरों का अन्न बन जाते हैं।

गोपथ ब्राह्मण में भर्ग के भिन्न भिन्न रूपों का महत्वपूर्ण वर्णन निम्न प्रकार किया गया है।

अथ संस्थिते संस्थिते सवने वाचयति मयि भर्गो मयि महो मयि यशो मयि सर्वमिति पृथिव्येव भर्गोऽन्तरिक्ष एव महो द्यौरेव यशोऽप एव सर्वम् ।।१।। अग्निरेव भर्गो वायुरेव मह आदित्य एव यशश्चन्द्रमा एव सर्वम् ।।२।। वसव एव भर्गो रुद्रा एव मह आदित्या एव यशो विश्वेदेवा एव सर्वम् ।।३।।गायत्र्येव भर्गस्त्रिष्टुवेव महो जगत्येव यशो नुष्टुबेव सर्वम् ।।४।। प्राच्येव भर्गः प्रतीच्येव मह उदीच्येव यशोदक्षिणैव सर्वम्।।५।। वसन्त एव भर्गो ग्रीष्म एव महो वर्षा एव यशः शरदेव सर्वम् ।।६।। त्रिवृदेव भर्गः पञ्चदश एव महः सप्तदश एव यश एकविंश एव सर्वम् ।।७।। ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वम् ।।८।। होतैव भर्गोऽध्वर्युरेव मह उद्गातैव यशो ब्रह्मैव सर्वम् ।।९।। वागेव भर्गः प्राण एव महश्चक्षुरेव यशो मन एव सर्वम् ।।१०।। गोपथ ब्राह्मण पूर्व. ५।१५

यज्ञ के प्रत्येक सवन के अन्त में ब्रह्मा यह प्रार्थना करता है कि (मयि भर्गः मयि महो मयि यशो मयि सर्वम् इति) मुझमें तेज, महत्व, यश और समस्त ज्ञान हो।

(पृथिवी एव भर्गः अन्तरिक्षः एव महः द्यौरेव यशः अपः एव सर्वम्) इस प्रार्थना में पृथिवी ही भर्ग है अन्तरिक्ष ही महः है, द्यौ ही यश है और (अपः लोकः) अथवा ब्रह्मलोक ही सब है ।।१।। (अग्निः एव भर्गः, वायुः एव महः, आदित्यः एव यशः, चन्द्रमा एव सर्वम्) अग्नि ही भर्ग है, वायु ही महः है, आदित्य ही यश है तथा चन्द्रमा ही सब है ।।२।। (वसवः एव भर्गः रुद्राः एव महः, आदित्याः एव यशः विश्वेदेवाः एव सर्वम्) वसु ही भर्ग हैं, रुद्र ही महः हैं, आदित्य ही यश हैं तथा विश्वेदेव ही सब हैं ।।३।। (गायत्री एव भर्गः, त्रिष्टुप् एव महः, जगती एव यशः अनुष्टुप् एव सर्वम्) गायत्री ही भर्ग है, त्रिष्टुप् ही महः है, जगती ही यश है तथा अनुष्टुप् ही सब है ।।४।। (प्राची एव भर्गः प्रतीची एव महः उदीची एव यशः दक्षिण एव सर्वम्) पूर्व दिशा ही भर्ग है, पश्चिम ही महः है, उत्तर ही यशः है और दक्षिण दिशा ही सब है ।।५।। (वसन्तः एव भर्गः, ग्रीष्मः एव महः, वर्षाः एव यशः, शरत् एव सर्वम्) वसन्त ऋतु ही भर्ग है, ग्रीष्म ही महः है, वर्षा ही यश है और शरद् ही सब है ।।६।। (त्रिवृत् एव भर्गः पञ्चदशः एव महः सप्तदशः एव यशः एकविंशः एव सर्वम्) त्रिवृस्तोम ही भर्ग है, पञ्चदश स्तोम ही महः है, सप्तदश स्तोम ही यश है और एकविंश स्तोम ही सब है ।।७।। (ऋग्वेदः एव भर्गः यजुर्वेदः एव महः सामवेदः एव यशः ब्रह्मवेदः एव सर्वम्) ऋग्वेद ही भर्ग है, यजुर्वेद ही महः है, सामवेद ही यश है तथा अथर्ववेद ही सब है ।।८।। (होता एव भर्गः अध्वर्युः एव महः उद्गाता एव यशः, ब्रह्मा एव सर्वम्) होता ही भर्ग है, अध्वर्यु ही महः है, उद्गाता ही यश है और ब्रह्मा ही सब है ।।९।। (वाक् एव भर्गः, प्राणः एव महः, चक्षुः एव यशः, मनः एव सर्वम्) वाणी ही भर्ग है, प्राण ही महः है, चक्षुः ही यश है और मन ही सब है ।।१०।।

उक्त विवरण निम्न प्रकार है ।

	भर्गः	महः	यशः	सर्वम्
लोक	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक	अपः (ब्रह्मलोक)
तेज	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा
देवता	वसवः	रुद्राः	आदित्याः	विश्वेदेवाः

छन्द	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती	अनुष्टुप्
दिशायें	प्राची	प्रतीची	उदीची	दक्षिण
ऋतुयें	वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा	शरद
स्तोम	त्रिवृत्	पञ्चदश	सप्तदश	एकविंश
वेद	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद (ब्रह्मवेद)
ऋत्विज	होता	अध्वर्यु	उद्गाता	ब्रह्मा
अध्यात्म	वाणी	प्राण	चक्षु	मन

इस प्रकार (१) लोकों मे पृथिवी भर्ग है। (२) देवों में अग्नि भर्ग है। (गीता में कहा गया है **वसूनां पावकश्चास्मि**— वसुओं में मैं अग्नि हूँ) (३) देवगणों में अष्टावसु अर्थात् आठ वसु भर्ग हैं। (४) छन्दों में गायत्री भर्ग है। (गीता में कहा गया है **गायत्री छन्दसामहम्**— छन्दों में मैं गायत्री हूँ।) (५) दिशाओं में पूर्व दिशा भर्ग है। (६) ऋतुओं में वसन्तु ऋतु भर्ग है। (गीता में कहा गया है **ऋतूनां कुसुमाकरः** ऋतुओं में मैं वसन्तु ऋतु हूँ) (७) स्तोमों में त्रिवृत् स्तोम भर्ग है। (८) वेदों में ऋग्वेद भर्ग है। (९) ऋत्विजों में होता भर्ग है तथा (१०) इन्द्रियों में वाणी भर्ग है।

यह उल्लेखनीय है कि छान्दोग्य उपनिषद् में वाणी को ही गायत्री कहा गया है। यहाँ वाणी को भर्ग कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि गायत्री स्वयं ही भर्ग है। इसीलिये यहाँ कहा गया है, '**गायत्र्येव भर्गः।**' गायत्री ही भर्ग है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में किये गये विशिष्ट उल्लेख

गायत्री उपासना से ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्रह्म तेज की प्राप्ति होती है। गायत्री का तेज अथवा भर्ग से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है अतः गायत्री को ही तेज तथा ब्रह्मवर्चस कहा गया है।

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री। एतरेय ब्रा.१।५,

निःसन्देह गायत्री तेज तथा ब्रह्मवर्चस है।

बल तथा तेज का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव कहा गया है—

वीर्यं वै भर्गः ।

निःसन्देह भर्ग वीर्य है, बल है ।

वास्तव में मनुष्य को बल, तेज तथा शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता होती है । यह सभी भर्ग शब्द में निहित हैं । इनके अतिरिक्त जो सात्विक आत्मिक तेज होता है, वह भी भर्ग शब्द से परिलक्षित होता है। संक्षेप में भर्ग शब्द ब्रह्मतेज का वाची है और यह ब्रह्म तेज हमें गायत्री उपसना से प्राप्त होता है, जैसा कि स्वयं वेद में ही कहा गया है ।

इस प्रकार भर्ग शब्द का यह सन्देश है कि हमें सदैव पापों से दूर रहकर अपने अन्दर तेज, आत्मिक शक्ति तथा बल को धारण करने का प्रयास करना चाहिये क्योंकि निर्बल व्यक्ति तो भगवान् को प्राप्त कर ही नहीं सकता ।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो,

न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-

स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।।

मुण्डकोपनिषद्,३।२।४

(अयम् आत्मा बलहीनेन न लभ्यः) यह आत्मा न तो बलहीन पुरुष द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, (न च प्रमादात् वा अलिङ्गात् तपसः अपि) न प्रमादी अथवा आलस्य से ग्रस्त पुरुष द्वारा और न वैराग्य रहित दिखावटी तप से। (यः तु विद्वान् एतैः उपायैः यतते) जो विद्वान् इन उपायों से अर्थात् आत्मिक एवं शारीरिक बल, दृढ़ इच्छा शक्ति, जागरुकता, कठिन परिश्रम, वैराग्य, ज्ञान तथा तप से निरन्तर प्रयास करता है, (तस्य एषः आत्मा ब्रह्मधाम विशते) उसी का यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है। (क्योंकि तब भगवान् कृपा करके स्वयं उसको अपना दर्शन करा देते हैं।)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष,

आत्मा विवृणुते तनूःस्वाम् ।।

मुण्डकोपनिषद् ३।२।३ कठोपनिषद्,१।२।२३

यह परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत उपदेश आदि सुनने से प्राप्त हो सकता है । जिसको यह (वृणुते) चुन लेता है, अपना लेता है अर्थात् जिस पर इसकी कृपा हो जाती है, उसी के द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है । उसी के लिये यह आत्मा (स्वाम् तनूम्) अपने स्वरुप को स्वयं (विवृणुते) प्रकट कर देता है ।

५. देवस्य

वैदिक वाङ्मय के अनुसार सूर्य,चन्द्र,पृथिवी, अग्नि,वायु आदि तेंतीस देवता हैं,जो प्राणि मात्र का कल्याण करते हैं,जो जगत् का आधार हैं तथा जो परब्रह्म की प्रमुख शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूर्य,चन्द्र,अग्नि आदि को देव क्यों कहा जाता है और इसका क्या तात्पर्य है,यह समझने के लिये देव शब्द का अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है ।

दिवु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति अर्थ वाली दिवु धातु से अच् प्रत्यय करने पर देव शब्द सिद्ध होता है।

अत: देव शब्द का निर्वचन हुआ (दीव्यति चराचरं जगत्) जो चराचर जगत् को प्रकाशित करता है (प्रकाशस्वरूपो वा) अथवा जो स्वयं प्रकाशस्वरुप है, वह देव है।

देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा,द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ।

निरुक्त. ७।४।१५

दान, दीपन, द्योतन करने अथवा द्युस्थान में स्थित होने से देव होता है ।

दिवितिष्ठीति देवः । द्युलोक में स्थित होने से देव कहा जाता है ।

देव शब्द से स्वार्थ (स्व+अर्थ) अर्थात् अपने अर्थ में ताल प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है ।

यो देव: सा देवता। जो देव है वही देवता है।

इस प्रकार हमें जीवन, वृष्टि, प्राण, वायु, अन्न, ऊर्जा आदि सभी कुछ देने, स्वयं प्रकाशमान होने तथा सबको प्रकाश देने अथवा द्युलोक में स्थित होने के कारण सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत, वायु आदि देव अथवा देवता कहे जाते हैं । इन सभी देवताओं को शक्ति, गति, कान्ति, प्रकाश आदि सब कुछ देने के कारण भगवान् इन देवों के भी देव, परम देव हैं, देवाधिदेव हैं। इन देवताओं का विवरण निम्न प्रकार है ।

अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति । बृहदारण्यक उपनिषद्,३।९।२

(अष्टौ वसव: एकादश रुद्रा: द्वादश आदित्या: ते एक त्रिंशत्) आठ वसु, ग्यारह रूद्र, बारह आदित्य ये ३१ हुये । (इन्द्र: च एव प्रजापति: च इति त्रयस्त्रिंशौ) इन्द्र और प्रजापति मिलकर तैंतीस हो गये ।

वसु रुद्र तथा आदित्य का विवरण निम्न प्रकार है–

आठ वसु–

अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्चनक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳसर्वꣳहितमिति तस्माद् वसव इति । बृहदारण्यक उपनिषद्,३।९।३

अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा एवं नक्षत्र ये आठ वसु हैं, क्योंकि इन्हीं में यह सब जगत् निहित है । इन्हीं के आधार पर समस्त प्राणी वसते हैं, अत: ये वसु हैं ।

ग्यारह रुद्र–

दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्यादुत्क्रा-मन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।

बृहदारण्यक उपनिषद्,३।९।४

पुरुष में दश प्राण तथा आत्मा ये ग्यारह रुद्र हैं। जब ये इस मर्त्य शरीर से निकलते हैं, तब उस मृतक के सम्बन्धियों तथा मित्रों आदि को रुलाते हैं। क्योंकि ये रुलाते हैं अत: इन्हें रुद्र कहा जाता है।

बारह आदित्य–

द्वादश वै मासा: संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति।

बृहदारण्यक उपनिषद्, ३।९।५

जो वर्ष के बारह महीने होते हैं, वे ही आदित्य हैं। क्योंकि ये इन सब प्राणियों की आयु आदि लेते हुये जाते हैं, अत: आदित्य कहे जाते हैं।

इन्द्र कौन है तथा प्रजापति कौन है, यह पूछने पर महर्षि याज्ञवल्क्य ने बताया कि आकाश में गड़गड़ाने वाली विद्युत इन्द्र है तथा यज्ञ प्रजापति है।

देवों अथवा देवताओं के सम्बन्ध में यजुर्वेद का निम्नाङ्कित मन्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवतां चन्द्रमां देवता वसंवो देवतां रुद्रा देवतां ऽऽदित्या देवतां मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुंणो देवतां।

यजुर्वेद, १४।२०

इन देवों की प्रशंसा एवं स्तुति के अनेक मंत्र हैं किन्तु उनका उद्देश्य इन देवों की उपासना नहीं, बल्कि उनके प्रति अपना प्रेम एवं आदर प्रकट करना तथा उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना है क्योंकि इन्हीं देवों के अंशो से हमारा शरीर बना है और अपने अंशरूप से ये सब देवता हमारे शरीर में निवास करके उसे जीवित एवं पुष्ट रखते हैं।

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥

अथर्ववेद, ११।८।१८

(यदा त्वष्टा यः त्वष्टुः उत्तरः पिता) जब त्वष्टा अर्थात् परमात्मा, जो कि त्वष्टा अर्थात् जीवात्मा का पिता तथा उच्चतर श्रेष्ठ त्वष्टा है, ने शरीर में (व्यतृणत्) इन्द्रियों के विविध छिद्र निर्मित कर दिये, तब मरण धर्मा शरीर को अपना गृह बनाकर (देवाः पुरुषं आविशन्) देवता पुरुष शरीर में प्रविष्ट हो गये।

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥

अथर्ववेद,११।८।३२

(तस्माद् वै विद्वान्) इसलिये ज्ञानी विद्वान् निश्चय से (पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते) इस पुरुष को मानता है कि यह ब्रह्म है। (हि सर्वाः देवता गोष्ठे गावः इव अस्मिन् आसते) क्योंकि इस पुरुष शरीर में सब देवता उसी प्रकार रहते हैं, जैसे गोशाला में गौयें।

ऐतरेय उपनिषद् १।२।४ में यह वर्णन निम्न प्रकार आया है।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

(अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्) अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ। (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) वायु प्राण होकर नासिका में प्रविष्ट हुआ। (आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) सूर्य चक्षु बनकर आँख में प्रविष्ट हुआ। (दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्)

दिशायें श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हुयीं। (ओषधि वनस्पतय: लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्) ओषधियाँ और वनस्पतियाँ लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुयीं। (चन्द्रमा: मन: भूत्वा हृदयं प्राविशत्) चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ। (मृत्यु: अपान: भूत्वा नाभिं प्राविशत्) मृत्यु अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट हुआ। (आप: रेत: भूत्वा शिश्नं प्राविशन्) तथा जल वीर्य बनकर शिश्न में प्रविष्ट हुआ।

यद्यपि समस्त देवता अपने अपने अंशों के रूप में शरीर में प्रवेश कर गये और शरीर का निर्माण हो गया फिर भी उसमें जीवन का संचार नहीं हुआ। तब ब्रह्म ने सोचा कि यह समस्त देवता मेरे बिना शरीर में कैसे कार्य कर सकेंगे, शरीर को जीवन कैसे दे सकेंगे, तब वह अपने अंश अर्थात् जीवात्मा के रूप में शरीर में प्रविष्ट हुआ।

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। ऐतरेय उपनिषद्,१।३।१२

(स एतमेव सीमानं विदार्य) वह इस शिर के ऊपरी भाग का विदारण करके (एतया द्वारा प्रापद्यत) इसी द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) से शरीर में प्रवेश कर गया। (सा एषा विदृति: नाम द्वा:) वह यह विदृति नामक द्वार है। (तत् एतत् नान्दनम्) वह यह आनन्दप्रद है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड अर्थात् शरीर में देवों की समानता है।

यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे।

जैसा ब्रह्माण्ड में है, वैसा ही पुरुष शरीर में है।

जैसा समष्टि में है, वैसा ही व्यष्टि में है। दोनों में केवल आकार, परिमाण तथा शक्ति का भेद है। जो महान गति चक्र समस्त सृष्टि में अनवरत चलता रहता है, ब्रह्माण्ड में जो गतिशीलता रहती है, वही लघु रूप में एक छोटे से अदृश्य परमाणु में भी विद्यमान है, ऐसी है भगवान् की महिमा।

यही वामन अवतार का रहस्य है। विष्णु का जो विराट रूप है, वही

अपने लघुरूप में, वामन रूप में, पुरुष है।

वामनो ह विष्णुरास। शतपथ ब्राह्मण.१।२।५।५

निःसन्देह विष्णु ही वामन था।

चराचर जगत् एवं सम्पूर्ण सृष्टि के सतत् कल्याण में लगे हुए इन महान देवों के प्रति कृतज्ञता एवं सम्मान प्रकट करना, नतमस्तक होना तथा उनकी शुद्धता एवं पवित्रता के लिये सतत् प्रयास करना हमारा परम कर्तव्य है।

इसीलिये वैदिक संस्कृति का प्रयास रहा है कि हम इन देवताओं की सुमति में रहें, हम उनके मित्र बनकर परस्पर एक दूसरे का कल्याण करें।

वैश्वानरस्यं सुमतौ स्यांम राजा हि कं भुवंनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वंमिदं वि चंष्टे वैश्वानरो यंतते सूर्येण ॥

ऋग्वेद,१।९८।१ यजुर्वेद, २६।७

(वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम) समस्त प्राणियों को ले जाने वाले अर्थात् उन्हें जीवित रखकर गति देने वाले तथा समस्त प्राणियों में व्याप्त उस वैश्वानर अग्नि की हम सुमति में रहें अर्थात् वह सदा हमारे लिये मङ्गलकारी हो, जो (राजा हि कं भुवनानाम् अभिश्रीः) निश्चय ही समस्त लोकों का (राजा) देदीप्यमान रक्षक एवं उन्हें (क) सुख देने वाला, उनका अभिश्रयणीय अर्थात् सर्व हितकारी आश्रय है। (इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे) यहाँ उत्पन्न होकर यह अग्नि इस समस्त विश्व को प्रकाशित करता है। (वैश्वानरो यतते सूर्येण) तथा यह वैश्वानर अग्नि, सूर्य के साथ (संयतते) मिलकर यत्न करते हुये ताप, ऊर्जा एवं प्रकाश देकर जगत् का कल्याण करता है। पृथिवी लोक में स्थित अग्नि तथा द्युलोक में स्थित सूर्य मिलकर, संयुक्त रूप से प्रयास करके जगत् को जीवित रखते हैं तथा उसका कल्याण करते हैं।

वैश्वानर शब्द के अनेक अर्थ हैं। परमात्मा तथा अग्नि वैश्वानर हैं क्योंकि यह विश्व को ले जाते हैं, उन्हें गति देते हैं, चलाते हैं तथा सभी प्राणियों को भली प्रकार प्राप्त होते हैं।

आधिभौतिक क्षेत्र में राजा तथा जनता का नेतृत्व करने वाले श्रेष्ठ सदाचारी विद्वान् पुरुष भी वैश्वानर हैं क्योंकि वह जनता को कल्याणकारी मार्ग पर ले जाते हैं। निरुक्त में वैश्वानर का निर्वचन निम्न प्रकार किया गया है–

विश्वान्नरान् नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। निरुक्त ७।२०

(क) विश्वान् नरान् नयति इति वैश्वानरः।

यह सब मनुष्यों को ले जाता है, इसलिये वैश्वानर है। इस अर्थ में परमेश्वर, राजा, विद्वान् और अग्नि वैश्वानर हैं। परमेश्वर सर्वनायक है, राजा प्रजाओं का नेता है, विद्वान् समाज का नेता होता है तथा यानों में प्रयोग की गयी अग्नि अथवा विद्युत सबको इधर उधर ले जाती है।

(ख) विश्वे नरा एनं नयन्ति इति वा।

अथवा, समस्त मनुष्य इसे प्राप्त करते हैं, इसलिये यह वैश्वानर है। परमात्मा की कृपा तथा अग्नि सभी को प्राप्त होती है।

देवों की सुमति में रहना, उनका मित्र बनकर रहते हुये परस्पर एक दूसरे का हित करना, यह हमारा तथा देवताओं का आदर्श सम्बन्ध है। इसमें उपासक तथा उपास्य का सम्बन्ध नहीं है, केवल मित्र एवं सखा का सम्बन्ध है।

हमारी उदार संस्कृति की यह विशेषता है कि जो भी हमारा उपकार तथा कल्याण करता है, हम उसका न केवल सम्मान करते हैं प्रत्युत देवता की भाँति उसका पूजन करके उसके प्रति अपनी कृतज्ञता को मूर्तरूप देते हैं, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। गो, वृक्ष, नदी आदि के पूजन में हमारी यही भावना, हमारा यही चिन्तन, हमारा यही अनूठा जीवन दर्शन निहित है। संसार की किसी भी सभ्यता अथवा संस्कृति में उदारता एवं कृतज्ञता की ऐसी अनुपम परम्परा नहीं है किन्तु इस श्रेष्ठ

भावना तथा उदार जीवन मूल्यों का यह अर्थ नहीं है कि हम गौ, पीपल, तुलसी, गंगा अथवा सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि की अर्चना अपने उपास्य तथा आराध्य देव के रूप में करें और यह सोचें कि इससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति होगी और हम मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होंगे। इस प्रकार की भावना तो केवल मूर्खता ही कही जायेगी। इसलिये वेद अथवा अन्य आर्ष वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार की उपासना का कहीं विधान नहीं है और अनेक मंत्रों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एक मात्र ब्रह्म ही हमारा आराध्य देव है, अन्य कोई नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म के अतिरिक्त जो किसी अन्य देवता की उपासना करता है वह उस देवता के पशु के समान है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा देवस्य का अर्थ निम्नप्रकार किया गया है–

१. भरद्वाज मुनि–

देवस्य वृष्टिदानादिगुणयुक्तस्य निरतिशयस्येत्यर्थः दीप्यतेः प्रकाशकत्वात्।

वृष्टि दानादि गुणों से युक्त सर्वोत्कृष्ट सर्व प्रकाशक देदीप्यमान शुद्ध ब्रह्म स्वरूप सविता के।

२. ऋषि याज्ञवल्क्य–

दीप्यते क्रीडते यस्माद्रोचते द्योतते दिवि।
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्व देवतैः ॥

समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने, समस्त जगत् में व्याप्त होकर क्रीड़ा करने अर्थात् अनन्त रूपों में कार्य करके सबको जीवन देने तथा द्युलोक में स्वयं प्रकाशमान होने से ब्रह्म को देव कहा जाता है। उसी की समस्त देवताओं द्वारा स्तुति की जाती है।

३. स्वामी शङ्कराचार्य –

देवस्येति सर्व द्योतनात्मकाखण्डचिदेकरसम्।

जो सर्व प्रकाशक, अखण्ड, चैतन्य तथा एकरस है, वह देव है।

४. स्वामी दयानन्द–

योो दीव्यति प्रकाशयति खल्वानन्दयति सर्वं विश्वं स देव: तस्य देवस्य । पञ्चमहायज्ञविधि:

जो समस्त जगत् को प्रकाशित एवं आनन्दित करता है,वह देव है, उस देव के।

५. श्री माधवाचार्य, श्री वरदराजाचार्य, श्री सायणाचार्य तथा श्री विद्यारण्य स्वामी–

इन सबने देवस्य का अर्थ 'द्योतमानस्य' अर्थात् 'प्रकाशमान सविता के,' किया है।

६. प्रपञ्चसार तन्त्र

देवस्य वृष्टि दानादि गुणयुक्तस्य नित्यश:।
प्रभूतेन प्रकाशेन दीप्यमानस्य वै तथा ।।

वृष्टि,दान आदि गुणों से युक्त होने तथा प्रभूत प्रकाशमान एवं दीप्यमान् होने के कारण देव कहा जाता है।

७. उवट–

देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य ।

दानादि गुणों से युक्त सविता के ।

६. धीमहि

धीमहि ध्यायाम: चिन्तयाम:।

धीमहि का अर्थ है, हम ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं । इसके अतिरिक्त धीमहि का अर्थ (धारयाम) हम धारण करते हैं, भी है ।

ध्यान की विवेचना दर्शन ग्रन्थों में निम्न प्रकार की गयी है ।

सुखानुशयी राग:। योग दर्शन,साधनपाद:, ७

पूर्व में अनुभव किये हुये सुखों तथा सुखों के साधनों के प्रति जो आकर्षण लालसा, लोभ अथवा तृष्णा होती है, तथा इन्द्रियों के विषयों में जो अनुराग होता है, उसे राग कहते हैं।

रागोपहृति ध्यानम् । सांख्य दर्शन, ३।३०

इस राग को हटाकर निर्मल चित्त को ध्येय अर्थात् परमात्मा में एकाग्र करना ध्यान है ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । योग दर्शन विभूति पाद,१

नाभिचक्र, हृदय, मूर्धाज्योति, नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग आदि में मन को स्थिर करना 'धारणा' कहलाता है ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । योग दर्शन विभूति पाद,२

(तत्र) नाभिचक्र, हृदय आदि धारणा के देशों में परमात्मा के साथ चित्त की एकतानता अर्थात् परस्पर एकता, चित्त में ध्येय के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ अथवा विषय का न रहना, केवल परमात्मा के ज्ञानमय स्वरूप एवं उसके प्रकाश तथा आनन्द में ही चित्त का निमग्न हो जाना ध्यान है ।

स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है," जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना, जैसे समुद्र में नदी प्रवेश करती है । उस समय ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना, इसी का नाम ध्यान है ।"

ध्यानं निर्विषयं मनः ।

मन का समस्त इन्द्रिय विषयों से रहित हो जाना और केवल परमात्मा में ही लीन हो जाना ध्यान है । अन्य सभी विषयों को मन से हटाकर केवल परमात्मा के दिव्य ज्योतिर्मय आनन्दस्वरूप में ही मन को एकाग्र करना ध्यान है । इसके लिये श्रद्धा एवं भक्ति के साथ आत्म समर्पण, निर्मल मन, सतत् प्रयास एवं प्रभु कृपा की आवश्यकता होती है ।

गायत्री उपासना का प्रमुख लक्ष्य है, अपने मन, बुद्धि एवं आत्मा को सविता देव अर्थात् परमात्मा के साथ संयुक्त करना, जोड़ना, उससे एकतानता अथवा एकात्मता स्थापित करना ।

ध्यान में ध्येय, ध्यानकर्ता तथा चित्त तीनों अलग अलग रहते हैं, किन्तु इससे उच्च स्थिति अर्थात् समाधि में आत्मा परमात्मा में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाता है और दोनों में कोई भेद नहीं रहता। परमात्मा में निमग्न हो जाने के कारण ध्यानकर्ता के स्वरूप की प्रतीति शून्य के समान हो जाती हो जाती है, केवल परमात्मा का ही ज्योतिर्मय स्वरूप शेष रह जाता है।

योगदर्शन विभूति पाद ३ में इसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है–

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(तदेव) ध्यानमेव (अर्थमात्रनिर्भासं) ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरुपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते। व्यास भाष्य

समाधि में ध्यान ही ध्येयाकार हो जाता है और ध्यानकर्ता का आत्मा, परमात्मा में निमग्न हो जाने के कारण ध्येता का स्वरूप शून्य के समान हो जाता है।

इस प्रकार जब ध्याता, ध्यान तथा ध्येय में से केवल ध्येय ही रह जाता है और ध्याता का स्वरूप शून्य के समान हो जाता है, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं।

इसके लिये योगाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता होती है क्योंकि वास्तव में योग ही योग का शिक्षक है।

'योगस्य योग एवोपाध्यायः'

समाधि से प्राप्त होने वाले आनन्द के विषय में कहा गया है–

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।।

मैत्रायण्युपनिषद्, ४।४।९

योगाभ्यास से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं जिसके, ऐसे निर्मल चित्त वाले को, समाधि द्वारा परमात्मा से संयुक्त होने पर जो सुख होता है,

उसका वर्णन करने में वाणी सक्षम नहीं है, उसे केवल अन्त:करण द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है।

ध्यान के महत्व का वर्णन करते हुये कहा गया है–

कर्मयज्ञसहस्रेभ्यस्तपोयज्ञो विशिष्यते।
तपोयज्ञ सहस्रेभ्यो जपयज्ञो विशिष्यते ।।
जप यज्ञ सहस्रेभ्यो ध्यानयज्ञो विशिष्यते।
ध्यानात्परो नास्ति किञ्चिद् ध्यानं ज्ञानस्य साधनम् ।।

लिङ्ग पुराण पूर्वार्द्ध अध्याय,५

सहस्रों कर्म यज्ञों से तपयज्ञ विशेष है, सहस्रों तप यज्ञों से जप यज्ञ विशेष है तथा सहस्रों जप यज्ञों से ध्यान यज्ञ श्रेष्ठ है। ध्यान से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, निश्चय ही ध्यान, ज्ञान का साधन है।

'धीमहि' का कुछ विद्वानों द्वारा किया गया अर्थ निम्न प्रकार है–

१. स्वामी शङ्कराचार्य–

धीमहि ध्यायेम। ध्यान करते हैं।

२. माधवाचार्य–

धीमहि, ध्यायेम, धारयाम। ध्यान करते हैं, धारण करते हैं।

'धीङ् आधारे' धातु से सिद्ध करने पर धीमहि का अर्थ होता है, धारण करते हैं।

३. सायणाचार्य–

धीमहि ध्येयतया मनसा धारयेम।

ध्येय के रूप में मन में धारण करते हैं।

४. महीधर–

धीमहि ध्यायाम। ध्यान करते हैं।

५. उवट–

धीमहि 'ध्यै चिन्तायाम्' अस्य छान्दसं संप्रसारणम्।
ध्यायाम: चिन्तयाम निदिध्यासं तद्विषयं कुर्म इति ।।

ध्यै धातु का अर्थ है चिन्तन करना। वेद में इसका संप्रसारण है। अत: धीमहि का अर्थ है, ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं तथा उस विषय का निदिध्यासन करते हैं।

६. प्रपञ्चसार तन्त्र–

ध्यै चिन्तायामतो धातो निष्पन्नं धीमहीत्यद: ।
निगमाद्येन दिव्येन विद्यारूपेण चक्षुषा ।।

चिन्तन अर्थ वाली 'ध्यै' धातु से धीमहि शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है, वैदिक ज्ञान के विद्या रुपी दिव्य चक्षु से चिन्तन करता हूँ, ध्यान करता हूँ।

७. वरदराजाचार्य–

धीमहि चिन्तयाम: । 'ध्यै चिन्तायाम्' देवस्य सवितुर्वरेण्यं यद्भर्गस्तद्ध्यायाम: ।

सविता देव का जो वरेण्य भर्ग है उसका ध्यान करता हूँ, चिन्तन करता हूँ।

८. स्वामी दयानन्द –

धीमहि तमेव परमात्मानं वयं नित्यमुपासीमहि धरेमहि ।

उस परमात्मा की ही हम नित्य उपासना करें, उसके स्वरुप को अपने आत्मा में धारण करें।

सवितु: वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

(सवितु: देवस्य) परब्रह्म के (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, पापनाशक, कल्याणकारी श्रेष्ठ तेज को (धीमहि) हम धारण करते हैं। भगवान् के अनन्त तेज का अधिक से अधिक अंश अपने अन्दर धारण करना ही मानव जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। गायत्री उपासना से यह ब्रह्म तेज हमें प्राप्त हो सकता है।

एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति भी जब शासन के उच्च पद पर आसीन हो जाता है तब उसकी शक्ति तथा उसके प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि

हो जाती है और सब लोग उसका सम्मान करने लगते हैं क्योंकि वह शासन के अधिकारों को, शासन के ऐश्वर्य को, शासन के तेज को अपने अन्दर धारण करता है। इसीलिये प्रत्येक पुरुष की यह इच्छा रहती है कि वह शासन के अधिकार को तथा उसके तेज को अपने अन्दर धारण करे। जब शासन अथवा राज्य के साधारण अधिकारों, साधारण ऐश्वर्य एवं साधारण तेज को धारण करने से एक सामान्य व्यक्ति इतना बड़ा बन सकता है, तो भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य तथा अनन्त तेज का एक छोटा सा अंश भी धारण करने वाला व्यक्ति कितना ऐश्वर्यवान् कितना प्रभावशाली तथा कितना आदरणीय बन सकता है, यह विचारणीय है। यही वह ब्रह्मतेज है जिसको धारण करने की पवित्र प्रार्थना गायत्री मन्त्र में की गयी है।

७. धियो

विभिन्न विद्वानों ने धियः शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की है–

१. भरद्वाज मुनि – धियो इति द्वितीयाया: बहुवचनम्।

'धियः', यह धी शब्द का द्वितीया के बहुवचन का रूप है।

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार धियः का अर्थ है बुद्धि, वाणी तथा कर्म।

मनुष्य के कल्याण में, उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में सद्बुद्धि का सबसे अधिक महत्व है। बुद्धि के नाश से, बुद्धि के विकृत हो जाने से अथवा कुमार्ग की ओर चलने से तो मनुष्य का नाश ही हो जाता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

गीता. २।६३

(क्रोधात् संमोहः भवति) क्रोध से संमोह अर्थात् कार्य, अकार्य विषयक अविवेक उत्पन्न होता है, (संमोहात् स्मृति विभ्रमः) संमोह से, अविवेक से स्मरण शक्ति विभ्रमित हो जाती है। (स्मृतिनाशात् बुद्धिनाशः) स्मृति के भ्रंश होने से, भ्रमित होने से बुद्धि अर्थात् कार्य

अकार्य विषयक विवेक तथा ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है क्योंकि क्रोध में व्यक्ति को पूर्व प्राप्त ज्ञान, उपदेश अथवा कर्तव्य बोध का स्मरण नहीं रहता (बुद्धिनाशात् प्रणश्यति) और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का नाश हो जाता है, उसका सब प्रकार से अध: पतन हो जाता है।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ।।

विदुर नीति ३।४१

देवता डंडा लेकर गोपालों की भाँति पुरुष की रक्षा नहीं करते । वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि से युक्त कर देते हैं।

यस्मै देवा: प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ।।

विदुर नीति २।८१

देवता जिस पुरुष का पराभव चाहते हैं उसकी बुद्धि छीन लेते हैं, जिससे वह नीच कर्मों पर ही दृष्टि रखता है, उन्हीं को करता है । इसीलिये कहा है, 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि: ।'

२. बुद्ध्यो वै धिय: । मैत्रायण्युपनिषद् ६।७

बुद्धियाँ ही धिय: हैं।

३. विद्यारण्य स्वामी–

धियोऽन्त: करणवृत्तिश्च प्रत्यक्प्रवणचारिणी ।

'धिय:' अन्त:करण की वृत्ति है, जो प्रत्यगात्मा की ओर चलने वाली होती है।

४. माधवाचार्य तथा सायणाचार्य–

धिय: कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धी: ।

धिय: का अर्थ है कर्म अथवा धर्मादि विषयक बुद्धि ।

५. महीधर–

धिय: बुद्धी: कर्माणि वा । धिय: अर्थात् बुद्धि अथवा कर्म ।

५. उवट–

धी शब्दो बुद्धि वचन: कर्मवचनो वाग्वचनश्च बुद्धि: कर्माणि वाचो वा।

धिय: का अर्थ है बुद्धि, कर्म तथा वाणी।

६. धियो धारणवत्यो बुद्धय:। (विष्णुभाष्य)

धारणावती बुद्धियों का नाम धिय: है।

श्री सातवलेकर जी ने लिखा है कि धारणावती बुद्धि वह है, जो कर्मशक्ति से युक्त रहती है। धन ऐश्वर्य प्राप्त करना हो, अपना प्रभुत्व स्थापित करना हो अथवा जीवन में अन्य किसी प्रकार की सफलता प्राप्त करनी हो तो इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये पुरुषार्थ करने में समर्थ धारणावती बुद्धि की आवश्यकता होती है। धी शब्द में जैसे बुद्धिमत्ता का भाव है, उसी प्रकार पुरुषार्थमयी कर्मशक्ति का भी भाव है। इसीलिये ऋषियों ने धी का अर्थ कर्म भी किया है। धारणावती बुद्धि चंचल बुद्धि से सर्वथा भिन्न होती है। जिस बुद्धि में स्वाध्याय, सदाचार एवं ज्ञान से, श्रेष्ठ विचारों तथा श्रद्धा एवं विश्वास की भावना स्थिर हो जाती है, उसे धारणावती बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि पुरुष को लौकिक एवं आध्यात्मिक प्रगति की ओर ले जाती है।

८. य:

य: का अर्थ है, जो। (य: न: धिय: प्रचोदयात्) जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। यहाँ य:=जो, स्पष्ट रूप से सविता देव की ओर ही संकेत करता है। अत: इसका अर्थ है ''जो परमात्मा''।

कुछ विद्वानों के अनुसार 'य:' शब्द भर्ग: की ओर इंगित करता है। उनके अनुसार तद् वरेण्यं, भर्ग: धीमहि यत् न: धिय: प्रचोदयात्। हम उस श्रेष्ठ तेज का ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करे किन्तु व्याकरण के अनुसार भर्ग: के लिये प्रयोग होने पर य: के स्थान पर यत् होना चाहिये। इस कठिनाई को दूर करने के लिये ये विद्वान् कहते हैं कि यहाँ वैदिक लिङ्ग व्यत्यय है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यहाँ य: के स्थान पर यत् होना

चाहिये, फिर भी वैदिक प्रयोग होने के कारण यः का प्रयोग भी मान्य है। स्पष्ट है कि इन विद्वानों का उक्त कथन उचित नहीं है। जब मंत्र में स्पष्ट रूप से यः का प्रयोग किया गया है, जो सविता की ओर संकेत करता है, तब अपनी ओर से निरर्थक खींचातानी करके यः को यत् मानकर अर्थ करना और उसे भर्ग के साथ सम्बद्ध करने का क्या औचित्य है? यह तो केवल निरर्थक हठवादिता का प्रदर्शन करके अर्थ का अनर्थ करना है।

लिङ्ग व्यत्यय के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत निम्न प्रकार है।

१. भरद्वाज मुनि–

यः इति छान्दसत्वालिङ्ग व्यत्ययः।

यः यह वैदिक लिङ्ग व्यत्यय है। यत्तेजः सवितुर्देवस्य। यः को यत् मानकर अर्थ होगा, सविता देव का जो तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है।

२. सायणाचार्य एवं माधवाचार्य

य इति लिङ्गव्यत्ययः। यद् भर्गो धियः प्रचोदयात् तत् ध्यानम्।

यः, यह लिङ्ग व्यत्यय है। जो भर्ग हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है, उसका ध्यान करते हैं।

३. उवट–

लिङ्गव्यत्ययेन वा योजना, तत्सवितुर्वरणीयं भर्गो देवस्य ध्यायामः यद् भर्गः अस्माकं धियो प्रेरयति।

हम सविता देव के उस वरणीय तेज का ध्यान करते हैं, जो तेज हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है।

४. महीधर–

लिङ्ग व्यत्ययेन योजना सवितुर्देवस्य तद् भर्गो धीमहि यो यत् भर्गो नो बुद्धीः प्रेरयति।

९.नः

नः का अर्थ है हमारी या हमारा।

नः अस्माकं।— नः शब्द का प्रयोग बहुवचन के रूप में होता है। इसीलिये सद्बुद्धि की प्रार्थना केवल अपने लिये नहीं प्रत्युत हम सबके लिये है, सम्पूर्ण परिवार एवं समाज के लिये है।

यह उदारता एवं विश्व बन्धुत्व की भावना वैदिक संस्कृति की विशेषता है। इसी पर आधारित है **'वसुधैव कुटुम्बकं'** की हमारी अनोखी मान्यता।

१०. प्रचोदयात्

प्रचोदयात् शब्द 'चुद संचोदने' अर्थात् प्रेरणा देने के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली चुद् धातु से बनता है। प्रचोदयात् का अर्थ है प्रेरयेत् अर्थात् प्रेरित करे अथवा प्रेरित करता है।

प्रायः समस्त श्रेष्ठ विद्वानों ने इसी प्रकार का अर्थ किया है, उदाहरणार्थ—

१. महर्षि भरद्वाज

यत्तेजः सवितुर्देवस्य वरेण्यमस्माभिः अभिध्यातं भर्गो जपतां पापभञ्जन हेतुभूतं धीमहि उपास्महे तत्तेजः नोस्माकं धियो बुद्धीः श्रेयस्करेषु कर्मसु प्रचोदयात् प्रेरयेदित्यर्थः।

जप करने वालों के पापों का नाश करने वाले, सविता देव के जिस वरेण्य तेज का हम ध्यान करते हैं, उपासना करते हैं, वह तेज हम लोगों की धियः अर्थात् बुद्धियों को श्रेयस्कर कार्यों की ओर प्रेरित करे, यह अर्थ है।

२. आग्नेय निर्वाण तन्त्र

यो भर्गः सर्वसाक्षी च मनो बुद्धीन्द्रियाणि नः।
धर्मार्थकामकोक्षेषु प्रेरयेद्विनियोजयेत्॥

जो भर्ग सर्वसाक्षी है तथा हमारी बुद्धि मन एवं इन्द्रियों को धर्म,

अर्थ, काम और मोक्ष की ओर प्रेरित करता है, उनमें प्रवृत्त करता है, लगाता है ।

३. विद्यारण्य स्वामी

'प्रचोदयात् प्रेरयतु प्रार्थनेयं विचार्यते'

प्रचोदयात् अर्थात् प्रेरणा करे, यह प्रार्थना है ।

किन्तु कुछ विद्वानों ने प्रचोदयात् को प्रचोदयति मानते हुये अर्थ किया है ।

'प्रचोदयति, प्रकर्षेण प्रेरयति प्रवर्तयति'

अर्थात् उत्तमता से प्रेरणा देता है, प्रवृत्त करता है, अर्थ किया है । इनमें महीधर, सायण, उवट तथा वरदराजाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

४. यजुर्वेद के भाष्यकार महीधर

तस्य कस्य ? यः सविता नोऽस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठानाय ।

उसके, किसके ? जो सविता देव हमारी बुद्धियों अथवा कर्मों को शुभ कार्यों का अनुष्ठान करने के लिये प्रेरित करता है ।

लिङ्गव्यत्ययेन योजना । सवितुर्देवस्य तत् भर्गो धीमहि । यो यत् भर्गो नो बुद्धीः प्रेरयति ।

सविता देव के उस तेज का ध्यान करते हैं जो तेज हमारी बुद्धियों को शुभ कार्यों में प्रेरित करता है ।

५. यजुर्वेद के भाष्यकार उवट

प्रचोदयात् । 'चुद् संचोदने' । प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति. तस्य सवितुः सम्बन्धि वीर्यं तेजो वा ध्यायाम इति सम्बन्धः।

हम उस सविता देव के वीर्य अथवा तेज का ध्यान करते हैं जो सविता देव हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है ।

६. ऋग्वेद के भाष्यकार सायणाचार्य

यः सविता देवः नः अस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा

बुद्धी: प्रचोदयात् प्रेरयेत् । यद्वा, य: सविता सूर्यो धिय: कर्माणि प्रचोदयात् प्रेरयति ।

जो सविता देव हमारी धर्मादि विषया बुद्धि तथा कर्मों को प्रेरित करे।

अथवा, जो सविता हमारी बुद्धि तथा कर्मों को प्रेरित करता है ।

७. वरदराजाचार्य

यो न: सविता अस्माकं धिय: दानोपादान विषयाणि ज्ञानानि प्रचोदयात् प्रचोदयति प्रवर्तयति तत्सवितुस्तद्भर्गश्चिन्तयाम इति ।।

जो सविता हमारी बुद्धियों को, ज्ञान आदि की ओर प्रेरित करता है, उस सविता देव के भर्ग का हम चिन्तन करते हैं ।

८. भट्टोजि दीक्षित

य: देव: न: अस्माकं धिय: बुद्धि: प्रचोदयात् प्रेरयतीत्यर्थ: ।

जो देव हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है, यह अर्थ है ।

९. तैत्तिरीय सन्ध्या भाष्य

प्रचोदयात् प्रकर्षेण प्रेरयति सकलं कर्मानुष्ठान प्रवीणां, दुष्कर्म विमुखां चास्माद् बुद्धिं करोति, वृत्ती: प्रकाशयतीति वा ।

प्रचोदयात् अर्थात् उत्तमता से प्रेरित करता है तथा हमारी बुद्धि को समस्त कर्मानुष्ठानों में प्रवीण एवं दुष्कर्मों से विमुख करता है, अथवा सद्बुद्धि को प्रकाशित करता है ।

वास्तव में प्रचोदयात् शब्द द्वारा बुद्धि को कल्याणकारी मार्ग पर प्रेरित करने की श्रेष्ठ एवं गौरवपूर्ण प्रार्थना की गयी है । यह अद्वितीय प्रार्थना सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये नहीं की गयी है बल्कि बुद्धि की पवित्रता एवं उत्कृष्टता के लिये की गयी है क्योंकि बुद्धि की पवित्रता से लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण का मार्ग स्वयमेव प्रशस्त हो जाता है।

ओ३म्

ओम् भगवान् का सर्वश्रेष्ठ एवं मुख्य नाम है।

अवतेष्टिलोपश्च। उणादि कोष, प्रथम पादः, सूत्र, १४२

इस सूत्र के अनुसार 'अव रक्षणे' धातु से मन प्रत्यय करने पर ओम् शब्द सिद्ध होता है तथा इसके साथ कार 'प्रत्यय' करने पर ओंकार शब्द निष्पन्न होता है।

स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है-

अवतीत्योम् आकाशमिव व्यापकत्वात्खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म। सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम समुल्लास)

रक्षा करने से ओम्, आकाशवत् व्यापक होने से खम् तथा सबसे बड़ा होने से ब्रह्म, ईश्वर के नाम हैं।

अव धातु से सिद्ध करने पर ओम् का निर्वचन होता है— अवतीत्योम्। भगवान् रक्षा करते हैं अतः ओम् पद वाच्य हैं।

अव, रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु।

अव धातु के अर्थ होते हैं, रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, अवाप्ति, आलिङ्गन, हिंसा, दान, भाग तथा वृद्धि। ये सभी अर्थ विभिन्न प्रकार से भगवान् के गुणों का वर्णन करते हैं।

को धातुरित्यापृधातुरवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्यन्नेदीयस्तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम्। गोपथ ब्राह्मण पूर्व, १।२६

(ओंकार में) कौन धातु है ? आपृ धातु है। कोई 'अव' धातु भी मानते हैं। रूप की समानता की अपेक्षा अर्थ की समानता अधिक निकट होती है, अतः आपृ अथवा आप्लृ धातु से बना हुआ ओंकार सब में व्याप्त है, यह अर्थ है।

'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से सिद्ध करने पर ओम् का निर्वचन होता है आप्नोतीत्योम् । सर्व व्यापक होने के कारण भगवान् 'ओम्' हैं ।

गोपथ ब्राह्मण १। २५ के अनुसार, वैयाकरण एकाक्षर ओम् को निपात मानकर उदात्त तथा अव्यय एवं कृदन्त अर्थवान् प्रातिपदिक मानते हैं ।

सन्ध्याभाष्य समुच्चय के अन्तर्गत बाह्वच सन्ध्या पद्धति के भाष्य में लिखा है–

ओम् प्रवेशार्थस्यावतेः । निरुक्ते ओमिति पुनः कस्मान्निरुक्तिरिति अवतिर्नामायं धातुर्गति कर्मा प्रवेश कर्मा च इति । तथा च अवति प्रविशति गुणानिति वा अव्यते प्रविश्यते गुणैरिति वा ओम् ।

भावार्थ यह है कि प्रवेश तथा गति अर्थ वाली अव धातु से ओम् शब्द सिद्ध होता है । समस्त गुण जिसमें प्रवेश करते हैं वह भगवान् ओम् वाच्य हैं । अतः ओम् का अर्थ हुआ अनन्त गुण विभूषित ब्रह्म ।

ओम् शब्द 'अ', 'उ' तथा 'म्' इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है। स्वामी दयानन्द जी के अनुसार इन तीनों अक्षरों से परमेश्वर के अनेक नामों का बोध होता है जैसे अकार से विराट, अग्नि तथा विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु तथा तैजसादि, मकार से ईश्वर, आदित्य तथा प्रज्ञादि।

गोपथ ब्राह्मण, पूर्व भाग, १। २५ तथा पौराणिक मत के अनुसार 'अ' के देवता ब्रह्मा, 'उ' के विष्णु तथा 'म' के रुद्र हैं । इस प्रकार संसार को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले विष्णु तथा संहार करने वाले रुद्र तीनों के प्रतीक स्वरुप 'अ,' 'उ' तथा 'म्' से बना ओम् ब्रह्म का वाचक है ।

जन्माद्यस्य यतः । वेदान्त दर्शन, १। १। २

इस संसार का जन्म आदि अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय जिससे होती है वह ब्रह्म है ।

इसीलिये महर्षि वरुण ने अपने पुत्र भृगु को उपदेश दिया था–

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ।।

तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।१

निश्चय ही ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में इस लोक से प्रयाण करते हुये जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है ।

तस्य वाचक: प्रणव: । योगदर्शन, समाधि पाद, २७ ।

उस परब्रह्म का वाचक प्रणव अथवा ओम् है । परब्रह्म तथा ओम् का यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध कृत्रिम नहीं प्रत्युत नित्य है ।

ओम् की मात्राओं अथवा पादों का विवरण निम्न प्रकार है—

	अ	उ	म्	अमात्र ओ३म्
वेद	ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	
लोक	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक	ब्रह्मलोक
(आत्माकी अवस्थायें)	जाग्रत	स्वप्न	सुषुप्ति	तुरीय
आत्मा के पाद	वैश्वानर (विश्व) बहिष्प्रज्ञ:	तैजस अन्त: प्रज्ञ:	प्राज्ञ प्रज्ञानघन	अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, शान्तं शिवं, अद्वैतं
व्याहृतियाँ	भू:	भुव:	स्व:	मह:
ज्योतियाँ	अग्नि	वायु	आदित्य	भर्ग: (परब्रह्मात्मकं तेज:)
ईश्वर के नाम	विराट	हिरण्यगर्भ	ईश्वर	ब्रह्म
जगत्	स्थूल	सूक्ष्म	कारण	प्रपञ्चोपशम:

ओम् की महिमा का वर्णन करते हुये कठोपनिषद् में कहा गया है-

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

कठोनिषद्, १।२।१५

समस्त वेद जिस परम पद का प्रतिपादन करते हैं और समस्त तप जिसको प्राप्त करने के साधन हैं, जिसको प्राप्त करने की इच्छा से साधक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, वह पद तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ, वह ओ३म् है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।

कठोपनिषद्, १।२।१६

यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही सर्वश्रेष्ठ है। इस अक्षर को ही जानकर, जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह उसको प्राप्त हो जाती है अर्थात् इसके ज्ञान तथा इसकी उपासना से पुरुष को अभीष्ट फल एवं कामना की प्राप्ति होती है।

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।

कठोपनिषद्, १।२।१७

यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही आलम्बन सर्वश्रेष्ठ है। इस आश्रय को, आलम्बन को भली प्रकार ज्ञानपूर्वक जानकर, प्राप्त कर, पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

ओमित्येदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।।

माण्डूक्य उपनिषद्, १

(ओम् इति) ओ३म् (एतद् अक्षरं) यह अविनाशी ब्रह्म है। (इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्) यह सब, सारा संसार उसी का विस्तार है, उसी की

महिमा है। (भूतं भवत् भविष्यत्) भूत, वर्तमान तथा भविष्य (इति सर्वं ओङ्कारः एव) यह सब ओङ्कार ही है। (च यत् अन्यत् त्रिकाल अतीतम्) और इसके अतिरिक्त तीनों कालों से जो बाहर है, (तद् अपि ओङ्कार एव) वह भी ओङ्कार ही है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। माण्डूक्य उपनिषद्, ६ ॥

(एषः सर्वेश्वरः) यह ओ३म् सर्वेश्वर है, (एषः सर्वज्ञः) यह सर्वज्ञ है, (एषः अन्तर्यामी) यह सब में अन्तर्यामी रूप से स्थित है, (एषः सर्वस्य योनिः) यह समस्त जगत् का कारण है और (हि) निश्चय ही (भूतानाम् प्रभवाप्ययौ) यह समस्त प्राणियों एवं पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण है।

यही भाव तैत्तिरीय उपनिषद् में निम्न प्रकार दिया गया है—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳ सर्वम्। तैत्तिरीय उपनिषद, १।८

ओ३म् यह ब्रह्म है। ओ३म् ही यह सब कुछ है अर्थात् यह समस्त चराचर जगत ब्रह्म अथवा ओ३म् का ही रुप है। ओ३म् की सत्ता ही इसके कण कण में प्रतिभासित एवं प्रतिविम्बित हो रही है। यह सब उसी की महिमा है, उसी का विस्तार है।

उपनिषद् के उपरिलिखित वाक्य वेद के निम्नाङ्कित महत्वपूर्ण मन्त्र के अनुरुप हैं।

पुरुषंएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्चं भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

ऋग्वेद,१०।९०।२, (पाठभेद), अथर्ववेद,१९।६।४,(पाठभेद), यजुर्वेद,३१।२ सामवेद पूर्वाचिक, ६।४।५-६, क्र. सं., ६१९, ६२० (पाठभेद)

(यद्भूतं यत् च भाव्यम् पुरुष एव इदम् सर्वं) भूत, वर्तमान और भविष्य यह सब पुरुष ही है। (उत अमृतत्वस्य ईशानः) और वह पुरुष उस अमृतत्व का स्वामी है (यत् अन्नेन अतिरोहति) जो अन्न से बढ़ता है अर्थात्

उस जीवात्मा का भी स्वामी है जो अन्न से वृद्धि को प्राप्त होने वाले शरीर में व्याप्त रहता है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ।। छान्दोग्य उपनिषद, १।१।२

१. समस्त प्राणियों एवं पदार्थों का रस, सारभूत पदार्थ अथवा आधार पृथिवी है।२. पृथिवी का रस अथवा सार जल है।३. जल का रस अथवा सार ओषधियाँ हैं।४. ओषधियों का रस पुरुष है।५. पुरुष का रस वाणी है।६. वाणी का रस ऋचायें हैं।७. ऋचाओं का रस साम है। तथा ८. साम का रस उद्गीथ अथवा ओङ्कार है।

स एष रसानांꣳरसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ।

छान्दोग्य उपनिषद्,१।१।३

(यद् उद्गीथः) यह जो उद्गीथ है (सः एषः) वह यह (रसानाम् रसतमः) सम्पूर्ण रसों में सर्वोत्तम रस है, वही (परमः) परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है, वही परम प्रापणीय पद है तथा गत प्रवाक में उल्लिखित पृथिव्यादि रसों में आठवाँ, सामवेद का सारभूत है।

सैषैकाक्षरा ऋग् ।। गोपथ ब्राह्मण पूर्व, १।२२

वह यह ओम् एकाक्षरा ऋचा, एकाक्षर मन्त्र है।

अध्यात्मम् आत्मभैषज्यम् आत्मकैवल्यम् ओङ्कारः ।

गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग १, कण्डिका, ३० ।।

ओङ्कार अध्यात्मम्, आत्मभैषज्य तथा आत्मकैवल्य है।

अध्यात्मम्– ओ३म् आत्मज्ञान का अधिकरण अथवा आधार है अर्थात् ओ३म् का ध्यान करने से आत्म ज्ञान प्राप्त होता है।

आत्मभैषज्यम्– ओ३म् आत्मा का औषध है। इसके जप, ध्यान तथा चिन्तन से आत्मा के समस्त दोष दूर हो जाते हैं और आत्मा पूर्णरूपेण निर्मल हो जाता है।

आत्मकैवल्यम्– ओ३म् का ध्यान आत्मा को मोक्ष देने वाला है।

गीता तथा मनुस्मृति में ओ३म् का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है–

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥

मनुस्मृति, २।८३

ओ३म् एकाक्षर परब्रह्म है, प्राणायाम परम तप है, गायत्री मन्त्र से श्रेष्ठ कुछ नहीं है तथा मौन रहने से सत्य बोलना अच्छा है।

एतदक्षरमेताञ्च जपन्व्याहृति पूर्विकाम्।
सन्ध्योर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

मनुस्मृति, २।७८

(एतत् अक्षरम्) इस अक्षर, अविनाशी ओम् को (च) और (व्याहृति पूर्विकाम् एताम्) भूः, भुवः, स्वः इन तीनों महाव्याहृतियों को पूर्व में लगाकर इस गायत्री मन्त्र को (सन्ध्योः) दोनों समय सन्ध्या काल में (जपन्) जप करता हुआ (वेदविद् विप्रः) वेदज्ञ ब्राह्मण (वेदपुण्येन युज्यते) वेद विहित धर्म के पुण्य से युक्त होता है, उसके पुण्य को प्राप्त करता है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

गीता, १७।२४

अतः ब्रह्मवादियों की, वेद के विद्वानों की शास्त्र विधि से नियत की हुयी यज्ञ, दान तथा तप की क्रियायें सदा ओ३म् के उच्चारण के साथ ही प्रारम्भ होती हैं।

वास्तव में सभी वेदानुकूल श्रेष्ठ कर्म तथा वेद मन्त्रों का पाठ ओ३म् का उच्चारण करने के उपरान्त ही किये जाने का विधान है।

ओम् की उपासना

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वेद तथा उपनिषद् आदि में केवल

ओम् की ही उपासना का निर्देश है, अन्य किसी देवता आदि की नहीं।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।
ओ३म् क्रतोस्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳस्मर ।।

यजुर्वेद, ४०।१५

(कृतो) हे कर्म करने वाले जीव ! शरीर छूटते समय तू ओम् का स्मरण कर । (क्लिबे स्मर) अपनी सामर्थ्य की वृद्धि के लिये ओम् का स्मरण कर। (कृतं स्मर) अपने द्वारा किये गये कर्मों का स्मरण कर। (वायुः अनिलं अमृतम्) यह प्राण वायु अमृत अर्थात् अविनाशी कारण रूपी समष्टि वायु में विलीन हो जाता है (अथ इदं शरीरम् भस्मान्तं) और इस शरीर का अन्त भस्म के रूप में हो जाता है।

अन्त समय में ओ३म् के उच्चारण का महत्व गीता में निम्न प्रकार दिया गया है–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।

गीता, ८।१३

जो पुरुष 'ओ३म्', इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुये तथा (माम्) मुझको अर्थात् भगवान् को स्मरण करते हुये शरीर त्याग करके जाता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।

गीता, ८।६

हे कुन्ती पुत्र ! यह जीव अन्त में जिस जिस भाव का स्मरण एवं चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह (तद्भावभावितः) उसी भाव से भावित होकर अर्थात् सतत् चिन्तन करने के कारण उस भाव का अभ्यस्त होकर (सदा तं तं एव एति) सदैव उस भाव को ही प्राप्त होता है।

इसीलिये यह आवश्यक है कि अपना कल्याण चाहने वाला पुरुष सदा नियमित रूप सें ओ३म् का चिन्तन करे जिससे वह ओ३म् अर्थात् परमात्मा के भाव से युक्त होकर अन्त समय में भी ओ३म् का स्मरण करके परमात्मा को प्राप्त कर सके।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।

गीता,८।८

हे पार्थ! परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त (नान्यगामिना चेतसा) परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ भक्त परम दिव्य पुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करता है।

कविं पुराणामनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्य:।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरुप
मादित्यवर्णं तमस: परस्तात्।।

गीता, ८।९

(य:) जो पुरुष, सर्वज्ञ, अनादि, सर्वनियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सब का धारण पोषण करने वाले, अन्धकार एवं अज्ञान से परे आदित्य सदृश नित्य चेतन प्रकाशस्वरुप परमात्मा का स्मरण करता है, सतत् चिन्तन एवं ध्यान करता है।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। गीता, ८।१०

(सः) वह भक्ति युक्त पुरुष अपने अन्त समय में, योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को सम्यक् रुप से स्थापित करके निश्चल मन से भगवान् का ही अनन्य भाव से स्मरण करता हुआ उस दिव्य परमपुरुष को प्राप्त करता है।

यह उल्लेखनीय है कि यहाँ केवल 'ओम्' के स्मरण का उल्लेख है, 'हरिः ओम्' का नहीं। ओ३म् का ज्ञान, उसका जप तथा उसकी साधना ही पुरुष के परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन, समाधि पाद, २८ ।।

प्रणव अथवा ओ३म् का ध्यानपूर्वक एकाग्र चित्त से तथा भक्तिभाव से जप करना चाहिये और उसी की भावना, उसी का विचार श्रद्धापूर्वक अपने हृदय, मन तथा बुद्धि में स्थिर करना चाहिये।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत् ।।

छान्दोग्य उपनिषद्,१।१।१

(ओ३म् इति) ओ३म् (एतद् अक्षरम्) इस अविनाशी (उद्गीथम् उपासीत्) उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये।

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमु - पास्ते। छान्दोग्य उपनिषद्, १।१।७

(यः एतद् अक्षरम् उद्गीथम्) जो इस अविनाशी उद्गीथ को (एवम् विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ (उपास्ते) उसकी उपासना करता है, वह (वै) निश्चय ही (कामानाम् आपयिता) मनोरथों को प्राप्त करने वाला होता है, (ह) यह बात प्रसिद्ध है।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।१।१३

(यथा योनिगतस्य वह्नेः मूर्तिः न दृश्यते) जिस प्रकार अरणि अथवा काष्ठादि में उपस्थित रहते हुये भी अग्नि का न तो साक्षात् रुप

दिखाई देता है (च न एव लिङ्गनाशः) और न ही उसकी सत्ता का नाश होता है तथा (भूयः एव स इन्धनयोनिगृह्यः) वह अग्नि इन्धन रुपी अपनी योनि अर्थात् उत्पत्ति के स्थान से चेष्टा करने पर पुनः प्राप्त किया जा सकता है, उत्पन्न किया जा सकता है, (वा) उसी प्रकार (तद् उभयम्) परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों (देहे वै) शरीर में ही (प्रणवेन गृह्यते) ओ३म् की उपासना करने से प्राप्त किये जा सकते हैं।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।१।१४

(स्वदेहम्) अपने शरीर को (अरणिं) नीचे की अरणि, (च प्रणवं उत्तरारणिम् कृत्वा) तथा ओङ्कार को ऊपर की अरणि बनाकर (ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्) ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन रुपी अभ्यास करके (निगूढवत्) अरणि में छिपे हुये अग्नि की भाँति हृदय में गूढरूप से स्थित (देवं पश्येत्) परमेश्वर का साक्षात दर्शन करे।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।

मुण्डक उपनिषद्, २।२।४

(प्रणवः धनुः) ओंकार को धनुष, (शरः आत्मा) आत्मा को वाण (ब्रह्म तत् लक्ष्यम् उच्यते) तथा ब्रह्म को उसका लक्ष्य कहा जाता है। (अप्रमत्तेन शरवत्) आलस्य रहित होकर अपने आत्मा को वाण के सदृश ब्रह्म रूपी लक्ष्य में (वेद्धव्यम्) बींधना चाहिये तथा (तन्मयः भवेत्) उस ब्रह्म में तन्मय हो जाना चाहिये।

इस प्रकार भक्ति पूर्वक किये गये ओम् के जप तथा ध्यान से और श्रेष्ठ कर्मों एवं ज्ञान की सहायता तथा करुणामय भगवान् की कृपा से मनुष्य निश्चित रूप से ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओम् इत्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥

मुण्डक उपनिषद्, २।२।६

(रथनाभौ अराः इव) रथ की नाभि में जुड़े हुये अरों के समान (यत्र नाड्यः संहताः) जहाँ पर नाड़ियाँ जुड़ी हुई हैं, उसी हृदयाकाश में (बहुधा जायमानः) बहुत प्रकार से उत्पन्न होने वाला (सः एषः) यह परमात्मा (अन्तः चरते) अन्तर्यामी रूप से स्थित रहता है (तमसः परस्तात्) अज्ञान रूपी अन्धकार से परे (पाराय) इस संसार सागर से पार जाने के लिये (आत्मानं ओम् इति एवं ध्यायथ) उस परमात्मा का ओ३म् के रूप में ध्यान करो (वः स्वस्ति) जिससे तुम्हारा कल्याण हो।

मनुष्य जीवन का वास्तविक लक्ष्य ही ब्रह्म का साक्षात्कार करके इस जन्म मरण के चक्र से मुक्ति पाना है और यह ओ३म् के सतत् स्मरण से ही सम्भव है। स्वयं वेद में ही कहा गया है कि जो उस ब्रह्म को नहीं जानता उसे वेदाध्ययन से क्या लाभ और वह ऋचाओं से क्या करेगा।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

अथर्ववेद,९।१०।१८ (पाठभेद) ऋग्वेद,१।१६४।३९

(अथर्व वेद में इमे के स्थान पर अमी शब्द का प्रयोग हुआ है।) (परमे व्योमन् यस्मिन् अक्षरे) परम व्योम में व्याप्त जिस अविनाशी परब्रह्म में अथवा, जिस सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वरक्षक ओम् वाच्य अविनाशी परब्रह्म में (ऋचः विश्वे देवाः अधिनिषेदुः) ऋचायें तथा सूर्य, चन्द्र आदि समस्त देव आधारित होकर स्थित हैं, (यः तत् न वेद) जो उस परब्रह्म को

नहीं जानता, (किं ऋचा करिष्यति) वह ऋचाओं से क्या करेगा अर्थात् उसके द्वारा वेद मन्त्रों के पठन पाठन से क्या लाभ? (य: इत् तद् विदु:) जो उस ब्रह्म को जानते हैं, (ते इमे समासते) वे उसमें सम्यक् रूप से स्थित हो जाते हैं, लीन हो जाते हैं।

शाकपूणि ने लिखा है कि ओ३म् शब्द वाच्य ब्रह्म अक्षर है, ऋग्वेदादि इसी सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वरक्षक ब्रह्म में स्थित हैं और इसीलिये नाना देवता वाले सब मन्त्रों में यही अक्षर वर्णित है अर्थात् ओ३म् शब्द वाच्य ब्रह्म ही चारों वेदों का प्रतिपाद्य विषय है। अत: अग्नि, वायु, आदित्य, अश्विनौ आदि सब देवताओं से वही एकमात्र ब्रह्म अभिप्रेत है। ब्राह्मण में भी कहा है कि ओ३म् पद वाच्य ब्रह्म ही वह अक्षर है जो सम्पूर्ण त्रयीविद्या का प्रतिनिधि अथवा प्रतिपाद्य विषय है।

निम्नाङ्कित महत्वपूर्ण मन्त्र में कहा गया है कि ओ३म् वाच्य ब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमं दधातु। विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ॥ यजुर्वेद, २।१३

(जूति: मन: आज्यस्य जुषताम्) अत्यन्त वेगवान् मेरा मन घृत का सेवन करे अर्थात् घृत से सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ में रमण करे, मेरे मन में यज्ञमय जीवन व्यतीत करने का संकल्प हो। (बृहस्पति: इमं अरिष्टं यज्ञं तनोतु) आकाशादि पञ्चमहाभूतों का स्वामी परमेश्वर इस अहिंसनीय अथवा न छोड़े जाने योग्य यज्ञ का विस्तार करे तथा (इमं यज्ञं सं दधातु) इस यज्ञ को अच्छी प्रकार धारण करे अर्थात् इसकी रक्षा करे और सभी को यज्ञ करने की प्रेरणा दे, (विश्वे देवास: इह मादयन्ताम्) समस्त देवता एवं विद्वान् इस यज्ञ से प्रसन्न एवं तृप्त हों (ओ३म् प्रतिष्ठ) हे प्रभो! आप इस यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं। आप विद्वानों के हृदय में इस यज्ञ अथवा वेद विद्या को प्रतिष्ठित कीजिये, स्थापित कीजिये।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।

गीता, ३।१५

कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ समझो, वेद ब्रह्म से उत्पन्न हैं, अतएव सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

ओङ्कार की उपासना का फल।

अथ हैनं शैब्य: सत्यकाम: पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ।। प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, १

(अथ ह एनं शैब्य: सत्यकाम: पप्रच्छ) तब इन महर्षि पिप्पलाद से शिबिपुत्र सत्यकाम ने पूछा हे भगवन् ! (स: य: ह वै तत् मनुष्येषु) इन मनुष्यों में जो (प्रायणान्तं ओंकारं अभिध्यायीत) मृत्यु पर्यन्त ओङ्कार का भली भाँति ध्यान करता है, (स तेन कतमं लोकं वाव जयति) वह उस उपासना से किस लोक को नि:सन्देह जीत लेता है?

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार: ।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।।

प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, २

(तस्मै स ह उवाच) उन महर्षि ने उसे उत्तर दिया कि हे सत्यकाम ! (एतद्वै) निश्चय ही (यद् ओङ्कार:) यह जो ओंकार है वही (परं च अपरं च ब्रह्म) पर और अपर ब्रह्म है। (तस्माद्) इसलिये (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (एतेन एव आयतनेन) इसी के आश्रय से (एकतरं अन्वेति) पर अथवा अपर ब्रह्म में से किसी एक को अपनी श्रद्धा के अनुरुप प्राप्त होता है। (अपर ब्रह्म से तात्पर्य है, परब्रह्म से प्रकट हुआ यह संसार।)

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ।।

प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, ३

(सः यदि एकमात्रम् अभिध्यायीत) वह यदि ओङ्कार की केवल एक मात्रा अर्थात् अकार का ध्यान करता है (सः तेन एव संवेदितः) तो वह उसी से सम्यक् रूप से प्रेरित होकर (तूर्णम् एव जगत्याम् अभिसम्पद्यते) मरणोपरान्त शीघ्र ही संसार में जन्म लेता है और (तं ऋचः मनुष्यलोकं उपनयन्ते) ऋचायें अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्र उसको मनुष्य योनि प्राप्त करा देते हैं। (सः तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः महिमानं अनुभवति) वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से युक्त होकर महिमा, सम्पन्नता तथा ऐश्वर्य का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का उपासक शीघ्र ही मनुष्य योनि में, ऐसे सम्पन्न तथा पवित्र कुल में जन्म लेता है जिसे गीता में **'शुचीनां श्रीमतां गेहे'** कहा गया है। उसकी आत्मा इधर उधर भटकती नहीं रहती।

ओङ्कार की एक मात्रा का ध्यान करने का भाव इस तथ्य के आधार पर मनन किया जाना चाहिये कि ओङ्कार की पहली मात्रा अर्थात् अकार का सम्बन्ध भूः महाव्याहृति, पृथिवी लोक, ऋग्वेद, आत्मा के प्रथम पाद जिसे वैश्वानर कहते हैं, जाग्रत अवस्था तथा स्थूल जगत् से है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ओङ्कार की प्रथम मात्रा का ध्यान करने वाला पुरुष सांसारिक ज्ञान प्राप्त करने तथा सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त करने में अधिक अभिरुचि रखता है जहाँ वह श्रेष्ठ आचरण करते हुये सम्पन्न जीवन व्यतीत करता है।

माण्डूक्य उपनिषद् में अकार की उपासना का फल 'आदिः भवति' अर्थात् प्रमुख व्यक्ति, प्रथम व्यक्ति अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति बनता है, लिखा है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों से ज्ञान प्राप्त करता है तथा माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार 'सर्वान् कामान् आप्नोति' अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति करता है, समस्त इच्छित भोगों को प्राप्त करता है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरु-

न्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ।।

प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, ४

और यदि ओङ्कार की दो मात्राओं अर्थात् 'अ' और 'उ' का मन में ध्यान करता है, उनकी उपासना करता है, (सः यजुर्भिः अन्तरिक्षं उन्नीयते) तो वह यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा अन्तरिक्ष लोक में ले जाया जाता है और (सोमलोकम्) सोम लोक को प्राप्त होता है । (सः सोमलोके विभूतिं अनुभूय) वह सोम लोक में विभूति का अनुभव करके (पुनः आवर्तते) फिर इस लोक में लौट आता है ।

दो मात्राओं की उपासना का सही अर्थ समझने के लिये इस तथ्य पर मनन किया जाना चाहिये कि जैसे अकार का पृथिवी लोक तथा स्थूल जगत् से सम्बन्ध है, वैसे ही उकार का सम्बन्ध महाव्याहृतियों में भुवः, लोकों में अन्तरिक्ष, आत्मा के पादों में द्वितीय पाद, जिसे तैजस कहते हैं, स्वप्नावस्था, यजुर्वेद तथा सूक्ष्म जगत् से है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दो मात्राओं की उपासना करने वाला पुरुष सांसारिक ज्ञान तथा ऐश्वर्य के साथ साथ सूक्ष्म जगत् एवं आध्यात्मिक ज्ञान में भी अभिरुचि रखता है तथा यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन करता है । अतः ऐसा पुरुष इन दोनों तत्वों के प्रभाव से केवल एक मात्रा की उपासना करने वाले पुरुष से अपेक्षाकृत उत्तम सोमलोक को प्राप्त होता है, जहाँ वह ऐश्वर्य एवं सुख का अनुभव करके उचित समय पर पुनः मनुष्य योनि को प्राप्त होता है ।

माण्डूक्य उपनिषद् में कहा है कि ओङ्कार की दूसरी मात्रा उकार की उपासना करने वाला पुरुष 'ज्ञानसंततिम् उत्कर्षति' ज्ञान की परम्परा को उन्नत करता है, श्रेष्ठ सन्तान को उत्पन्न करता है और उसके कुल में अब्रह्मवित् अर्थात् ब्रह्म को न जानने वाला कोई नहीं होता ।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ

भवत: । प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, ५

(य: पुन: एतं त्रिमात्रेण ओम् इति एतेन अक्षरेण एवं परं पुरुषम् अभिध्यायीत) और जो अ+उ+म् इन तीनों मात्राओं से युक्त ओ३म् इस अक्षर के द्वारा उस परमेश्वर का ध्यान करता है, (स: तेजसि सूर्ये सम्पन्न:) वह तेजोमय सूर्य लोक को प्राप्त होता है (यथा पादोदर: त्वचा विनिर्मुच्यते) तथा जैसे पादोदर अर्थात् सर्प केंचुली से निकल जाता है (एवं ह वै स: पाप्मना विनिर्मुक्त:) वैसे ही वह साधक भी निश्चय ही पापों से मुक्त हो जाता है और (स: सामभि: ब्रह्मलोकं उन्नीयते) वह साम मन्त्रों द्वारा उत्कृष्ट ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है (स: एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषं ईक्षते) और वह इस श्रेष्ठ जीवात्मा से भी अत्यन्त श्रेष्ठ तथा समस्त ब्रह्माण्ड रूपी पुरी में व्याप्त परात्पर परम पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करता है।

ओङ्कार की तीनों मात्राओं की उपासना करने का वास्तविक अर्थ समझने के लिये यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि जहाँ अकार का सम्बन्ध पृथिवी लोक, स्थूल जगत् तथा आत्मा की जाग्रत अवस्था से है और उकार का सम्बन्ध अन्तरिक्ष लोक, आत्मा के दूसरे पाद, स्वप्नावस्था तथा सूक्ष्म जगत् से है, वहीं मकार का सम्बन्ध महाव्याहृतियों में स्व:, लोकों में ब्रह्मलोक, आत्मा की सुषुप्तावस्था जिसे प्राज्ञ कहते हैं एवं सामवेद तथा कारण जगत् से है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ओङ्कार की तीनों मात्राओं अर्थात् समग्र ओ३म् की उपासना करने वाला पुरुष जहाँ एक ओर सांसारिक ज्ञान तथा ऐश्वर्य प्राप्त करता है, वहीं दूसरी ओर यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करते हुये भक्ति पूर्वक उपासना करता है जिससे उसकी आत्मा को साक्षात् परब्रह्म का दर्शन प्राप्त होता है । समग्र ओ३म् की उपासना करने वाला ऐसा पुरुष जीवन में सर्वतोमुखी अभ्युदय एवं नि:श्रेयस प्राप्त करता है । ब्रह्म का साक्षात्कार करने के उपरान्त आत्मा के तुरीय पाद की स्थिति का वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् में 'शान्तं शिवम् अद्वैतम्' के रूप में किया गया है, जिसका तात्पर्य है कि इस अवस्था में

आत्मा तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता क्योंकि ओङ्कार के उपासक का आत्मा परमात्मा में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है।

'संविशत्यात्मनात्मानं' (आत्मना आत्मानं अभि सं विवेश-यजुर्वेद, ३२।११) आत्मा के द्वारा परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है।

माण्डूक्य उपनिषद् में कहा है कि ओङ्कार की तीसरी मात्रा मकार, आत्मा की सुषुप्तावस्था तथा प्राज्ञ नामक तृतीय पाद से सम्बन्धित है, अतः जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है, तथा (अपीतिः भवति) सबको अपने में विलीन कर लेने वाला हो जाता है, सर्वरूप हो जाता है।

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता,
अन्योऽन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु,
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ।।

प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, ६

(तिस्रः मात्राः प्रयुक्ताः मृत्युमत्यः) ओङ्कार की तीनों मात्रायें अलग अलग प्रयोग किये जाने पर मृत्युमती हैं, अर्थात् मृत्यु की सीमा के अन्दर ही रहती हैं, मृत्यु की परिधि के बाहर नहीं जातीं। इस प्रकार की उपासना से साधक जन्म मृत्यु के चक्र से नहीं छूट सकता किन्तु इन तीनों मात्राओं की (अन्योऽन्यसक्ताः अनविप्रयुक्ताः) एक दूसरे से सम्बद्ध तथा समन्वित रूप से इस प्रकार ध्यान तथा उपासना किये जाने पर कि इनका प्रयोग परस्पर विपरीत न हो तथा (बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु क्रियासु) बाह्य, मध्य एवं आभ्यन्तर अर्थात् जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं की क्रियाओं में (सम्यक् प्रयुक्तासु) सम्यक् रूप से प्रयुक्त किये जाने पर (ज्ञः न कम्पते) ज्ञानी विचलित नहीं होता।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं,
सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्,
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ।।

प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, ७

(ऋग्भि: एतम्) ऋग्वेद से इस लोक को (यजुर्भि: अन्तरिक्षम्) यजुर्वेद के मन्त्रों से अन्तरिक्ष लोक को और (सामभि: यत् तत् कवय: वेदयन्ते) साम के मन्त्रों से उस लोक को, जिसे ज्ञानी ही जानते हैं, साधक प्राप्त होता है । (ओङ्कारेण आयतनेन विद्वान् तम् अन्वेति) ओङ्कार के आश्रय से, आलम्बन से ज्ञानी साधक उसको प्राप्त करता है, (यत् तत् शान्तम् अजरम् अमृतम्, अभयम् परम् च इति) जो वह शान्त, अजर, अमृत, अभय तथा सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर है ।

इस श्लोक में ओङ्कार की तीन मात्राओं की उपासना के माध्यम से ज्ञान, कर्म तथा उपासना तीनों के समुच्चय की आवश्यकता पर बल दिया गया है । मात्राओं में अकार ऋग्वेद अथवा ज्ञान से (उकार) यजुर्वेद अथवा कर्म से तथा (मकार) सामवेद अथवा उपासना से विशेष रूप से सम्बन्धित है, अत: जब असम्बद्ध रूप से इनका अलग अलग प्रयोग किया जाता है तब उपासक अमृतत्व को प्राप्त नहीं कर पाता । इसीलिये अलग अलग प्रयुक्त की गयी ये मात्रायें मृत्युमती अर्थात् मृत्यु की सीमा के अन्दर ही कही गयी हैं किन्तु जब इनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करके सम्बद्ध रीति से इनका समन्वित एवं सम्यक् प्रयोग किया जाता है, तब इनकी उपासना विशेष फलवती होती है और ज्ञान, कर्म तथा उपासना तीनों के सामञ्जस्य से पुरुष अपनी आत्मोन्नति करते हुये परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है ।

यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में जिस प्रकार विद्या अविद्या तथा सम्भूति असम्भूति के प्रकरणों में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों के

सामंजस्य का निर्देश दिया गया है, उसी प्रकार इन श्लोकों में ओङ्कार की तीनों मात्राओं तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, भूः, भुवः, स्वः, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा बाह्य, मध्यम एवं आभ्यन्तर अवस्थाओं तथा वैश्वानर, तैजस एवं प्राज्ञ में परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य की महत्ता पर बल दिया गया है।

वास्तव में भगवान् का नियम ही समन्वय एवं सामञ्जस्य का है। उसके द्वारा, दिन-रात, उष्ण-शीत, अग्नि-सोम, सूर्य-चन्द्र, व्यक्त-अव्यक्त, पुरुष-स्त्री, शरीर-आत्मा, जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख आदि अनेक परस्पर विरोधी तत्वों का सामंजस्य करके ही सृष्टि की रचना तथा व्यवस्था की गयी है। यही जीवन का रहस्य है तथा सत्य एवं शाश्वत नियम है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति आदि सभी आर्ष ग्रन्थों में ओ३म् तथा गायत्री मन्त्र के जप, चिन्तन एवं मनन का ही विधान किया गया है, अन्य किसी का नहीं किन्तु फिर भी आज हम लोग अपने अज्ञानवश तथा कुछ अप्रामाणिक एवं अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रन्थों के कारण राम, कृष्ण आदि भिन्न भिन्न नामों का जप संकीर्तन करके अपना समय नष्ट करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि स्वयं भगवान् शिव एवं कृष्ण भी ओ३म् तथा गायत्री मन्त्र का ही जप करते थे। अतः हमें भी उन्हीं के चरण चिह्नों पर चलना चाहिये।

गायत्री मञ्जरी (५) में कहा है कि भगवान् शिव ने पार्वती जी को बताया कि मैं वेदमाता गायत्री की ही उपासना करता हूँ। श्री मद्भागवत में भगवान् कृष्ण द्वारा गायत्री मन्त्र का जप किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है।

आज कल कुछ लोग तो साईं बाबा आदि जीवित लोगों के नामों का कीर्तन, शिव, राम तथा कृष्ण आदि के पूज्य नामों के साथ करते हैं। अन्ध भक्ति, मूर्खता तथा पतन की यह पराकाष्ठा है। कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान् पूजनीय अथवा चमत्कारिक शक्तियों से युक्त क्यों न हो, उसकी भगवान् के समान उपासना करना, उसका भजन, कीर्तन आदि करना अत्यन्त अवैदिक, निकृष्ट तथा निन्दनीय कार्य है, जो पुरुष की

गरिमा के सर्वथा विपरीत है।

जिस धर्म में आत्मा को परमात्मा का अंश मानकर "यो ऽसावादित्ये पुरुष: सोऽसावहम्" यजुर्वेद, ४०।१७ जो वह आदित्य में पुरुष (परमात्मा) है वही प्राणों में रहने वाला मैं हूँ कहा गया है, उस धर्म के अनुयायियों के लिये किसी व्यक्ति विशेष की पूजा अर्चना करना नितान्त अशोभनीय एवं अपमानजनक है। केवल एकमात्र भगवान् ही उपास्य देव हैं, वही हमारे विधाता, माता पिता, भाई तथा सखा हैं, यह विचार हम सबको अपने हृदय में भली भाँति स्थिर कर लेना चाहिये। वेद में कहा गया है "ओम् क्रतोस्मर" ओ३म् का स्मरण करो, अन्य किसी का नहीं।

वेद में भगवान् को केवल उपास्य देव, पिता, भाई तथा सखा के रूप में वर्णित किया गया है। किसी भी मन्त्र में आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध सेवक और स्वामी के रूप में नहीं बताया गया है बल्कि इसके विपरीत "सखा सखिभ्य: ईड्य:" कहकर उसे अपना पूजनीय मित्र बताया गया है। वेद के इस सिद्धान्त के अनुसार ही महाभारत में कृष्ण एवं अर्जुन का मैत्री सम्बन्ध दिखाया गया है। वास्तव में परमात्मा तथा आत्मा के सम्बन्ध का यह वेद प्रतिपादित सच्चा स्वरूप है।

ओ३म् को सहस्र बार जपने का फल

तदेतदक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत् त्रिरात्रोपोषित: प्राङ्मुखो वाग्यतो बर्हिष्युपविश्य सहस्रकृत्व आवर्तयेत् सिध्यन्त्यस्यार्था: सर्वकर्माणि। गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग, १।२२

(तत् एतद् अक्षरम्) इस अक्षर, अविनाशी ओ३म् को ब्राह्मण (यं कामं इच्छेत्) जिस इष्ट पदार्थ को चाहे, (त्रिरात्रोपोषित:) तीन रात तक उपवास करता हुआ (प्राङ्मुख:) पूर्व की ओर मुख करके (वाग्यत:) मौन धारण कर (बर्हिषि उपविश्य) कुशासन पर बैठकर (सहस्रकृत्व:) सहस्रबार (आवर्तयेत्) फेरता रहे, जप करता रहे। (अस्य अर्था: सर्वकर्माणि च) ऐसा करने पर उसके मनोरथ और समस्त कार्य (सिध्यन्ति) सिद्ध हो जाते हैं।

जप

ईश्वर के नाम में अचिन्त्य एवं अवर्णनीय शक्ति है । वेद में कहा गया है कि उसका नाम स्वयमेव महान यश है ।

न तस्यं प्रतिमा अंस्ति यस्य नामं महद्यशः । हिरण्यगर्भ इत्येष मा मां हिंꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ।। यजुर्वेद. ३२।३

उस परब्रह्म की कोई प्रतिमा, मूर्ति, आकृति अथवा प्रतिकृति नहीं है, और न कोई उसके सदृश ही है, जिसका नाम महान यश है, जिसके नाम संकीर्तन से महान यश प्राप्त होता है, जिसका सर्वत्र व्याप्त महान यश ब्रह्माण्ड में सब ओर सुशोभित होता है तथा जिसका वर्णन 'हिरण्यगर्भः' आदि 'मा मा हिंसीद्' आदि एवं 'यस्मान्न जातः' आदि मन्त्रों में किया गया है ।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों का सन्दर्भ निम्न प्रकार है–

हिरण्यगर्भः–	यजुर्वेद २५ । १०
यस्मान्न जातः–	यजुर्वेद ८ । ३६
मा मा हिंसीद्–	यजुर्वेद १२ । १०२

इसीलिये भगवान् के सर्वश्रेष्ठ नाम ओ३म् सहित गायत्री के जप का सर्वाधिक महत्व है ।

यह निर्विवाद है कि गायत्री जप से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों को दूर करने में सहायता प्राप्त होती है तथा चित्त निर्मल एवं प्रसन्न होता है । जप द्वारा, संसार को उत्पन्न करने वाले, उसका पालन पोषण करने वाले तथा चेतना एवं प्रेरणा देने वाले सविता देव अर्थात् परमपिता परमात्मा से संयुक्त हो जाने के कारण शक्ति का प्राप्त होना उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार प्रवाहित होती हुई विद्युत से तार जोड़ देने पर तार में विद्युत शक्ति का आ जाना । जब एक निर्जीव तार विद्युत के सम्पर्क में आकर इतना शक्ति सम्पन्न हो जाता है तब ब्रह्म के ही अंश इस चेतन

जीवात्मा को अनन्त शक्ति सम्पन्न तथा समस्त जगत् के महाप्राण, उस परमपिता परमात्मा से संयुक्त कर देने पर उसमें भगवान् की शक्ति आ जाने में क्या संशय हो सकता है।

हम अपनी आत्मा को जितना योग्य जितना सक्षम तथा जितना पात्र बनाते हैं, भगवान् की उतनी ही शक्ति, उसका उतना ही तेज हम अपने अन्दर धारण कर पाते हैं। अनन्त जलराशि में पात्र डुबोने पर भी हम उतना ही जल प्राप्त कर सकते हैं जितना बड़ा पात्र हमारे पास है। इसलिये आवश्यकता है अपनी आत्मा की पात्रता एवं क्षमता में वृद्धि करने की ताकि भगवान् का अधिकाधिक तेज, उसकी अधिकाधिक शक्ति तथा उसका अधिकाधिक ऐश्वर्य हम अपने अन्दर धारण कर सकें। जप के द्वारा यह वृद्धि सुगमता से होती है।

जप का प्रमुख उद्देश्य एकाग्रचित्त होकर अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त करना है। श्रद्धा भक्ति एवं विश्वास पूर्वक किये गये प्रणव तथा गायत्री के जप से अन्त: करण में सात्विक वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है तथा साधक शनै: शनै: परमात्मा की ओर अग्रसर होता है और उसे अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है।

भगवत्प्राप्ति के लिये जप का महत्व योगदर्शन के इस सूत्र से स्पष्ट हो जाता है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन, समाधिपाद १। २८

ओङ्कार का जप तथा उसी की भावना करना चाहिये। भावना का अर्थ है, ब्रह्म के विषय में ही श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक अनन्य भाव से चिन्तन, मनन एवं नमन।

जप शब्द की विवेचना निम्नप्रकार की गयी है—

जकारो जन्मविच्छेद: पकार: पापनाशक:।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्म पापविनाशक:॥

अग्नि पुराण

जप शब्द का 'जकार' जन्म बन्धन से मुक्त कराने वाला है तथा

'पकार' पापनाशक है। अत: जन्म एवं मृत्यु के बन्धन तथा पापों से मुक्ति दिलाने वाला होने के कारण इसे 'जप' कहा जाता है।

मनोमध्ये स्थितं मन्त्रं मन्त्रमध्ये स्थितं मन: ।
मनो मन्त्रसमायुक्तमेतच्च जपलक्षणम् ।।

मन के मध्य में मन्त्र स्थित हो और मन्त्र के मध्य में मन स्थित हो, इस प्रकार मन और मन्त्र की सम्मिलित अवस्था ही जप का लक्षण है।

श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वास पूर्वक सावित्री मन्त्र अथवा ओंकार के पुन: पुन: किये गये उच्चारण को जप कहा जाता है। इसमें मानसिक जप का विशेष महत्व है।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणै: ।
उपांशु: स्याच्छतगुण: सहस्रो मानस: स्मृत: ।।

मनुस्मृति,२।८५

सामान्य यज्ञ से जप यज्ञ का महत्व दश गुना होता है, उपांशु जप का महत्व सौ गुना तथा मानसिक जप का महत्व सहस्र गुना होता है।

जपो नाम विधिवद् गुरुपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यास: ।

शाण्डिल्योपनिषद् १।२

शास्त्रानुसार विधिवद्, गुरु के द्वारा उपदिष्ट, वेदसम्मत मन्त्र का अभ्यास ही जप कहलाता है। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि मन्त्र वेदसम्मत होना चाहिये, वेद विरुद्ध या मनमाना नहीं।

जप के विषय में कुछ लोगों ने ऐसी मिथ्या बातें प्रचारित कर रखी हैं कि चाहे किसी भी मन्त्र का जप श्रद्धा भक्ति पूर्वक करो, फल बराबर ही मिलेगा और ऐसे जप करने वालों को भगवान् अथवा उसके इष्ट देवता के दर्शन अवश्य प्राप्त होंगे। उनका कथन है कि वाल्मीकि जी तो राम के स्थान पर 'मरा–मरा' का ही जप करके ब्रह्म समान हो गये।

उलटा नाम जपत जग जाना।
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ।।

इतने बड़े महर्षि के विषय में ऐसी अनर्गल बातें करना कितना निन्दनीय है। महर्षि वाल्मीकि को भला 'मरा–मरा' जप करने की क्या आवश्यकता थी? क्या उनमें 'राम–राम' कहने की भी समझ नहीं थी?

वास्तविकता यह है कि वैदिक ज्ञान के लुप्त हो जाने के कारण, जिन लोगों ने कभी वेदों एवं शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया किन्तु जो फिर भी अपने को विद्वान् दिखाना चाहते हैं, वे ही इस प्रकार की असत्य बातें प्रचारित करते रहते हैं, चाहे इससे हमारे श्रेष्ठ धर्म का कितना ही पतन क्यों न हो जाय।

गुरु परम्परा के विकृत हो जाने के फलस्वरुप आज कण्ठी बांधने वाले विभिन्न गुरु अनेक प्रकार के मन्त्रों का जप करने का उपदेश अपने शिष्यों को देते हैं और ये पढ़े लिखे शिष्य अपने उस तथा कथित गुरु के वचन को वेद वाक्य मानकर उसका पालन करते हैं, यद्यपि इससे उन्हें किसी प्रकार का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, केवल उनके श्रम एवं समय का ही अपव्यय होता है। वास्तव में यह केवल आत्म प्रवंचना है।

भगवान् राम, कृष्ण, गणेश, हनुमान तथा भगवती दुर्गा आदि देवियों का पूजन अर्चन ठीक है क्योंकि यह हमारी युगों पुरानी संस्कृति का भाग है। अपना देश, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति सभी पूजनीय हैं, चाहे उनकी मानसिक पूजा की जाय, चाहे मन्दिर में उनकी मूर्ति स्थापित करके किन्तु यदि जप एवं पूजन अर्चन द्वारा आध्यात्मिक प्रगति करनी है तो केवल ब्रह्म की ही उपासना की जानी चाहिये और केवल प्रणव अर्थात् ओम् जो कि ब्रह्म का वाचक है एवं गायत्री मन्त्र का ही जप किया जाना चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि मन्त्र स्वयं ही देवता है क्योंकि इससे हमें दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है किन्तु यह कथन केवल वेदमन्त्रों के लिये है तथाकथित बनावटी मन्त्रों के लिये नहीं।

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रोवेदे। निरुक्त १।२

पुरुष विद्या के अनित्य होने के कारण कर्मसिद्धि कराने वाला वेद

में पठित मन्त्र ही है। अनेक विद्वानों का मत है कि गायत्री के गान एवं सस्वर उच्चारण से जो दिव्य तरंगे वायुमण्डल में तथा सूक्ष्म शरीर में उत्पन्न होती हैं, वे प्राण, मन एवं अन्त:करण पर विशेष प्रभाव डालती हैं जिससे साधक को असीम आनन्द, उत्साह एवं अभय प्राप्त होता है तथा उसका हृदय प्रसन्नता से भर जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि वेदमन्त्रों के उच्चारण से जो ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे शरीर के स्नायु तन्तुओं में एक ऐसा स्पन्दन उत्पन्न करती हैं, जिससे पुरुष आत्म विभोर हो जाता है और सांसारिक समस्याओं को भूलकर आत्माभिमुख हो जाता है, उसका चित्त एकाग्र हो जाता है, मन में पवित्रता का संचार तथा आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है। इसका प्रमाण किसी योग्य वेदपाठी ब्राह्मण द्वारा किये गये सस्वर वेदपाठ को सुनने से प्राप्त हो सकता है। इसमे लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है कि मन्त्र की शक्ति असीम है। बड़े से बड़ा शस्त्रबल भी उसके सामने निष्प्रभावी हो जाता है। वाल्मीकि रामायण में इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकरण आया है।

महर्षि बनने से पूर्व विश्वामित्र एक अत्यन्त शक्तिशाली राजा थे। एक बार वे बड़ी भारी सेना लेकर वसिष्ठ जी के आश्रम पर गये। महर्षि वसिष्ठ ने नन्दिनी गौ से कहा कि वह सभी अतिथियों के सत्कार के लिये सामग्री उपलब्ध कराये। नन्दिनी ने तदनुसार राजा, उनके सौ पुत्रों तथा उनकी सेना के प्रत्येक योद्धा एवं सैनिक के लिये उनकी मनोवाञ्छित वस्तुयें उपलब्ध कराकर उन्हें सब प्रकार से तृप्त कर दिया। इस पर महाराज विश्वामित्र नन्दिनी पर मुग्ध हो गये और वसिष्ठ जी से नन्दिनी को माँगने लगे। वसिष्ठ जी ने उनसे कहा कि वह किसी भी प्रकार नन्दिनी को अपने से अलग नहीं कर सकते। राजा ने उन्हें अनेक प्रलोभन दिये किन्तु वसिष्ठ जी किसी भी दशा में नन्दिनी को देने के लिये सहमत नहीं हुये, तब क्रुद्ध विश्वामित्र बलपूर्वक नन्दिनी को खींचकर ले जाने लगे। इस पर नन्दिनी दुःखी हुयी और अपने को छुड़ाकर वेगपूर्वक वसिष्ठ जी

के पास पहुँची और उनसे पूछा कि क्या उन्होंने उसका त्याग कर दिया है। इस पर वसिष्ठ जी ने कहा कि वह ऐसा कभी नहीं कर सकते । राजा अपनी बलवान सेना की शक्ति के कारण ही अहंकार से तुम्हें बलपूर्वक लिये जा रहा है। तब नन्दिनी ने उनसे प्रार्थना की कि वह उसे अनुमति दें ताकि वह राजा की सेना को नष्ट करके उनके दर्प को चूर कर सके।

नन्दिनी द्वारा अनुरोध किये जाने पर वसिष्ठ जी ने उसे सेना उत्पन्न करने की अनुमति दे दी और तब नन्दिनी ने अनेक प्रकार के वीरों से युक्त अत्यन्त बलशाली सेना उत्पन्न की जिसने विश्वामित्र की समस्त सेना को नष्ट कर दिया। इस पर विश्वामित्र के सौ पुत्र वसिष्ठ जी को मारने दौड़े किन्तु महर्षि वसिष्ठ ने एक हुंकार मात्र से सब को जलाकर भस्म कर दिया।

दृष्ट्वा निषूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना ।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम् ।।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धं वसिष्ठं जपतां वरम् ।
हुंकारेणैव तान् सर्वान् निर्ददाह महानृषि: ।।

वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग,५५।५६

महात्मा वसिष्ठ द्वारा अपनी सेना का संहार हुआ देख विश्वामित्र के सौ पुत्र अत्यन्त क्रोध में भर गये और नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र लेकर जप करने वालों में श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनि पर टूट पड़े। तब उन महर्षि ने हुंकार मात्र से उन सब को जलाकर भस्म कर दिया।

अपने सौ पुत्रों तथा समस्त सेना का इस प्रकार विनाश देखकर विश्वामित्र निस्तेज होकर अत्यन्त दुःखी हुये और उनका जो एक पुत्र बचा था उसे राज्य सौंप कर हिमालय पर्वत पर जाकर भगवान् शिव को प्रसन्न करने के लिये तपस्या करने लगे। उनकी घोर तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने प्रकट होकर उनसे वर माँगने को कहा। इस पर विश्वामित्र ने उनसे सब प्रकार के दिव्यास्त्र माँगे। भगवान् शिव ने एवमस्तु कहकर

उनका मनोरथ पूर्ण कर दिया। इस पर विश्वामित्र अत्यन्त प्रसन्न हुये तथा उसी क्षण वसिष्ठ जी को मृत समझने लगे।

वह शिव जी द्वारा दिये गये समस्त अस्त्रों से सुसज्जित होकर महर्षि वसिष्ठ के आश्रम पर गये और भिन्न भिन्न प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करके उनके आश्रम को दग्ध कर दिया, जिससे वसिष्ठ जी के समस्त शिष्य एवं आश्रम के पशु पक्षी भागने लगे और क्षण भर में ही वह आश्रम सूना एवं निःशब्द हो गया।

इस पर वसिष्ठ जी भी अत्यन्त क्रोधित होकर धूमरहित कालाग्नि के समान उद्दीप्त हो उठे और उन्होंने यमदण्ड के समान भयंकर डंडा हाथ में उठा लिया।

इत्युक्त्वा परम क्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्डमिवापरम् ।।

वाल्मीकि रामायाण, बाल. सर्ग, ५५।२८

ऐसा कहकर वे अत्यन्त क्रुद्ध हो धूमरहित कालाग्नि के समान उद्दीप्त हो उठे और यमदण्ड के समान भयंकर डंडा हाथ में उठाकर तुरन्त उनका सामना करने के लिये तैयार हो गये।

जब महाबली विश्वामित्र ने आग्नेयास्त्र लेकर उनसे कहा, अरे! "खड़ा रह खड़ा रह"। तब महर्षि वसिष्ठ ने कहा–

क्वच ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत् ।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपासन ।।

वाल्मीकि रामायाण, बाल. सर्ग, ५६।४

अरे क्षत्रिय कुलकलङ्क ! कहाँ तेरा क्षात्रबल और कहाँ महान ब्रह्मबल। मेरे दिव्य ब्रह्म बल को देख।

विश्वामित्र द्वारा प्रयोग किया गया आग्नेयास्त्र वसिष्ठ जी के दण्ड के सम्मुख उसी प्रकार शान्त हो गया जैसे जल से भयंकर अग्नि शान्त हो जाती है। तब कुपित विश्वामित्र ने वरुण, रौद्र, ऐन्द्र, पाशुपत, ऐषीक आदि

अगणित भयंकर अस्त्र वसिष्ठ जी पर चलाये किन्तु ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ जी ने उन सभी अस्त्रों को अपने डंडे से ही नष्ट कर दिया।

वसिष्ठे जपतां श्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत् ।
तानि सर्वाणि दण्डेन ग्रसते ब्रह्मणः सुतः ।।

वाल्मीकि रामायाण, बाल. सर्ग, ५६।१३

जप करने वालों में श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठ पर इतने अस्त्रों का प्रहार, यह एक अद्भुत सी घटना थी, परन्तु ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठ जी ने उन सभी अस्त्रों को केवल अपने डंडे से ही नष्ट कर दिया।

तब विश्वामित्र ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया जिससे समस्त देवता, देवर्षि तथा नाग, गन्धर्व एवं किन्नर सभी भयभीत हो गये किन्तु महर्षि वसिष्ठ ने अपने ब्रह्म तेज के प्रभाव से उस महा भयङ्कर ब्रह्मास्त्र को भी अपने ब्रह्म दण्ड से ही शान्त कर दिया। उस समय उनके शरीर से किरणों की भाँति आग की लपटें निकलने लगीं और उनका ब्रह्मदण्ड कालाग्नि के समान प्रज्वलित हो गया।

विश्वामित्र के इस प्रकार पराजित होने के उपरान्त समस्त मुनियों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर वसिष्ठ जी शान्त हो गये और तब विश्वामित्र दीर्घ निःश्वास लेकर बोले–

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ।।

वाल्मीकि रामायाण, बाल. सर्ग, ५६।२३

क्षत्रिय बल को धिक्कार है, ब्रह्मतेज से प्राप्त होने वाला बल ही वास्तव में बल है। आज एक ब्रह्मदण्ड ने मेरे सभी अस्त्र नष्ट कर दिये।

इस प्रकरण में महर्षि वसिष्ठ को अनेक बार 'जपतां श्रेष्ठम्' अर्थात् जप करने वालों में श्रेष्ठ कहा गया है। यह है मन्त्रशक्ति एवं ब्रह्मतेज का प्रभाव, जो गायत्री के सम्यक् जप से प्राप्त होता है, जैसा कि स्वयं वेद में ही कहा गया है।

भगवान् के अनन्तरूप हैं तथा उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं, अत: उसकी जिस शक्ति को हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसी की उपासना की जाती है। भगवान् का सृजन करने वाला, रक्षा करने वाला तथा प्रेरणा देने वाला तेजस्वी रूप सविता है। इसी सवि्ता के वरेण्य पापनाशक तेज को प्राप्त करके अपने अन्दर धारण करने के लिये गायत्री द्वारा उसका ध्यान एवं उपासना की जाती है। इससे हमें न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रत्युत जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षेत्र में तेजस्विता प्राप्त होती है। गायत्री उपासना से ब्रह्मतेज प्राप्त करने के लिये जीवन को तप: पूत एवं यज्ञमय बनाना होता है।

प्रत्येक साधक को यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जप यज्ञ का आधार सत्य, अस्तेय, अहिंसा, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य ये पाँच यम तथा तप, सन्तोष, शौच, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान यह पाँच नियम हैं। इन यम-नियमों की विस्तृत विवेचना लेखक की पुस्तक 'यजुर्वेद अन्तिम अध्याय ईशावास्योपनिषद्' में की गयी है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपरोक्त यमों तथा नियमों का पालन साथ साथ किया जाना चाहिये। यमों को छोड़कर केवल नियमों का पालन करना विशेष लाभदायक नहीं होता।

यद्यपि एक सामान्य पुरुष के लिये इनका पूर्ण रूप से पालन करना सम्भव नहीं है फिर भी जो व्यक्ति जप यज्ञ के द्वारा अपनी आत्मिक उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें इनके पालन का अधिकाधिक प्रयास अवश्य करना चाहिये क्योंकि ये यम -नियम वास्तव में वैदिक धर्म के प्रमुख अंग हैं। हम जितना अधिक इनका पालन करेंगे, उतना ही अधिक लाभ जप यज्ञ से प्राप्त कर सकेंगे। वास्तम में सफल गायत्री साधना के लिये सत्य एवं सदाचार की परम आवश्यकता होती है।

भगवान् मनु नें मनुस्मृति, १।१०८ में कहा है—

आचार: परमो धर्म: श्रुत्युक्त: स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विज:।।

वेद एवं स्मृति द्वारा निर्धारित सदाचार परम धर्म है।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफल भाग्भवेत् ।।

मनुस्मृति, १।१०९

आचार रहित ब्राह्मण वेद के फल को प्राप्त नहीं कर सकता, केवल आचार से संयुक्त ब्राह्मण ही वेद के सम्पूर्ण फल का भोग करता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ।।

मनुस्मृति,२।९७

दुष्टस्वभाव वाला विप्र वेदपाठ, त्याग, यज्ञ, नियम अथवा तप, किसी भी प्रकार से सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अतः दुष्टता एवं दुराचार का परित्याग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।

गीता,८।२२

हे पार्थ! जिस परमात्मा के अन्दर समस्त भूत स्थित हैं तथा जिसने इस समस्त सृष्टि को रचा है, इसका विस्तार किया है तथा जिससे यह जगत् परिपूर्ण है, वह पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने वाला है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।

गीता, १७।२८

हे पार्थ ! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन तथा तप, बिना श्रद्धा के दिया हुआ दान तथा अन्य कर्म 'असत्' कहा जाता है । वह न तो इस लोक में लाभदायक होता है, और न परलोक में ।

जप यज्ञ की यह विशेषता है कि इसे बिना किसी प्रकार के बाह्य

उपकरणों के, बिना किसी आडम्बर के, बिना किसी नियमों के बन्धन के कभी भी किसी के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। इसके लिये न धन की आवश्यकता है, न सामग्री की, न पुरोहित की और न अधिक शिक्षा की। निर्धन से निर्धन सदाचारी भक्त किसी भी अवस्था में इस यज्ञ के माध्यम से भगवान् का पूजन, अर्चन, नमन तथा उनकी उपासना कर सकता है। इसके लिये आवश्यक है केवल निर्मल बुद्धि, सरल हृदय, शिव संकल्प वाला मन तथा भगवद् भक्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति की उत्कट अभिलाषा। विदेशी शिक्षा एवं संस्कृति के मानसिक दास कुछ तथाकथित आधुनिक दार्शनिक जप को निरर्थक बताते हैं और कहते हैं इससे मस्तिष्क कुण्ठित हो जाता है किन्तु निःसन्देह यह उनकी भूल है। वास्तव में ऐसा वही लोग कहते हैं जिन्होंने वेदों एवं शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया तथा तर्क की सीमा को पार कर श्रद्धा एवं विश्वास के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं किया जिसके कारण इन लोगों का चिन्तन एवं दार्शनिकता उनके अहंकार की सीमाओं को कभी पार नहीं कर पाती।

भगवान् के सर्वश्रेष्ठ नाम ओ३म् तथा गायत्री मन्त्र के नियमित जप में अत्यधिक शक्ति है और इससे जहाँ एक ओर मनुष्य का चित्त निर्मल होता है, वहीं दूसरी ओर मन की चञ्चलता समाप्त होती है, अन्तःकरण की पवित्रता होती है तथा आत्मिक शक्ति का विकास होता है। दुःखों का नाश, अभय की प्राप्ति, सांसारिक ऐश्वर्य एवं आध्यात्मिक उन्नति यह सभी उद्देश्य भक्तिपूर्वक किये गये नियमित जप से प्राप्त होते हैं। वास्तव में यह तर्क का नहीं बल्कि अनुभव का विषय है।

जपयज्ञ की यह विशेषता है कि इसमें साधक अपने को परमात्मा के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित कर देता है और सतत् स्मरण एवं प्रार्थना द्वारा उसकी कृपा की आकाँक्षा करता है। भगवान् की कृपा अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होती है और अनन्य भक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन निश्चय ही भगवान् के नाम का स्मरण, कीर्तन तथा गान द्वारा की गयी उसकी उपासना है। उपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन वही हो सकता है जो सबके लिये सब कहीं

तथा सब परिस्थितियों में सुलभ हो। निश्चय ही यह साधन जप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता।

इसीलिये जपयज्ञ की महिमा अनेक मनीषियों द्वारा वर्णित की गयी है। स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने जप यज्ञ की महिमा बताते हुये कहा है-

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।।

गीता, १०।२५

महर्षियों में मैं भृगु हूँ, वाणियों में एकाक्षर ओंकार हूँ, यज्ञों में जप यज्ञ हूँ तथा पर्वतों में हिमालय हूँ।

जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते ।
अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते ।। महाभारत

समस्त धर्मों से जप को श्रेष्ठ धर्म कहा जाता है क्योंकि जप यज्ञ से प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव उत्पन्न होता है।

सर्वेषामपि पुण्यानां सर्वेषां श्रेयसामपि ।
सर्वेषामपि यज्ञानां जपयज्ञः परः स्मृतः ।।

स्कन्दपुराण,१।७

समस्त पुण्य कर्मों, श्रेय के समस्त साधनों तथा समस्त यज्ञों में जपयज्ञ सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ समन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।

मनुस्मृति, २।८६

जो चार पाक यज्ञ अर्थात् बलि वैश्वदेव, अग्निहोत्र, वृद्धजनों को आदर सहित कराया गया भोजन एवं अतिथि सत्कार तथा विधिपूर्वक किये गये अन्य यज्ञ हैं, वे सब जपयज्ञ की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं।

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

शंख स्मृति, १२।१४ मनुस्मृति, २।८७

इसमें संशय नहीं है कि ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है, (अन्यं कुर्याद् न वा कुर्याद्) चाहे वह कोई अन्य धर्म कार्य करे अथवा न करे। ब्राह्मण को मैत्र अर्थात् सब का मित्र कहा जाता है।

ब्राह्मणे दारुणं नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।

यह श्लोक अनेक स्मृतियों में आया है।

ब्राह्मण में क्रूरता नहीं होती, अतएव ब्राह्मण को मैत्र अर्थात् सबके प्रति मैत्री भाव रखने वाला कहा जाता है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि महर्षियों ने गृहस्थ आश्रम के लिये पाँच महायज्ञों की व्यवस्था की है। यह ध्यान रहे कि ये यज्ञ नहीं प्रत्युत महायज्ञ हैं, जिनको सम्पन्न करना परमावश्यक है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

मनुस्मृति, ३।७०

वेद शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, माता पिता तथा अन्य वृद्ध जनों को भोजन तथा सेवा सुश्रूषा आदि से सन्तुष्ट रखना पितृ यज्ञ है, अग्निहोत्र करना देव यज्ञ है, बलि वैश्व देव अर्थात् निर्धनों, अपाहिजों, कुष्ठ आदि के रोगियों, गौवों, कुत्तों, पक्षियों एवं चीटियों आदि को भोजन देना भूतयज्ञ है तथा अतिथि सत्कार नृयज्ञ है।

जपेन पापं शमयेदशेषं यत्तत्कृतं जन्मपरम्परासु ।
जपेन भोगान् जयते च मृत्युं जपेन सिद्धिं लभते च मुक्तिम् ॥

लिङ्गपुराण, पूर्वार्ध ८५।१२४

जन्म जन्मान्तरों में किये गये समस्त पाप भी गायत्री जप से नष्ट

हो जाते हैं। जप से मनुष्य कर्म के भोगों तथा मृत्यु को जीत लेता है। गायत्री जप से सिद्धि एवं मुक्ति प्राप्त होती है।

स्तुति, उपासना तथा प्रार्थना, भक्ति के ये तीन प्रमुख अंग हैं। गायत्री में ये तीनों समाहित हैं। प्रथम पाद से सविता देव की स्तुति की जाती है, द्वितीय पाद से ब्रह्म के ज्योतिर्मय स्वरुप का ध्यान चिन्तन, तथा उपासना की जाती है और तृतीय पाद से बुद्धि को कल्याणकारी शुभ कर्मों की ओर प्रेरित किये जाने की प्रार्थना की जाती है। भक्ति के तीनों अंगों का कैसा अनोखा समन्वय है इस मन्त्र में।

स्तुति में भगवान् के गुणों का वर्णन होता है, इसके द्वारा साधक को यह प्रयास करना चाहिये कि वह भगवान् के महान कार्यों का अनुकरण करे तथा उनके अनन्त गुणों को अपनी सीमा के अनुसार अपने अन्दर धारण करने का प्रयास करे।

गायत्री परमो मन्त्रस्तं जप्त्वा भुक्तिमुक्तिभाक्।

अग्निपुराण २८४।२

गायत्री परम मन्त्र है। इसका जप करने से सांसारिक ऐश्वर्य का भोग तथा मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं।

इदमाह्निकमव्यग्रं कुर्वद्भिर्नियतै: सदा।
नृपैर्भरतशार्दूल प्राप्यते श्रीरनुत्तमा॥

महाभारत, अनु. पर्व, १५०।८

हे भरत शार्दूल, भरत वंश के सिंह! जो राजा मन एवं इन्द्रियों को वश में करके शान्ति पूर्वक प्रतिदिन गायत्री मन्त्र का जप करते हैं, उन्हें सर्वोत्तम श्री अर्थात् शोभा एवं संपत्ति प्राप्त होती है।

जपेन येनेह कृतेन पुंसो ददाति मार्गं सविताऽपि कर्तु:।
अयं हि सर्वेष्टिकृतां वरिष्ठो विधे: पदं यास्यति निर्विकल्पम्॥

बृहत्पाराशर स्मृति २।१०६

गायत्री का जप करने से भगवान् जपकर्ता को सन्मार्ग में प्रवृत्त

करते हैं। यह गायत्री जप समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ है तथा इससे मनुष्य निर्विकल्प ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।

गायत्रीं विस्तराद् दिव्यां पठेदेव श्रृणोति च।
मुच्यते सर्वपापेभ्य: परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

जो दिव्य गायत्री मन्त्र का विस्तार से पाठ करता है, जप करता है और श्रवण करता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और परब्रह्म के पद को प्राप्त करता है।

गायत्रीं संस्मरेद्योगात् स याति ब्रह्मण: पदम्।
गायत्रीजप्यनिरतो मोक्षोपायञ्च विन्दति ॥

बृहत्पाराशरस्मृति ५।७८

जो गायत्री का स्थिर चित्त होकर स्मरण करता है वह ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। गायत्री जप में निरत व्यक्ति मोक्ष के उपाय को भी प्राप्त करता है।

कुर्वन्तोऽपीह पापानि ये त्वां ध्यायन्ति पावनि।
उभे सन्ध्ये न तेषां हि विद्यते देवि पातकम् ॥

अग्नि पुराण

हे पवित्र करने वाली गायत्री देवि! इस संसार में पाप करने पर भी जो प्रात: काल एवं सायंकाल दोनों सन्ध्याओं में तुम्हारा ध्यान करते हैं, उनके पाप निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं, वे निष्कल्मष हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इच्छानुसार पाप करो और यह सोचो कि गायत्री जप इन्हें नष्ट कर देगा। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्म कोटि शतैरपि ॥

गरुड़ पुराण,५।५७

अपने द्वारा किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। सैकड़ों, करोड़ों जन्मों में भी फल का भोग किये बिना कर्मों का क्षय नहीं होता।

यह आवश्यक है कि जप को नियमित रूप से भक्तिपूर्वक बिना व्यवधान के किया जाय।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ।।

मनुस्मृति, २।१०५

वेद, वेदाङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष आदि के पठन पाठन तथा नित्य कर्म अर्थात् गायत्री जप, सन्ध्योपासन एवं मन्त्रोच्चारण के साथ होम करने में अनध्याय का आग्रह नहीं होता। तात्पर्य यह है कि इन सभी कार्यों के लिये अनध्याय का प्रश्न नहीं उठता, इन्हें तो प्रत्येक दशा में करना आवश्यक है।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट् कृतम् ।।

मनुस्मृति, २।१०६

(नैत्यके अनध्यायः न अस्ति) नित्य कर्म में अनध्याय नहीं होता है उसे तो (ब्रह्मसत्रं स्मृतम्) ब्रह्मयज्ञ माना गया है (हि) क्योंकि (अनध्यायवषट् कृतं ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्) अनध्याय में भी किया गया अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म पुण्यरूप होता है।

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च ।।

मनुस्मृति, ४।९४

ऋषियों ने यावज्जीवन प्रतिदिन दीर्घकाल तक सन्ध्योपासन करने से दीर्घ आयु, बल, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज प्राप्त किया है।

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ।।

मनुस्मृति, ४।१४५

मंगलकारी कार्यों में लगा रहने वाला तथा श्रेष्ठ आचरण करने वाला बने (प्रयतात्मा) उन्नति के लिये सदा प्रयत्नशील रहे और जितेन्द्रिय बन कर नित्य आलस्य रहित होकर (जपेत्) सन्ध्योपासन एवं गायत्री का जप (चैव जुहुयात्) तथा हवन करे।

तस्मादियं सदोपास्या निशादिवसयोर्द्विजैः ।
गायत्री सन्धिवेलायां सैव सन्ध्येति कीर्तिता ।।

भरद्वाज गायत्री, व्याख्या, ३७

अतः यह गायत्री द्विजों द्वारा रात्रि, दिवस, सायं, प्रातः सदा उपास्य है।

सान्ध्य वेला में उपास्य होने के कारण वह गायत्री सन्ध्या कही जाती है।

ब्रह्म केशव रुद्रादिदेवताभिरुपासिताम् ।
सन्ध्यां तां को न सेवेत विप्रः स्यादाभिलाषुकः ।।

भारद्वाज, ४२।

जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं द्वारा उपासित है, ऐसी सन्ध्या अर्थात् गायत्री की अभिलाषा करने वाला कौन ब्राह्मण सन्ध्योपासन नहीं करेगा।

जप का स्थान

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थित: ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहित: ।।

कूर्म पुराण उत्तरार्ध, १४।५०, मनुस्मृति, २।१०४

(अरण्यं गत्वा) वन में अथवा एकान्त देश में जाकर (समाहित:) शान्तचित्त से (अपां समीपे नियत:) जल के समीप स्थित होकर, (नैत्यकं विधि आस्थित:) सन्ध्योपासन की नित्य क्रिया अर्थात् प्राणायाम एवं मन्त्रपाठ के साथ साथ (सावित्रीं अपि अधीयीत)सावित्री का जप भी करे।

तात्पर्य यह है कि सन्ध्योपासन में प्राणायाम आदि के साथ गायत्री का जप करना अनिवार्य है।

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशन: ।
अहिंसो मन्दको जप्यो मुच्यते सर्वकिल्विषै: ।।

महाभारत, शान्तिपर्व, ३५।३७

जो पवित्र स्थान में मिताहारी होकर, हिंसा का सर्वथा त्यागकर, रागद्वेष, मान अपमान आदि की भावना से शून्य होकर, मौन भाव से सावित्री का जप करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले जलाशये ।
गोष्ठे देवालयेऽश्वत्थे उद्याने तुलसीवने ।।
पुण्यक्षेत्रे गुरो: पार्श्वे चित्तैकाग्रस्थलेऽपि च ।
पुरश्चरणकृन्मन्त्री सिद्धत्येव न संशय: ।।
काशीपुरी च केदारो महाकालोऽथ नासिकम् ।
त्र्यम्बकं च महाक्षेत्रं पञ्चदीपा इमे भुवि ।।

देवी भागवत ११।२१।२,३ तथा ३२ विश्वामित्र कल्प, वसिष्ठ संहिता

पर्वत के अग्रभाग में, नदीतट पर, बेल के बृक्ष के नीचे, जलाशय,

गोशाला एवं देवालय में, पीपल के नीचे, उद्यान में, तुलसीवन मे गुरु के सन्निकट अथवा जहाँ चित्त एकाग्र हो ऐसे स्थल में पुरश्चरण करने वाला मन्त्र जापक सिद्धि को प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है।

काशीपुरी, केदारनाथ (महाकाल) उज्जैन, नासिक तथा महाक्षेत्र त्र्यम्बक ये पाँच पवित्र स्थान पृथ्वी पर सिद्धि देने वाले माने गये हैं।

सिद्ध क्षेत्रेषु तीर्थेषु देवतायाश्च सन्निधौ।
सहस्रं शतकोटीनामनन्तं विष्णुसन्निधौ॥

योगि याज्ञवल्क्य, ७।१४४

सिद्ध क्षेत्र तथा तीर्थों में जप करने से सहस्र गुना, देवताओं के समीप जप करने से सैकड़ों करोड़ों गुना तथा विष्णु के समीप जप करने से अनन्त फल मिलता है।

शिवस्य सन्निधाने च सूर्याग्न्योर्वा गुरोरपि।
दीपश्च ज्वलितस्यापि जपकर्म प्रशस्यते॥

नारदीय संहिता

भगवान् शिव के समीप, सूर्य के प्रकाश में, अग्नि तथा गुरु एवं प्रज्वलित दीपक के समीप जप करना उत्तम होता है।

गृहे जप: सम: प्रोक्तो गोष्ठे शतगुण: स्मृत:।
आरामे व तथारण्ये सहस्रगुण उच्यते॥
अयतु: पर्वते पुण्ये नद्यां लक्षगुणस्तु स:।
कोटिर्देवालये प्राहुरनन्त: शिवसन्निधौ॥

शारदा तन्त्र वाचस्पतौ

घर में जप करने से सामान्य फल प्राप्त होता है, गोशाला में सौ गुना, उपवन तथा 'वन' में जप करने से सहस्र गुना फल प्राप्त होता है। पवित्र पर्वत पर जप करने से दश हज़ार गुना, नदी के किनारे एक लाख गुना, देवालय में करोड़ गुना तथा शिव जी के समीप जप करने से अनन्त

फल प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि जप का स्थान जितना अधिक स्वच्छ, शान्त एवं पवित्र होगा जप उतना ही अधिक फल दायक होगा।

जप का समय

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्ष विभावनात्॥

मनुस्मृति, २।१०१

(अर्कदर्शनात् पूर्वां सन्ध्याम्) प्रातः काल में पूर्व की ओर अभिमुख होकर सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व प्रारम्भ करके सूर्योदय तक, (सम्यग् ऋक्षविभावनात् तु पश्चिमाम्) तथा सायं काल में सूर्यास्त से लेकर अच्छी प्रकार तारों के दर्शन पर्यन्त पश्चिम की ओर अभिमुख होकर (समासीनः सावित्रीं जपन् तिष्ठेत्) शान्त चित्त से गायत्री जप करता हुआ स्थिर आसन में बैठे।

उदितेषु नक्षत्रेषु त्रीन् प्राणायामान् कृत्वा सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेच्छत कृत्वो वा दशावराम्। सामवेदीय गृह्यसूत्र

नक्षत्रों के उदित हो जाने पर तीन बार प्राणायाम करके गायत्री मन्त्र का हज़ार बार अथवा सौ बार जप करना चाहिये। न्यूनतम दश बार जप करना चाहिये किन्तु यह प्रशस्त नहीं है।

पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद् यावदादित्य दर्शनात्॥
उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सादित्याञ्च यथाविधि।
गायत्रीमभ्यसेत्तावद् यावत्तारान्न पश्यति॥

हारीतस्मृति, ४।१८,१९

प्रातः कालीन सन्ध्या तारागणों के रहते ही विधि पूर्वक प्रारम्भ करके सूर्योदय पर्यन्त गायत्री मन्त्र का जप करे तथा सायंकालीन सन्ध्या सूर्यास्त के पूर्व से ही विधि पूर्वक प्रारम्भ करके तारागणों के दर्शन पर्यन्त

गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिये।

सायं प्रातस्तु यः सन्ध्यां प्रमादात् अतिलङ्घयेत् ।
गायत्र्यास्तु सहस्त्रं हि जपेत् स्नात्वा समाहितः ।।

अत्रि स्मृति, ६३

यदि कोई प्रमाद वश प्रातः एवं सायं सन्ध्या का अतिलङ्घन कर दे अर्थात् सन्ध्या न करे तो उसे स्नान करके समाहित चित्त से गायत्री का एक हज़ार बार जप करना चाहिये।

सन्ध्याकाले व्यतीते तु न च सन्ध्यां समाचरेत् ।
गायत्रीं दशधा जप्त्वा पुनः सन्ध्यां समाचरेत् ।।

मदन पारिजात

सन्ध्या का समय व्यतीत हो जाने पर संन्ध्या न करे। प्रायश्चित रूप में दश बार गायत्री जप करके ही सन्ध्या करनी चाहिये।

आसन

कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्षं श्रीर्व्याघ्रचर्मणि ।
स्यात्पौष्टिकं च कौशेयं शान्तिकं वेत्रविष्टरम् ।।
वंशासने व्याधिनाशः कम्बले दुःखमोचनम् ।
सर्वाभावे त्वासनार्थं कुशविष्टरमिष्यते ।।

शारदा तिलक

कृष्ण मृगचर्म के आसन से ज्ञानसिद्धि तथा व्याघ्रचर्म के आसन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। रेशमी आसन पुष्टि दायक तथा वेत्र निर्मित आसन शान्ति कारक होता है। बाँस से बने आसन से व्याधिनाश तथा कम्बल के आसन से दुःखो का नाश होता है। उक्त आसनों के अभाव में कुश का आसन श्रेष्ठ माना गया है।

कौशेयं कम्बलं चैव अजिनं पट्टमेव च ।
दारुजं कुशजातं वा आसनं परिकल्पयेत् ।।

योगियाज्ञवल्क्यः

रेशमी वस्त्र, कम्बल, मृगचर्म, काष्ठ की चौकी तथा कुश इनका आसन निर्मित करना चाहिये ।

व्यास स्मृति में 'कुशजातम्' के स्थान पर 'तालपत्रम्' लिखा गया है।

तिष्ठंश्चेद्वीक्ष्यमाणोर्कमासीनः प्राङ्मुखो जपेत् ।
प्रागग्रेषु कुशष्वेवमासीनश्चासने शुभे ।।
नात्युच्छ्रिते नातिनीचे दर्भपाणिः सुसंयतः ।
जप एवं हि कर्तव्य एकाग्रमनसा तथा ।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति, ७।१३५, १३९

(प्राङ् मुखः) पूर्वाभिमुख (आसीनः) बैठकर (अर्क वीक्ष्यमाणः) सूर्य को देखता हुआ जप करे और कुशों के ऐसे शुभ आसन पर बैठे जिनका अग्रभाग पूर्व की ओर हो । आसन न तो बहुत अधिक ऊँचा हो और न ही अधिक नीचा । हाथ में दर्भ लेकर संयमित मन एवं एकाग्रचित होकर जप करना चाहिये ।

कामना भेद से भिन्न भिन्न प्रकार के आसन

अभिचारे नीलवर्णं रक्तं वश्यादिकर्मणि ।
शान्तिके कम्बलः प्रोक्तः सर्वेष्टं चित्रकम्बलं ।। व्यासः

अभिचार कर्म अर्थात् मारण, मोहन, उच्चाटन आदि में नीला आसन, (रक्तं वश्यादिकर्मणि) तथा किसी को वश में करने के लिये किये जा रहे कर्म में लाल आसन होना चाहिये । (शान्तिके कम्बलः प्रोक्तः) ग्रहपीड़ा, महामारी आदि की शान्ति के निमित्त किये जा रहे कर्म में कम्बल का आसन कहा गया है तथा चित्रकम्बल समस्त कार्यों के लिये कहा गया है ।

जप की प्रक्रिया

प्राणायामत्रयं धीमान् यथान्यायमतन्द्रित: ।
जपयज्ञं तत: कुर्याद् गायत्रीं वेदमातरम् ।।

हारीतस्मृति, ३९

बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि आलस्य रहित होकर विधिपूर्वक पहले तीन प्राणायाम करे फिर ज्ञान की माँ गायत्री का जप करे ।

प्राणायामत्रयेणैव प्रात: सन्ध्यां समाचरेत् ।
प्राणायामसमायुक्तं प्राणायामिति स्मृतम् ।।

गायत्री कल्प ३।१

तीन प्राणायामों के उपरान्त प्रात:काल की सन्ध्या करनी चाहिये । प्राणों का सम्यक् आयाम अर्थात् विस्तार ही प्राणायाम कहा जाता है ।

जपस्य पुरत: कृत्वा प्राणायामत्रयं बुध: ।
मन्त्रार्थस्मृतिपूर्वं च जपेदष्टोत्तरं शतम् ।।
शक्तोऽष्टाधिक साहस्रं जपेत्तं चार्पयज्जपम् ।।

हरिभक्तिविलास

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि जप करने के पूर्व तीन बार प्राणायाम करके मन्त्रार्थ का स्मरण करते हुये एक सौ आठ बार जप करे । जापक यदि समर्थ हो तो अपने को समर्पण करके एक हज़ार आठ बार जप करे ।

सव्याहृतिका सप्रणवा जप्तव्या शिरसा सह ।
प्राणायामे तथा सप्ता वाच्या व्याहृतय: पृथक् ।।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

प्रणव अर्थात् ओम् तथा (भू:, भुव:, स्व:) इन तीन महाव्याहृतियों के सहित (आपो ज्योति: रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुव: स्वरोम्) इस (गायत्री शिर)

के साथ गायत्री का जप करना चाहिये तथा प्राणायाम करते समय 'भूः, भुवः, स्वः महः, जनः, तपः, सत्यम्' ये सात व्याहृतियाँ मन में कहनी चाहिये।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
ये जपन्ति सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ।।

शङ्ख स्मृति १२।१

जो प्रणव, महाव्याहृतियों तथा गायत्री शिर के सहित सदा गायत्री जप करते हैं, उन्हें कभी भी भय नहीं होता।

ओङ्कारः पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्ततः परम् ।
गायत्रीं प्रणवं चान्ते जप्यं ह्येवमुदाहृतम् ।।

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति ४।२६, अग्निपुराण, २१५।१५

पहले ओंकार का उच्चारण करके भूः, भुवः, स्वः इन तीन महाव्याहृतियों और तत्पश्चात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण करे। अन्त में पुनः ओंकार का उच्चारण करे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वानों के अनुसार अन्त में पुनः ओंकार का उच्चारण करना न तो आवश्यक है और न ही उचित।

जपान्ते संस्मरेद् भूय एकमेवाद्वयं विभुम् ।
तेनैव सर्वकर्माणि सम्पन्नान्यकृतान्यपि ।।

जप के अन्त में पुनः उस एक अद्वितीय परब्रह्म का स्मरण करना चाहिये। ऐसा करने से ही मनुष्य के सभी कर्म भूल से न किये जाने पर भी सुसम्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो आवश्यक कर्म प्रमाद वश करने से रह जाते हैं वह भी भगवान् की कृपा से सम्पन्न किये जाने के समान हो जाते हैं।

जप के लिये चित्त की प्रसन्नता तथा मन की पवित्रता आवश्यक है।

मन: प्रहर्षणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम् ।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतव: ।।

प्रसन्न मन, पवित्रता, मौन, मन्त्रार्थ चिन्तन, (अव्यग्रत्वम्) चित्त की व्याकुलता का न होना, (अनिर्वेद:) अखेद अर्थात् चिन्ता से मुक्ति, ये जप की सफलता के हेतु हैं।

सन्ध्योपासन निश्चित समय पर नियम पूर्वक करना चाहिये।

भक्ति भाजो भवेद् विप्र: सन्ध्याकर्म समाचरेत् ।
काले काले प्रकर्तव्यम् सिद्धिर्भवति नान्यथा ।।

गायत्री कवच ३०

भगवान् के प्रति भक्ति एवं निष्ठा रखते हुये विप्र नियमित रूप से सन्ध्योपासन करे तथा सदैव निर्धारित समय पर गायत्री का जप करे तभी उसे सिद्धि प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं।

जप के भेद

त्रिविधो जपयज्ञ: स्यात्तस्य भेदं निबोधत ।
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविध: स्मृत: ।।
त्रयाणाम् जपयज्ञानां श्रेष्ठ: स्यादुत्तरोत्तर: ।

नरसिंह पुराण, हारीत स्मृति ४।४०,४१

जप यज्ञ तीन प्रकार का होता है—वाचिक, उपांशु तथा मानस। उक्त तीनों प्रकार के जप एक दूसरे से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं।

वाचिक जप

यदुच्चनीचोच्चरितै: शब्दै: स्पष्ट पदाक्षरै: ।
मन्त्रमुच्चारयन् वाचा जपयज्ञस्तु वाचिक: ।।

हारीत स्मृति ४।४२

उच्च तथा नीचे स्वरों से युक्त स्पष्ट शब्द, पद और वर्ण वाले मन्त्रों

का उच्चारण करना ही वाचिक जप कहलाता है।

उपांशु जप

शनैरुच्चारयन् मन्त्रं किञ्चिदोष्ठौ प्रचालयेत् ।
किञ्चिच्छ्रवणयोग्यः स्यात् स उपांशुर्जपः स्मृतः ।।

हारीत स्मृति ४।४३

मन्त्र का धीरे धीरे ऐसा उच्चारण करना जिसमें ओंठ कुछ कुछ चलते रहें और कुछ कुछ श्रवण के योग्य हो, उपांशु जप कहलाता है।

मानस जप

धिया पदाक्षरश्रेण्या अवर्णमपदाक्षरम् ।
शब्दार्थचिन्तनाभ्यां तु तदुक्तं मानसं जपः ।।

हारीत स्मृति ४।४४

जिसमें पद और अक्षरों का क्रम केवल बुद्धि में ही हो, अक्षर वर्ण एवं पदों का उच्चारण न हो तथा शब्दों के अर्थ का चिन्तन हो, उसे मानस जप कहा जाता है।

वाचिकस्त्वहमेव स्यादुपांशु शतमुच्यते ।
सहस्रं मानसं प्रोक्तं त्रिविधं जपलक्षणम् ।।

गायत्री कवच ३५

वाचिक जप का सामान्य फल होता है। उसकी अपेक्षा उपांशु का सौगुना तथा मानस जप का सहस्र गुना फल होता है।

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।
नोच्चैर्जाप बुधः कुर्यात् सावित्र्यास्तु विशेषतः ।।

शंख स्मृति १२।१५

उपांशु जप का सौगुना फल है तथा मानस जप का हज़ार गुना। विद्वान् पुरुष को ऊँचे स्वर से जप नहीं करना चाहिये, विशेष रूप से गायत्री का।

उत्तमं मानसं जप्यमुपांशु मध्यमं विदुः ।
अधमं वाचिकं प्राहुः सर्वमन्त्रेषु वै द्विजाः ।।

विश्वामित्र कल्प

समस्त मन्त्रों में मानस जप निः सन्देह सर्वोत्तम, उपांशु जप मध्यम तथा वाचिक जप अधम कहा गया है ।

जप का ढंग

नोच्चैर्जपं बुधः कुर्याद्रहः कुर्यादतन्द्रितः ।
समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापि चिन्तयेत् ।।

अग्नि पुराण

विद्वान् को चाहिये कि उच्च स्वर से जप न करे । वह एकान्त स्थान में आलस्य रहित होकर शान्त चित्त से मौन होकर मन ही मन मन्त्र का चिन्तन करे ।

छन्द ऋष्यादि विज्ञाय जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ।
जपेदहरहर्ज्ञात्वा गायत्रीं मनसा द्विजः ।।

हारीत स्मृति ४।४७

गायत्री के छन्द, ऋषि आदि को जानकर आलस्य रहित होकर द्विज प्रतिदिन गायत्री का मानस जप करे ।

ऋषिश्छन्दोऽधिदैवं च ध्यायन् मन्त्रस्य सत्तमे ।
यस्तु मन्त्रं जपेद् गार्गि तदेव हि फलप्रदम् ।।

याज्ञवल्क्य संहिता, उत्तरार्ध २।१८

हे सत्तमे ! हे गार्गि ! मन्त्र के ऋषि, छन्द तथा अधिष्ठातृ देवता का ध्यान करता हुआ जो मन्त्र का जप करता है, उसी के लिये मन्त्र फलदायी होता है ।

मन्त्रार्थ पर विचार करते हुये जप करना चाहिये ।

जपस्यान्तरे व्याख्या स्मर्तव्या मनसा द्विजैः ।
स्मरणात् सर्वपापानि प्रणश्यन्ति न संशयः ।।

भारद्वाजः

द्विजों को चाहिये कि गायत्री का जप करते समय गायत्री मन्त्र के अर्थ का मन में अवश्य स्मरण करें । अर्थ के स्मरण से जप करने वाले के समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ।

करमाला

अंगुलियों के पर्वों अर्थात् उठे हुये भागों से जप करना अत्यन्त सरल है, विशेष रूप से जब कि जप की संख्या अधिक न हो । अंगुलियों के नाम क्रमशः इस प्रकार होते हैं—अंगूठा, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका एवं कनिष्ठा (सबसे छोटी अंगुली) । जप का प्रारम्भ अनामिका के दूसरे पर्व से प्रारम्भ करके नीचे की ओर चले, फिर कनिष्ठा की नीचे वाले पर्व से ऊपर की ओर चलते हुये क्रमशः अनामिका, मध्यमा तथा तर्जनी के ऊपर वाले पर्वों से प्रदक्षिणा क्रम से चलते हुये तर्जनी के नीचे वाले पर्व तक जाना चाहिये । इन दश पर्वों के चक्र को करमाला कहते हैं ।

हथेली और अंगुलियों के बीच तथा पर्वों के बीच की सन्धियों में जो रेखायें होती हैं, उन पर अंगूठा नहीं रखना चाहिये । इसी प्रकार अंगुलियों के सबसे ऊपरी सिरों पर अंगूठा नहीं रखना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से तनाव होता है और ध्यान बंटता है । इसीलिये अंगुलियों को फैलाकर अलग अलग रखने का भी निषेध किया गया है और कहा गया है कि अंगुलियों को ढीला छोड़कर मिला हुआ रखना चाहिये । जप, माला अथवा अंगुलियों के पर्वों से करना चाहिये ।

पर्वभिस्तु जपेद्देवीं माला काम्यजपे स्मृता ।
गायत्री वेद मूला स्याद् वेदः पर्वसु गीयते ।।

गायत्री कल्प

गायत्री मन्त्र का जप अंगुलियों के पर्वों से करना चाहिये किन्तु

काम्य जप में माला का प्रयोग करे, ऐसा स्मृतियों में कहा गया है। गायत्री का मूल वेद है और वेद पर्वों में गाया जाता है। अत: शब्द साम्य से अंगुलियों के पर्वों का वेद से सम्बन्ध माना जाता है। इसीलिये उक्त व्यवस्था की गयी है।

आरभ्यानामिकामध्यं पर्वाण्युक्ताभ्यनुक्रमात्।
तर्जनीमूलपर्यन्तं जपेद्दशसु पर्वसु ।।गायत्री कल्प

अनामिका के मध्य पर्व से प्रारम्भ कर तर्जनी के मूल पर्व तक (दक्षिणावर्त चलते हुये) प्रदक्षिणा क्रम से दश पर्वों से जप करना चाहिये।

अनामामध्यमारभ्य कनिष्ठादित एव च।
तर्जनीमूलपर्यन्तं दशपर्वसु सञ्जपेत् ।।

सनत्कुमार संहिता

अनामिका के मध्य पर्व से प्रारम्भ करके नीचे की ओर चलकर फिर कनिष्ठा के मूल पर्व से होते हुये ऊपर की ओर चले। तत्पश्चात् क्रमश: अनामिका, मध्यमा तथा तर्जनी के ऊपर वाले पर्वों से होते हुये तर्जनी के मूल पर्यन्त दश पर्वों से जप करे।

पर्वद्धयमनामिक्या: कनिष्ठादि क्रमेण तु।
तर्जनीमूलपर्यन्तं करमाला प्रकीर्तिता।।

देवी भागवत ११।१९।१९

अनामिका अंगुली के दूसरे पोर अर्थात् मध्य पोर से आरम्भ करके नीचे की ओर चलकर कनिष्ठा के नीचे से ऊपर तक के पर्वों तथा अनामिका, मध्यमा और तर्जनी के ऊपर वाले पर्वों से होते हुये प्रदक्षिणा क्रम में तर्जनी के मूल तक के दश पर्वों को करमाला कहा जाता है।

अनामा मध्यमा हीना कनिष्ठादिक्रमेण तु।
तर्जनीमूलपर्यन्तं गायत्री जप लक्षणम् ।।

गायत्री कवचम् ३७

अनामिका के मध्य पर्व से नीचे की ओर चलकर कनिष्ठा के पर्वों से क्रमानुसार ऊपर चलते हुये तर्जनी के मूल पर्यन्त जप करना गायत्री जप का लक्षण है।

तर्जनी मध्यमाऽनामा कनिष्ठा चेति ताः क्रमात्।
तिस्रोऽङ्गुल्यस्त्रिपर्वाणो मध्यमा चैकपर्विका ।।
पर्वद्वयं मध्यमाया मेरुत्वेनोपकल्पयेत् ।
अनामामध्यमारभ्य कनिष्ठादित एव च ।।
तर्जनी मूलपर्यन्तं दशपर्वसु सञ्जपेत् ।

सनत्कुमार संहिता

तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा, ये क्रमशः चार अंगुलियाँ होती हैं। इनमें से जप के लिये तीन अंगुलियों के तीन तीन पर्व एवं मध्यमा का केवल एक ऊपर वाला पर्व ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार दश पर्वों से जप किया जाता है। मध्यमा के अवशिष्ट दो पर्वों को मेरु समझना चाहिये। अनामिका के मध्य पर्व से आरम्भ करके कनिष्ठा के मूल से होते हुये तर्जनी के मूल पर्व तक दश पर्वों में जप करना चाहिये।

मध्यमाङ्गुलिमूले तु यत्पर्वद्वितयं भवेत् ।
तं वै मेरुं विजानीयाज्जपे तं नातिलङ्घयेत् ।।

गायत्री कल्प

मध्यमा अंगुलि के मूल में जो दो पर्व हैं उन्हें मेरु जानना चाहिये। जप में उनका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये।

यह नियम शरीर की रचना को दृष्टि में रखते हुये बनाया गया है क्योंकि मध्यमा के नीचे वाले दो पर्वों पर अंगूठा रखने से पीड़ा होती है और ध्यान बंटता है।

अङ्गुलीर्न वियुञ्जीत किञ्चिदाकुञ्चिते तले ।
अङ्गुलीनां वियोगाच्च छिद्रे च स्त्रवते जपः ।।

सनत्कुमार संहिता

हथेली को थोड़ा संकुचित करके अंगुलियों को मिला हुआ रखे । अंगुलियों के अलग अलग होने पर उनके बीच जो छिद्र हो जाते हैं, उनसे जप स्त्रवित हो जाता है, बह कर बाहर निकल जाता है । अंगुलियों को फैलाने से तनाव होता है, अतः यह नियम भी शरीर विज्ञान के अनुकूल ही बनाया गया है ताकि जप के समय किसी प्रकार का तनाव न हो ।

अङ्गुल्यग्रे च यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलङ्घने ।
पर्वसन्धिषु यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ।।

सनत्कुमार संहिता

अंगुलियों के अग्रभाग से तथा मेरु का उल्लंघन करके जो जप किया जाता है और जो जप पर्व की सन्धियों से किया जाता है वह सब निष्फल होता है । पर्व की सन्धियों अर्थात् बीच की रेखाओं, विशेष रुप से नीचे वाली सन्धियों पर अंगूठा रखने तथा अंगुलियों के ऊपरी सिरों को छूने से भी खिचाव होता है, अतः इसका निषेध किया गया है ।

जप के लिये प्रशस्त माला

काम्य जप के लिये रुद्राक्ष आदि की माला का प्रयोग करे ।

अंगुल्यैव जपं कुर्यान्न काम्यं कदाचन ।
रुद्राक्षाद्यैः सर्वसिद्धिरतो मालां प्रकल्पयेत् ।।

काम्य जप कभी भी अंगुलियों से न करे । रुद्राक्षादि की माला से जप करने से सर्वसिद्धि होती है अतः कामना पूर्ति के लिये उपयुक्त माला का प्रयोग करे ।

सौवर्णं राजतं ताम्रं स्फाटिकं रत्नजन्तथा ।
अरिष्टं पुत्रजीवं च शंखं पद्मं तथा मणिम् ।

कुशग्रन्थि च रुद्राक्षमुत्तमं चोत्तरोत्तरम् ।।

स्कन्द पुराण

सोना, चाँदी, ताँबा, स्फटिक, रत्न, नीम, पुत्रजीव, (जिया पोता) शंख, पद्म, मणि, कुशग्रन्थि तथा रुद्राक्ष की माला, उत्तरोत्तर उत्तम मानी गयी है।

गायत्र्या अक्षमालायां सायं प्रात: शतं जपेत् ।
चुतुर्णां खलु वेदानां समग्रं लभते फलम् ।।

अथर्ववेद परिशिष्ट, सन्ध्यासूत्र ४।५

जो प्रात: एवं सायंकाल अक्ष माला से सौ बार गायत्री का जप करता है, वह निश्चय ही चारों वेदों के अध्ययन का फल प्राप्त करता है। (अक्षमाला अक्षाणां रुद्राक्षादीनां माला अक्षमाला।) पद्माक्ष अथवा रुद्राक्ष से निर्मित माला को अक्षमाला कहते हैं।

रुद्राक्ष: श्वेत पद्माक्षमाले तु अखिले जपेत् ।
अतिस्थूलोऽतिसूक्ष्मश्च स्फुटितो भं गुरुर्लघु: ।।
भिन्न: पुरा धृतो जीर्णो रुद्राक्षो वरद: स्मृत: ।
अष्टोत्तरशतैर्माला प्रशस्ता सर्वकर्मसु ।।

शारदा तिलक

रुद्राक्ष की माला, श्वेत पद्म की माला तथा स्फटिक मणि की माला से समस्त मन्त्रों का जप प्रशस्त माना गया है। रुद्राक्ष चाहे बहुत बड़ा या बहुत छोटा हो, गुरु अथवा लघु हो, फूटा हो, पहले से धारण किया अथवा जीर्ण हो तो भी वरदायक माना गया है। सभी कार्यों में रुद्राक्ष की एक सौ आठ दानों की माला प्रशस्त मानी गयी है।

दशलक्षं राजताक्षै: सौवर्णै: कोटिरुच्यते ।
कुशग्रन्था च रुद्राक्षैरनन्तगुणितो भवेत् ।। मन्त्रखण्ड

चाँदी के अक्षों की माला से जप दश लक्ष गुणा, सोने के अक्षों से कोटि गुणा तथा कुशग्रन्थि एवं रुद्राक्ष से अनन्तगुणित फलदायक है।

सर्वमन्त्रं जपं कुर्याद्विजो रुद्राक्षमालया। लिङ्ग पुराण

द्विज को चाहिये कि वह सभी मन्त्रों का जप रुद्राक्ष की माला से करे।

रुद्राक्षमालिका सूते जपेन स्वमनोरथान्।
पद्माक्षैर्विहिता माला शत्रूणां नाशिनीमता॥

कालिकापुराण

रुद्राक्ष की माला समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली तथा कमल गट्टा की माला शत्रुनाशिनी कही गयी है।

पट्टसूत्रकृता माला देव्याः प्रीतिकरा मता।
कार्पासैर्वैष्णवी माला पट्टसूत्रैरथापि वा॥

रेशमी सूत से गुंथी हुयी माला गायत्री देवी के लिये अतिशय प्रीतिकरा मानी गयी है। रुई के सूत तथा रेशमी सूत से गुंथी हुयी माला वैष्णवी माला होती है।

माला की मणियों की संख्या

अष्टोत्तरशतं कुर्याच्चतुः पञ्चाशिकापिवा।
सप्तविंशतिका वापि ततो नैवाधमा हिता॥ व्यासः

एक सौ आठ मणियों से, चौवन मणियों से अथवा सत्ताइस मणियों से माला बनानी चाहिये। इससे कम मणियों की माला अधम होने के कारण हितकारिणी नहीं होती।

जप्त्वाक्षमालां सकलां भ्रामयेदाशिखामणिम्।
प्रदक्षिणं पुनर्वक्रे प्रारम्भ्यैवं समाचरेत्॥

पुरश्चरण दीपिका

जप करते समय समस्त अक्षमाला को शिखामणि तक घुमाना

चाहिये। तत्पश्चात् माला को उलट कर पुनः प्रदक्षिणा क्रम से प्रारम्भ करके जप करना चाहिये।

अंगुष्ठमध्यमाभ्यां च चालयेन्मध्यमध्यतः।
तर्जन्यां न स्पृशेदेनां मुक्तिदा गणनक्रमः ।।

वैशम्पायन संहिता

अंगुष्ठ और मध्यमा अंगुली के बीच से माला को घुमाये और तर्जनी से स्पर्श न करे। इस प्रकार के गणनाक्रम को मुक्तिदायक कहा गया है।

गायत्री के विविध प्रयोग

विभिन्न ग्रन्थों में जप की विशेष प्रक्रियायें तथा उनके फल बताये गये हैं।

क्षीराहारो जपेन्मृत्योः सप्ताहाद् विजयी भवेत् ।
अनश्नन् वाग्यतो जप्त्वा त्रिरात्रं मुच्यते यमात् ।।
निमज्याऽऽप्सु जपेद्देवीं सद्यो मृत्योर्विमुच्यते ।
जपेद् बिल्वं समाश्रित्य मासं राज्यमवाप्नुयात् ।।

देवी भागवत ११।२४।५२—५४

केवल दूध का आहार करके गायत्री का जप करने वाला मनुष्य एक सप्ताह में मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। मौन धारण कर तथा बिना कुछ खाये पिये जप करने वाला तीन रात्रि में यमराज के पाश से मुक्त हो जाता है। जल में निमग्न होकर जप करने वाला तुरन्त ही मृत्यु से छुटकारा पा जाता है तथा बिल्व वृक्ष के नीचे बैठकर जप करने वाला एक महीने में राज्य प्राप्त कर लेता है।

जानुदघ्ने जले जप्त्वा सर्वान् दोषाञ्छमं नयेत्।
कण्ठदघ्ने जले जप्त्वा मुच्येत्प्राणान्तिकाद् भयात्।

सर्वेभ्यः शान्तिकर्मेभ्यो निमज्याऽप्सु जपः स्मृतः ।।

देवी भागवत ११।२४।५,६

जानु पर्यन्त जल में रहकर गायत्री का जप करने से पुरुष के समस्त दोष शान्त हो जाते हैं। कण्ठ पर्यन्त जल में जप करने से प्राणान्तकारी भय दूर हो जाता है। सभी प्रकार की शान्ति के लिये जल में प्रवेश करके गायत्री का जप करना चाहिये, ऐसा कहा गया है।

जप की संख्या

न्यूनतम दश बार तथा सामान्य रूप से १०८ बार गायत्री जप करना चाहिये।

अष्टोत्तरसहस्रं वा अष्टोत्तरशतं तु वा।
अष्टाविंशतमेवाऽथ गायत्री दशकं जपेत् ।।

गायत्री कल्प ७।१५

गायत्री का १००८ बार, १०८ बार, २८ बार अथवा १० बार जप करना चाहिये।

अष्टोत्तरशतं नित्यमष्टाविंशतिरेव वा।
विधिना दशकं वापि त्रिकालं प्रजपेद् बुधः ।।

व्यासः

विद्वान् द्विज प्रतिदिन तीनों कालों में विधिपूर्वक १०८ बार, २८ बार अथवा १० बार गायत्री जप अवश्य करे।

सायं प्रातश्च मध्याह्ने सावित्रीं वाग्यतो जपेत्।
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ।।

वाणी का संयम करके प्रातः काल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल में गायत्री का जप करना चाहिये। प्रतिदिन एक हज़ार गायत्री का जप करना उत्तम है, १०० बार गायत्री जप मध्यम, तथा १० बार गायत्री जप करना अवर अर्थात् साधारण है।

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ।
गायत्रीं तु जपेन्नित्यं सर्वपापप्रणाशिनीम् ।।

गायत्री का सहस्रबार जप उत्तम, शत बार मध्यम तथा दश बार साधारण कहा गया है। समस्त पापों का नाश करने वाली गायत्री का जप नित्य करना चाहिये।

अत्रि, यम, शौनक तथा वृद्ध आपस्तम्ब आदि ने भी उपरोक्तानुसार लिखा है।

विधिनाऽष्टोत्तरशतमष्टाविंशतिरेव वा ।
दशवारमशक्तो वा नातो न्यूनं कदाचन ।।

देवी भागवत,११।१७,१६

विधिपूर्वक एक सौ आठ बार, अट्ठाइस बार अथवा अशक्त होने पर दश बार गायत्री का जप करना चाहिये। इससे कम जप किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिये।

एकधा दशधा वा यः शतधा वा पठेदिमाम् ।
एकाकी बहुभिर्वापि संसिद्ध्येदुत्तरोत्तरम् ।।

गायत्री मन्त्र को एक बार, दस बार अथवा सौ बार पढ़े। जो इसे अकेले अथवा बहुतों के साथ सामूहिक रूप से पढ़ता है, वह उत्तरोत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

सप्तभिः पावयेद्देहं दशभिः प्रापयेद् दिवम् ।
विंशत्यावर्तिता देवी नयते चेश्वरालयम् ।।
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा तारयेज्जन्मसागरात् ।
तीर्णो न पश्यति प्रायो जन्ममृत्युं हि दारुणम् ।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति ४।७२,७३

प्रतिदिन सात बार गायत्री का जप करने से गायत्री देवी शरीर को

पवित्र करती है,दश बार जप करने से स्वर्ग लोक की प्राप्ति कराती है, बीस बार जप करने से शिवलोक में पहुँचाती है तथा एक सौ आठ बार जप करने से भव सागर से पार कर देती है। जो इसके द्वारा भवसागर से पार हो जाता है वह फिर जन्म मृत्यु के दारुण दुख को नहीं देखता ।

शतजप्ता तु सा देवी दिनपापप्रणाशिनी ।
सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्य: समुद्धरेत् ।।
दशसहस्रजप्ता तु सा देवी सर्वकल्मषनाशिनी ।

शंखस्मृति १२।२,३

सौ बार जप की हुयी गायत्री देवी दिन के समस्त पापों का नाश करने वाली होती है, सहस्र बार जप करने से जपकर्ता का समस्त पातकों से उद्धार कर देती है तथा दश सहस्र बार जप की हुयी गायत्री देवी समस्त पापों का विनाश करने वाली होती है ।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विज: ।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ।।

मनुस्मृति, २।७९

जो ब्राह्मण भीड़भाड़ से बाहर एकान्त स्थान में (एतत् त्रिकम्) ओंकार तथा तीन व्याहृतियों के सहित गायत्री मन्त्र का प्रतिदिन एक हज़ार बार जप करता है वह एक महीने में बड़े बड़े पापों से भी उसी प्रकार छूट जाता है जिस प्रकार केंचुली से सर्प ।

सर्वेषामेव पापानां सङ्करे समुपस्थिते ।
दशसहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनं परम् ।।

पाराशर स्मृति ११।५७

समस्त पापों के सम्मिलित हो जाने पर दस हज़ार बार गायत्री का जप कर लेने पर परम शुद्धि हो जाती है ।

सर्वेषां भवपापानां सङ्करे समुपस्थिते ।
दशसाहस्त्रिकोऽभ्यासो गायत्र्याः शोधनं परम् ।।

बृहद् योगि. स्मृति, ४।५४

समस्त प्रकार के सांसारिक पापों के सम्मिलित होकर उपस्थित हो जाने पर गायत्री का दस हज़ार बार किया गया जप परम शोधन करने वाला होता है।

ब्रह्मचारी मिताहारः सर्वभूतहिते रतः ।
गायत्र्या लक्षजप्येन सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

संवर्त संहिता, २१६

अल्प आहार करने वाला तथा सभी प्राणियों के हित साधन में संलग्न ब्रह्मचारी गायत्री का एक लक्ष बार जप करने से सभी पापों से मुक्त हो जाता है ।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च शतमष्टोत्तरं जपेत् ।
वाणप्रस्थे यतिश्चैव जपेदष्टसहस्त्रकम् ।।

वाधूल स्मृति, १५४

अनेक अन्य स्मृतियों में भी यह श्लोक है ।

गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी को प्रतिदिन १०८ बार गायत्री का जप करना चाहिये । वाणप्रस्थी एवं सन्यासी को प्रतिदिन १००८ बार गायत्री का जप करना चाहिये ।

ब्रह्मचर्याहिताग्निश्च शतमष्टोत्तरं जपेत् ।
वाणप्रस्थो यतिश्चैव सहस्त्रादधिकं जपेत् ।।

योगि याज्ञवल्क्यः

ब्रह्मचारी और अग्निहोत्री ग्रहस्थ को १०८ बार जप करना चाहिये जब कि वाणप्रस्थ और यती को एक सहस्त्र बार गायत्री का जप करना चाहिये ।

अथ चारुविधिर्मासं सहस्रं प्रत्यहं जपेत् ।
आयुष्कामः शुचौ देशे प्राप्नुयादायुरुत्तमम् ।।

देवी भागवत, ११।२४।६४

आयु की कामना करने वाले द्विज को किसी पवित्र स्थान में बैठकर उत्तम विधि से प्रतिदिन एक हज़ार गायत्री का जप करना चाहिये; इससे उत्तम आयु की प्राप्ति होती है।

पुत्रदाराऽऽयुरारोग्यश्रियं विद्यां च पञ्चभिः ।
एवमेवोत्तरान् कामान् मासैरेवोत्तरैर्व्रजेत् ।।

देवी भागवत्, ११।२४।६६,६७

पुत्र, स्त्री, आयु, आरोग्य, लक्ष्मी और विद्या इनकी कामना करने वाले को पाँच मास तक नियम पूर्वक एक हज़ार गायत्री का जप करना चाहिये। इस प्रकार जितने जितने मनोरथ अधिक हों उनके अनुपात में महीनों की संख्या में भी वृद्धि करनी चाहिये।

नियम में उल्लघंन पर शुद्धि

सन्ध्यावन्दनहानौ तु नित्यस्नानं विलुप्य च ।
होमं च नैत्यिकं शुद्धं सावित्र्यष्टसहस्त्रकम् ।।

दैनिक सन्ध्या वन्दन की हानि होने पर तथा स्नान एवं नित्य हवन के लुप्त होने पर सावित्री का एक हज़ार आठ (१००८) बार जप करने से शुद्धि प्राप्त होती है।

दिवा स्वपिति यः स्वस्थो ब्रह्मचारी कथञ्चन ।
स्नात्वा सूर्य समीक्षेत गायत्र्यष्टशतं जपेत् ।।

संवर्त संहिता, ३२।

यदि कोई ब्रह्मचारी स्वस्थ होने पर भी कभी दिन में शयन करता है तो वह प्रायश्चित रूप में स्नान करके सूर्य का दर्शन करे तथा गायत्री का एक सौ आठ बार जप करे।

आत्मन: शोधनार्थाय लक्षत्रयं जपेद् बुध: ।
अथवाऽप्यष्टलक्षं तु गायत्रीं श्रुतिचोदिताम् ।।
चतुर्विंशतिलक्षं वा याज्ञवल्क्य मतं यथा ।।

विश्वामित्र कल्प

बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह अपने शरीर तथा आत्मा की शुद्धि के लिये वेदोक्त गायत्री मन्त्र का तीन लाख, आठ लाख अथवा चौबीस लाख जप करे, ऐसा याज्ञवल्क्य का मत है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गायत्री मन्त्र हमें स्वस्थ, सफल एवं सुखी जीवन तथा ब्रह्मवर्चस प्रदान करता है और गायत्री उपासना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति में साधक को निश्चित रूप से सहायता प्राप्त होती है। जप करने में कोई उतावलापन नहीं होना चाहिये बल्कि जप धीरे धीरे शान्त एवं एकाग्र चित्त से श्रद्धा एवं भक्ति भावना के साथ किया जाना चाहिये। मन्त्र का अर्थ मन में कहते हुये जप करना विशेष लाभदायक होता है। इससे ध्यान केन्द्रित होता है तथा निद्रा एवं आलस्य भी नहीं आता। मन्त्र का उच्चारण स्पष्ट एवं सही होना चाहिये। प्रयास यह करना चाहिये कि पूर्व निश्चित संख्या में जप पूर्ण किये बिना जप समाप्त नहीं करेंगे और यथा शक्ति स्थिर आसन पर बैठेंगे किन्तु यदि निद्रा अधिक सताने लगे तो खड़े होकर जप करना चाहिये।

यह पुन: स्पष्ट करना आवश्यक है कि गायत्री मन्त्र का मानसिक जप हर समय, हर दशा में टहलते हुये, उठते, बैठते, चलते, फिरते काम करते हुये अथवा लेटे हुये भी किया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है बल्कि ऐसा करने से अत्यन्त सुखद अनुभव होता है तथा सुख एवं शक्ति प्राप्त होती है । साथ ही भगवान् के सामीप्य से आत्मविश्वास में वृद्धि होती है और मानसिक तनाव समाप्त होता है । कठिन परिस्थितियों में तो ऐसा करना विशेष लाभदायक होता है ।

यहाँ यह बाताना महत्वपूर्ण है कि वास्तविक जप वही है जिसे

करने में आनन्द की अनुभूति हो तथा जिसमें साधक आत्मविभोर हो जाय। हठ पूर्वक येन केन प्रकारेण जप की संख्या पूर्ण करने की कोई उपयोगिता नहीं है । कितने ही लोगों का मन तरह तरह की सांसारिक बातों में लिप्त रहता है । वह छल, कपट तथा चालाकी की बातें सोचते रहते हैं किन्तु साथ ही माला भी फेरते हुये श्री राम, श्री राम अथवा शिव, शिव या हरे कृष्ण, हरे कृष्ण कहते रहते हैं। यह मात्र ढकोसला तथा आत्मप्रवंचना है जिसे दूर करना ही श्रेयस्कर है। ऐसे ही लोगों के लिये कहा गया है–

माला फेरत जुग भयो मिटो न मन का फेर ।
कर का मनका डार के मन का मनका फेर ।।

जब तक मन की पवित्रता नहीं होती, जब तक अन्त: करण भक्ति से ओत प्रोत नहीं होता तब तक जप का कोई विशेष लाभ नहीं होता । यह भी आवश्यक है कि जप के साथ साथ स्वाध्याय, श्रेष्ठ कर्म, योग साधना, कर्तव्य पालन तथा जन कल्याण के कार्य भी किये जायँ क्योंकि नि:स्वार्थ भाव से किये गये परोपकार के कार्य आत्मा को ऊंचा उठाते हैं तथा पुरुष को उसकी संकुचित सीमाओं से बाहर निकालते हैं। अत: सारा समय जप में लगाना और अपने सामान्य कर्तव्यों का पालन न करना सामान्य लोगों, विशेषतया विद्यार्थियों एवं गृहस्थाश्रम का पालन करने वालों के लिये उचित नहीं है। केवल वृद्ध जनों, सन्यासियों अथवा सिद्ध योगियों के लिये ही यह उचित है कि वे अधिक से अधिक समय जप, योग, साधना, ध्यान एवं अर्चन पूजन आदि में लगायें, सामान्य नागरिकों के लिये नहीं। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये जप संख्या की सीमा अथवा मर्यादा निर्धारित कर लेनी चाहिये। वेदों, उपनिषदों अथवा अन्य आर्ष ग्रन्थों में यह कहीं नहीं कहा गया है कि सारा समय लाखों की संख्या में जप करने में व्यतीत किया जाय और परोपकार अथवा समाज के प्रति अपनें कर्तव्यों के पालन की ओर ध्यान ही न दिया जाय।

अनेक पौराणिक ग्रन्थों तथा बाद में लिखी गयी स्मृतियों में स्थान

स्थान पर यह कहा गया है कि इतने सहस्र जप करने से इस पाप से छुटकारा मिल जायेगा और इतने लाख करने से, इस पाप से, उदाहरणार्थ–

न गायत्र्याः परं जप्यं न व्याहृति समं हुतम् ।
गायत्र्याः पादमर्द्धंच ऋचोर्द्धम् च एव वा ।।
ब्रह्महत्या सुरापानं सुवर्णस्तेयमेव च ।
गुरुदाराभिगमनं जप्येनैव पुनाति सा ।।

अग्निपुराण, २१५।८-९ योगि याज्ञवल्क्य

व्याहृति के साथ गायत्री जप एवं हवन से बढ़कर न कोई जप है और न कोई हवन । गायत्री के एक पाद अथवा आधे पाद, पूर्ण ऋचा अथवा आधी ऋचा का भी जप करने वाले को यह गायत्री ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्ण चोरी, तथा गुरुपत्नी के साथ किये गये दुराचार आदि पापों से रहित करके पवित्र कर देती है ।

गोघ्नः पितृघ्नो मातृघ्नो भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
ब्रह्महा हेमहारी च यस्तु विप्रः सुरां पिवेत् ।।
गायत्र्याः शतसाहस्त्रे जपे भवति वै शुचिः ।

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति ४।६१,६२

जो मनुष्य गोघाती, पितृघाती, मातृघाती, गर्भघाती, गुरुपत्नीगामी, ब्रह्मघाती तथा सुवर्ण का हरण करने वाला है और जो ब्राह्मण सुरा का सेवन करने वाला है, वह भी एक लाख गायत्री के जप से निश्चय ही पवित्र हो जाता है ।

यही बात शंख संहिता ११।४-५ आदि में भी कही गयी है ।

ब्रह्महत्यादि पापानि गुरूणि वा लघूनि च ।
नाशयत्यचिरेणैव गायत्रीजापको द्विजः ।। पद्मपुराण

गायत्री जप करने वाला द्विज अपने ब्रह्महत्या, गुरुहत्या आदि अत्यन्त बड़े अथवा छोटे समस्त पापों को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

इन श्लोकों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये काल्पनिक श्लोक ऐसे स्वार्थी लोगों द्वारा बनाये गये हैं जो मन चाहा दुराचार तथा पाप कर्म करना चाहते थे और गायत्री के जप की आड़ में अपने को पवित्र भी दिखाना चाहते थे। वास्तव में इस प्रकार की भावना ब्राह्मणों के पतन का मुख्य कारण रही है। उन्होंने अपने द्वारा किये गये घृणित कार्यों के लिये इस प्रकार के असत्य श्लोक अथवा वाक्य बना लिये और फिर उनकी आड़ में उन्मुक्त दुराचार में लिप्त हो गये। जब कुछ पतित ब्राह्मणों ने मांस खाना प्रारम्भ किया तो पवित्र यज्ञों में पशुबलि प्रारम्भ कर दी और वाक्य बनाया–

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'

वैदिक कार्यों में की गयी हिंसा, हिंसा नहीं होती।

सबसे अधिक दुर्भाग्य एवं दुःख का विषय यह है कि इन नीच लोगों ने इस प्रकार के श्लोक श्रेष्ठ ग्रन्थों में प्रक्षिप्त करके पवित्र भारतीय संस्कृति को विकृत करने का दुष्प्रयास किया है, उदाहरणार्थ

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वभौ॥

मनु. ५।४४

(अस्मिन् चराचरे या वेदविहिता हिंसा नियता) इस संसार में जो वेदविहित हिंसा है, (अहिंसा एव तां विद्याद्) उसे अहिंसा ही समझना चाहिये (हि धर्मः वेदाद् निर्वभौ) क्योंकि धर्म का स्रोत वेद ही है।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

मनुस्मृति ५।३९

ब्रह्मा जी ने स्वयं ही पशुओं को यज्ञ के लिये उत्पन्न किया है। अतः

यज्ञ में किया गया पशुवध, वध नहीं होता।

जब भोले भाले लोगों को मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करना इन्हें अभीष्ट हुआ तो अनेक स्वार्थी एवं अर्ध शिक्षित लोग गुरु बन बैठे और इस प्रकार का सर्वथा असत्य श्लोक बनाया–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

गुरुगीता, गुरुमहात्म्य १९

गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं और गुरु महेश्वर हैं। गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं, अस्तु श्री गुरु को प्रणाम है।

इसी प्रकार जब इन पतित लोगों ने मदिरा, परस्त्रीगमन तथा व्यभिचार करना प्रारम्भ किया तब मनुस्मृति जैसे श्रेष्ठ एवं पवित्र ग्रन्थ में निम्नप्रकार के श्लोक जोड़ दिये और अनेक वेदमन्त्रों के अर्थों को भी विकृत कर दिया ताकि उनकी नीचता के लिये शास्त्रीय आधार प्राप्त हो जाय।

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये।।

मनुस्मृति ५।२७

(प्रोक्षितं मांसं भक्षयेत्) यज्ञ के मन्त्रों से पवित्र किये गये मांस का भक्षण करना चाहिये, (ब्राह्मणानां च काम्यया) तथा ब्राह्मणों को इच्छानुसार मांस खाना चाहिये। (यथाविधि नियुक्तः) शास्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुसार मांस खाना चाहिये तथा प्राणों की रक्षा के लिये भी मांस खाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों के लिये यह छूट है कि वह अपनी इच्छानुसार जब चाहें तब मांस खायें।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।। मनुस्मृति ५।५६

(मांसभक्षणे दोष: न) न मांस भक्षण में दोष है,(न मद्ये न च मैथुने) न मद्य में और न मैथुन में, (एषा प्रवृत्ति: भूतानां) क्योंकि यह तो मनुष्यों का स्वभाव ही है (तु निवृत्ति: महाफला) किन्तु इनका परित्याग अत्यन्त फलदायी है।

तात्पर्य यह है कि मांस खाने, शराब पीने और परस्त्रियों के साथ सम्भोग करने में कोई बुराई नहीं है, ये तो मनुष्यों के लिये स्वाभाविक कर्म हैं।

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।
एते पञ्च मकारा: स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे।।

महानिर्वाणतन्त्र कालीतन्त्र

मद्य, मांस, मीन अर्थात् मछली, योनि पात्राधार मुद्रा और मैथुन अर्थात् पुरुष स्त्री का समागम ये पाँच मकार प्रत्येक युग में मोक्ष दायक हैं।

पतनोन्मुख भारत में वाममार्गियों के अनेक सम्प्रदाय बन गये तथा चार्वाक आदि की स्वार्थपूर्ण एवं निम्नस्तर की विचार धाराओं का जन्म हुआ । दुःख का विषय है कि आज भी हमारे अनेक विश्वविद्यालय वैदिक दर्शन को पढ़ाने के बजाय विद्यार्थियों को इस प्रकार की विकृत विचार धाराओं को दर्शन के रूप में पढ़ाते हैं । हमारे देश की यह कैसी दुःखद एवं आश्चर्यजनक दुर्दशा है, जिसे समाप्त करने का हम कोई प्रयास नहीं कर रहे हैं।

इन दुष्टों ने हमारे अति श्रेष्ठ ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलावट करके यज्ञों में पशुवध, यहाँ तक कि गोवध किये जाने की बातें जोड़ दीं किन्तु हम आज भी इन अंशों को निकालने के बजाय उन्हीं संस्करणों को पुन: पुन: मुद्रित एवं प्रकाशित करते जा रहे हैं, जिन्हें विदेशियों ने संकलित करके हमें बताया था कि यह तुम्हारी पुस्तकें हैं । हम यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि ये कलुषित, मिलावटी पुस्तकें हमारे धर्म को अपमानित करने के लिये संकलित एवं प्रकाशित करवायी गयीं थीं और अब हमें इन्हें संशोधित करके ही प्रकाशित करना चाहिये। यह कैसा दुर्भाग्य है हमारे धर्म का,

हमारे समाज का और हमारे देश का। जिस धर्म का आधार ही सत्य एवं अहिंसा हो, उसके अनुयायियों के लिये अपने धर्म ग्रन्थों में इस प्रकार के प्रक्षिप्त अंशो का सहन करना कितना निन्दनीय है।

गायत्री मन्त्र से होम

गायत्री मन्त्र से हवन करने का भी विशेष फल कहा गया है—

हुता देवी विशेषेण सर्वकामप्रदायिनी।
सर्वपापक्षयकरी वरदा भक्तवत्सला ।।

शंखस्मृति १२।६

वरदायिनी तथा भक्तवत्सला दिव्य गायत्री से हवन करने पर वह विशेष रूप से समस्त कामनाओं की पूर्ति करती है और समस्त प्रकार के पापों का विनाश करती है।

भिन्न भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भिन्न भिन्न प्रकार से हवन का विधान किया गया है जिसका विस्तृत विवरण देवी भागवत तथा अग्निपुराण आदि में दिया गया है।

ध्यानकाले पापहरा हुतैषा सर्वकामदा।
गायत्र्यास्तु तिलैर्होमः सर्वपापप्रणाशिनः ।।

अग्निपुराण २१५।२४

ध्यान के समय अर्थात् ध्यान करने से गायत्री सब पापों को हर लेती है। यदि गायत्री का हवन किया जाय तो समस्त कामनाओं को पूर्ण करती है। गायत्री का तिलों द्वारा किया गया होम सब पापों का विनाश करता है।

शान्तिकामो यवैः कुर्यादायुष्कामो घृतेन च।
सिद्धार्थकैः कर्मसिद्ध्यै पयसा ब्रह्मवर्चसे ।।
गायत्र्याः लक्षहोमेन मुच्यते सर्वपातकः।

बृहद् यमस्मृति अग्नि पुराण,२१५।२५

शान्ति की इच्छा करने वाला यव से हवन करे, आयु की इच्छा करने वाला घृत से हवन करे तथा कर्म की सिद्धि और ब्रह्मतेज चाहने वाला दुग्ध से हवन करे। गायत्री मन्त्र के द्वारा एक लाख बार होम करने से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

विभिन्न रोगों के नाश के लिये भिन्न भिन्न औषधियों से हवन करने का विधान है। इसका विस्तृत विवरण देवी भागवत तथा गायत्री पटल आदि में दिया गया है उदाहरणार्थ,

गुडूच्याः पर्वविच्छिन्नाः पयोक्ता जुहुयाद् द्विजः।
एवं मृत्युञ्जयो होमः सर्वव्याधिविनाशनः।।

देवी भागवत,११।२४।२२

द्विज को चाहिये कि गुर्च के टुकड़े टुकड़े करके उन्हें क्षीर में भिगोकर अग्नि में आहुति दे। इस प्रकार के होम को मृत्युञ्जय होम कहते हैं। यह सम्पूर्ण व्याधियों का नाश करने वाला है।

क्षीरवृक्षसमिद्धोमादुन्मादोऽपि विनश्यति ।
औदुम्बरसमिद्धोमादतिमेहः क्षयं व्रजेत् ।।

देवीभागवत,११।२४।२८

क्षीरवृक्ष अर्थात् जिन वृक्षों में दूध की तरह रस निकलता है, की समिधा से हवन करने पर उन्मादरोग भी शान्त हो जाता है। गूलर की समिधा से हवन करने से असाध्य प्रमेह रोग नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिये भिन्न भिन्न वस्तुओं से हवन करने का विधान किया गया है।

अथ पुष्टिं श्रियं लक्ष्मीं पुष्पैर्हुत्वाऽऽप्नुयाद् द्विजः।
श्री कामो जुहुयात् पद्मैः रक्तैः श्रियमवाप्नुयात् ।।

देवीभागवत,११।२४।३८

पुष्टि,श्री और लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये द्विज को चाहिये कि पुष्पों

की आहुति दे। लक्ष्मी चाहने वाला पुरुष लाल कमल के पुष्पों से हवन करे, इससे उसे लक्ष्मी प्राप्त होगी।

पुत्रकामस्तथा दध्ना धान्यकामस्तु शालिभि: ।
क्षीरवृक्षसमिद्भिस्तु गृहपीडोपशान्तये ।।

पुत्र की कामना वाला पुरुष दही से, और धान्यों की कामना वाला पुरुष धान से हवन करे। ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये क्षीरवृक्ष (पीपल, बड़ आदि) की समिधा से हवन करे।

धनकामस्तथा विल्वै: श्रीकाम: कमलैस्तथा ।
आरोग्यकामो दूर्वाभिर्गुरुत्पाते स एव हि ।।

धन की अभिलाषा वाला पुरुष विल्व फलों से, लक्ष्मी की कामना वाला पुरुष कमलों से, आरोग्य, (रोगनिवृत्ति) की कामना वाला पुरुष दूब से हवन करे। कोई बड़ा भारी उत्पात अथवा संकट आने पर भी दूर्वा से ही हवन करे।

सौभाग्येच्छुर्गुग्गुलानां विद्यार्थी पायसेन च ।
अयुतेनोक्तसिद्धि: स्याल्लक्षेण मनसेप्सितम् ।।

अग्निपुराण, २१५।२५-२९

सौभाग्य चाहने वाला गुग्गुलों से तथा विद्या चाहने वाला पुरुष खीर से हवन करे गायत्री मन्त्र के द्वारा दस हज़ार आहुतियों से पूर्वोक्त सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा लक्ष आहुतियों से मनोरथ की प्राप्ति होती है।

पद्मानां लक्षहोमेन घृताक्तानां हुताशने ।
प्राप्नोति निखिलं मोक्षं सिध्यत्येव न संशय: ।।

देवीभागवत, ११।२१।४४

एक लक्ष घृताक्त कमल के पुष्पों से हवन करने पर मनुष्य सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त कर लेता है तथा मोक्ष भी प्राप्त करता है, इसमें कोई

संशय नहीं है।

गायत्री साधक का आहार विहार

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत:।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।

गीता, ६।१६

हे अर्जुन (न अत्यश्नत: तु: योग: अस्ति) अधिक खाने वाले को योग सिद्ध नहीं होता और कुछ भी न खाने वाले को भी योग सिद्ध नहीं होता (न च अति स्वप्नशीलस्य न च जाग्रत:) न अत्यन्त सोने वाले को और न अधिक जागनेवाले को ही योग सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि योगी का आहार विहार संन्तुलित होना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है–

यदु ह वा आत्मसम्मितमन्नंतदवति। तन्न हिनस्ति, यद्भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति।।

जो अन्न अपने शरीर की पाचन शक्ति के अनुसार खाया जाता है,वह रक्षा करता है तथा कष्टदायी नहीं होता। जो आवश्यकता से अधिक खाया जाता है, वह मारक होता है और जो कम खाया जाता है वह शरीर की रक्षा के लिये पर्याप्त नहीं होता।

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगोभवति दु:खहा।।

गीता, ६।१७

जिसका भोजन तथा विचरण अर्थात् दिनचर्या एवं जीवन शैली युक्त अर्थात् उचित एवं संयमित होती है, कर्मों में जिसकी चेष्टायें, जिसके प्रयास उचित होते हैं अर्थात् जो उचित परिमाण में शारीरिक श्रम करता है (युक्त स्वप्न: च अवबोध: च तौ नियतकालौ यस्य) जिसका सोना, जागना उचित परिमाण में तथा उचित समय पर नियमित रूप से होता है उसी का (दु:खहा सर्वाणि दु:खानि हन्ति इति दु:खहा) समस्त दु:खों को नष्ट करने

वाला योग सिद्ध होता है।

स्वस्थ जीवन के लिये भोजन के सम्बन्ध में आयुर्वेद के निम्नाङ्कित नियम का पालन किया जाना चाहिये।

अर्धमन्नस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु।
वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥

उदर के चार भागों में से दो भाग समस्त व्यञ्जनों के लिये, तीसरा भाग जल के लिये तथा चौथा भाग वायु संचार के लिये रिक्त रखना चाहिये।

आयुः सत्व बलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराःसात्विक प्रियाः॥

गीता,१७।८

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति इन सबको बढ़ाने वाले तथा रसयुक्त, चिकने (स्थिराः) शरीर में बहुत काल तक सार रूप में रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय आहार, सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं।

मृदु सोष्णं सुपक्वं च कुर्याद्वै लघुभोजनम्।
नेन्द्रियाणां विकारः स्यात्तथा भुञ्जीत साधकः॥

नारदीये

साधक को चाहिये कि वह मृदु अर्थात् समुचित रूप से शीघ्र पाचन योग्य, उष्ण भली प्रकार पका हुआ ऐसा स्वल्प भोजन करे जिससे इन्द्रियों में कोई विकार उत्पन्न न हो।

यदा तदा परित्याज्यं दुष्टान्नं कुत्सितं फलम्।
प्रशस्तान्नं समश्नीयान्मन्त्रसिद्धिसमीहया॥
पयोव्रतस्य सिद्धिः स्याल्लक्षणैव न संशयः॥

नारदीये

मन्त्रसिद्धि की इच्छा से मन्त्र साधक को हर दशा में हानिकारक, कुत्सित, अपवित्र अन्न और सड़ा गला फल अवश्य त्याग देना चाहिये। पवित्र एवं स्वच्छ अन्न ही खाना चाहिये। दूध पीने वाले साधक का सिद्धि ही लक्षण है, इसमें कोई संशय नहीं अर्थात् दूध पीकर साधना करने वाले को सिद्धि अवश्य मिलती है।

चरमूल फल क्षीर दधिभिक्षान्नसक्तव: ।
शाकश्चाष्टविधं चान्नं साधकस्योच्यते बुधै: ।।

पुरश्चरणदीपिका

विद्वानों ने साधकों के लिये पकाये हुये चावल से बना हविष्यान्न, कन्दमूल फल, दूध, दही, भिक्षा से प्राप्त अन्न, सत्तू और शाक इन आठों को श्रेष्ठ भक्ष्य माना है।

भैक्ष्यं हविष्यं शाकानि निहितानि फलं पय: ।
मूलं सक्तुर्यवोत्पन्नो भक्ष्याण्येतानि मन्त्रिणाम् ।।

शारदातिलक

भिक्षा से प्राप्त अन्न, हविष्यान्न, शाक, फल, दूध, कन्दमूल तथा जौ से बना हुआ सत्तू साधकों के लिये श्रेष्ठ भक्ष्य पदार्थ माना गया है।

क्षीराहारी फलाशी वा शाकाशी वा हविष्यभुक् ।
भिक्षाशी वा जपेद् विद्वान् कृच्छ्रचान्द्रायणादिकृत् ।।

वैशम्पायन संहिता, ८६, देवीभागवत, ११।२३।२१

दुग्ध का आहार करने वाला, फलाहारी, शाकाहारी, हविष्य भोजी, भिक्षान्न भोजी तथा कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत करने वाले विद्वान् को जप करना चाहिये।

लवणं क्षारमम्लञ्च गृञ्जनं कांस्यभोजनम् ।
ताम्बूलं च द्विभुक्तञ्च दुष्टवास: प्रमत्तनम् ।।

श्रुति स्मृति विरोधं च जपं रात्रौ विवर्जयेत्।
वृथा न कालं गमयेद् द्यूत स्त्री स्वापवादतः।
गमयेद्देवता पूजा स्तोत्रागम विलोकनैः ।।

देवीभगवत ११।२३।२२-२४

नमक, क्षार तथा खट्टा पदार्थ, गाजर, कांस्यपात्र में रखा भोजन तथा ताम्बूल का सेवन करके, दो बार भोजन करके एवं कुत्सित वस्त्र पहन कर तथा प्रमत्त होकर श्रुति और स्मृति से विरुद्ध जप रात्रि में नहीं करना चाहिये और द्यूत, स्त्री सम्भोग तथा निद्रादि में समय नष्ट नहीं करना चाहिये अपितु देव पूजन, स्तोत्र पाठ तथा शास्त्रों के अध्ययन में समय का सदुपयोग करना चाहिये।

अयाचितोञ्छशुक्लश्च भिक्षावृत्तिचतुष्टयम्।
तान्त्रिकैर्वैदिकैश्चैव अन्नशुद्धिः प्रकीर्तिता ।।
अन्नानुसारकर्माणि बुद्धिः कर्मानुसारतः।
पललस्पर्शमात्रेण तपो दहति निश्चितम् ।।

विश्वामित्र कल्प

अयाचित उञ्छ से प्राप्त, (खेत के स्वामी के द्वारा धान्यादि को काटकर ले जाने के बाद खेत में पड़ी हुयी बालियों का नाम उञ्छ है,) (उञ्छः कणश आदानं कणशाद्यर्जनं शीलम्), सात्विक गृहस्थ के यहाँ से प्राप्त अन्न शुक्ल के नाम से प्रसिद्ध है तथा भिक्षावृत्ति से प्राप्त अन्न, ये चारों प्रकार के अन्न वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों प्रकार की क्रियाओं में उचित माने गये हैं। अन्न के अनुसार ही कर्म होते हैं तथा कर्मों के अनुसार बुद्धि होती है। मांस के स्पर्श मात्र से ही तपस्या निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है। (बुद्धि का प्रभाव कर्मों पर पड़ता है तथा कर्मों का प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है। दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।)

जप की सफलता के लिये सत्य, सदाचार आदि श्रेष्ठ गुणों एवं

यमों तथा नियमों के पालनकी आवश्यकता होती है।

असत्यभाषणं चैव कौटिल्यं च परित्यजेत् ।
सद्भिरपि न भाषयेत जप होमार्चनादिषु ।।
वाग्यत: कर्म निर्वर्त्य नि: स्पृहो वर्तितादिषु ।
वर्जयेद् गीतकाव्यादिश्रवणं नृत्यदर्शनम् ।।

पुरश्चरणदीपिका

असत्यभाषण तथा कुटिलता का परित्याग कर दे। जप, होम अर्चना आदि के समय सज्जनों से भी बात न करे। वाणी को नियंत्रित करके कर्मों को पूरा करे और सभी कार्यों में नि:स्पृह रहे। गीत तथा काव्य आदि का श्रवण न करे और नृत्य न देखे।

भूशय्या ब्रह्मचारित्वं मौनचर्यास्तथैव च ।
नित्यं त्रिषवणं स्नानं क्षुद्रकर्म विवर्जनम् ।।
नित्यपूजा नित्यदानमानन्दस्तुतिकीर्तनम् ।
नैमित्तकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयो: ।।
जपनिष्ठा द्वादशैते धर्मा: स्युर्मन्त्रसिद्धिदा: ।।

देवीभागवत ११ । २३ । २४-२६ वैशम्पायन संहिता

पृथिवीशयन, ब्रह्मचर्य पालन, मौन धारण, नित्य त्रिकाल स्नान, निन्दित कर्मों का परित्याग, आनन्दित रहना, नित्य पूजन, नित्यदान करना, भगवत्स्तुति एवं भगवत्कीर्तन, नैमित्तिक पूजन, गुरु एवं देवताओं में विश्वास और जप में निष्ठा ये बारह धर्म, मन्त्र सिद्धिदायक माने गये हैं।

भूशय्या ब्रह्मचर्यं च त्रिकालं देवतार्चनम् ।
नैमित्तिकार्चनं देवस्तुतिं विश्वासमाश्रयेत् ।।

मन्त्रमहोदधि

भूमि पर शयन, ब्रह्मचर्य का पालन, तीनों समय देवपूजन,

नैमित्तिक पूजन, देव स्तुति तथा विश्वास का आश्रय लेना चाहिये।

परान्नं च परद्रव्यं तथैव तु प्रतिग्रहः।
परस्त्रीं परनिन्दां च मनसापि विवर्जयेत् ।।

दूसरे का अन्न, परद्रव्य, दान लेना, परायी स्त्री तथा पर निन्दा आदि का मन से भी परित्याग कर दे।

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
परस्त्रीभिर्मनो दग्धं मन्त्रसिद्धिः कथं भवेत् ।।

पुरश्चरण दीपिका

जिसकी जिह्वा दूसरों के अन्न से जली हुयी है, जिसके हाथ दान लेने से दग्ध हो गये हैं तथा जिसका मन परस्त्री चिन्तन से दग्ध हो गया है, उसे मन्त्र सिद्धि कैसे हो सकती है।

स्त्रीशूद्रभाषणं निन्दां ताम्बूलं शयनं दिवा।
प्रतिग्रहं नृत्यगीते कौटिल्यं वर्जयेत्सदा ।।

स्त्री, शूद्रादिकों से भाषण, पर निन्दा, ताम्बूल भक्षण, दिन में शयन, दान लेना, नृत्य संगीत तथा कुटिलता का सदैव परित्याग करना चाहिये।

गायत्री पुरश्चरण

गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर होते हैं। अतः एक लक्ष प्रति अक्षर के आधार पर २४ लाख गायत्री के विधिवत् जप को पुरश्चरण कहते हैं, जिसमें जप के साथ साथ हवन एवं ब्राह्मण भोजन आदि भी अनिवार्य माना गया है।

गायत्रीच्छन्दोमन्त्रस्य यथा संख्याक्षराणि च।
तावल्लक्षाणि कर्त्तव्यं पुरश्चरणकं तथा ।।

नारद पुराण, देवीभागवत ११।२१।२३

गायत्री छन्द के मन्त्र में अक्षरों की जितनी संख्या है उतने लाख

जप करना चाहिये, तभी एक पुरश्चरण की पूर्ति होती है।

निष्कामो देवतायाञ्च सर्वकर्मनिवेदकः।
एवमादींश्च नियमान् पुरश्चरणकृच्चरेत् ।।

देवीभागवत,११।२३।२९

पुरश्चरणकर्ता को निष्काम भाव से अपने समस्त कर्मों का समर्पण देवताओं को करना तथा अन्य समस्त नियमों का पालन करना चाहिये।

पञ्चाङ्गानि महादेवि जपो होमश्च तर्पणम् ।
अभिषेकश्च विप्राणामाराधनमपीश्वरि ।।
पूर्व पूर्व दशांशेन पुरश्चरणमुच्यते ।।

कुलार्णव

हे महादेवि ! जप, होम, तर्पण, अभिषेक और विप्रों का आराधन ये सभी पञ्चाङ्ग के नाम से प्रशस्त हैं। इस सभी में पुरश्चरण विधि उत्तरोत्तर दशांश होनी चाहिये अर्थात् जप का दशांश होम, उसका दशांश तर्पण, तर्पण का दशांश अभिषेक तथा अभिषेक का दशांश ब्राह्मण भोजन होना चाहिये।

पुरश्चरण के नियम

संसारदुःखभूमेश्चं यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ।
पञ्चाङ्गोपासनेनैव मन्त्रजापी व्रजेत् सुखम् ।।
पूजा त्रैकालिकी नित्यं जपस्तर्पणमेव च ।
होमो ब्राह्मण भुक्तिश्च पुरश्चरणमुच्यते ।।
यद् यदङ्गं विहीयेत तत्संख्या द्विगुणो जपः ।
ज्ञानाज्ञानकृतं सर्वं प्रणश्यति जपात् प्रिये ।।

कुलार्णव, १५ उल्लास

जो जपकर्ता इस संसार रूपी दुःखभूमि से अपनी सिद्धि की

कामना करता है, वह पञ्चांग उपासना से ही सुख प्राप्त कर सकता है। नित्य त्रैकालिक पूजा, जप, तर्पण, होम तथा ब्राह्मण भोजन, इस पञ्चांग उपासना को पुरश्चरण कहा जाता है। हे प्रिये ! उपासना के जिस जिस अंग की कमी हो, तो उसकी दुगुनी संख्या में जप करने से जाने, अनजाने किये गये समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

जपो होमस्तर्पणं च स्वाभिषेकोऽघमर्षणम् ।
सूर्यार्घ्यं जलदानं स्यात् प्रणामं देवपूजनम् ।।
ब्राह्मणानां भोजनं च पूर्वं पूर्वं दशांशतः ।।

शारदातिलक,११ पटल

पूर्व पूर्व की अपेक्षा दशांश भाग से जप, होम, तर्पण, अभिषेक, अघमर्षण, सूर्यार्घ्य, जलदान, श्रेष्ठ लोगों को प्रणाम, देव पूजन एवं ब्राह्मणों का भोजन ये दश अङ्ग पुरश्चरण के माने गये हैं ।

लभतेऽभिमतां सिद्धिं चतुर्विंशति लक्षतः ।
जपतोऽयुतसंख्याकैरथवा च सहस्रकैः ।।

चौबीस लाख गायत्री का जप करने से अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। दश हज़ार अथवा एक हज़ार बार जप करने से भी सिद्धि प्राप्त होती है।

पुरश्चरण की आवश्यकता

जीवहीनो यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः।
पुरश्चरण हीनस्तु तथा मन्त्रः प्रकीर्तिताः।।

नील तन्त्र, सप्तम पटल देवीभागवत,११।२१।२४-२५

जिस प्रकार प्राण से हीन शरीर समस्त कार्यों में असमर्थ होता है उसी प्रकार पुरश्चरण हीन मन्त्र भी निष्फल होता है।

पुरश्चरण के लिये शुभ मास

वैशाखे श्रावणे वापि आश्विने कार्तिके तथा ।
फाल्गुने मार्गशीर्षे वा मन्त्रीकुर्यात पुरस्क्रियाम् ।।

जपकर्ता वैशाख, श्रावण, आश्विन, कार्तिक, फाल्गुन अथवा मार्गशीर्ष मास में पुरश्चरण करे।

शुभ तिथि

पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया सप्तमी तथा ।
त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ता: सर्वकर्मसु ।।

रामार्चन चन्द्रिका

पूर्णिमा, पञ्चमी, द्वितीया, सप्तमी, त्रयोदशी तथा दशमी ये तिथियाँ समस्त शुभ कर्मों में प्रशस्त कही गयी हैं।

पुरश्चरण के नियम, जप काल में वर्जित कर्म

मैथुनं तत्कथालापं तद्गोष्ठी: परिवर्जयेत् ।
ऋतुकालं बिना मन्त्री स्वस्त्रियं नैव गच्छति ।।
कौटिल्यं क्षौरमभ्यङ्गमनिवेदितभोजनम् ।
असंकल्पितकृत्यं च वर्जयेन्मर्दनादिकम् ।।

रामार्चन चन्द्रिका

मन्त्र जापक मैथुन, मैथुन सम्बन्धी बातें, तथा उस से सम्बन्धित गोष्ठियों का परित्याग करे तथा ऋतुकाल के बिना अपनी स्त्री के साथ भी गमन न करे। कुटिलता, क्षौरकर्म, तैलादिमर्दन, बिना निवेदन किया हुआ भोजन, बिना विचारा हुआ कार्य तथा उबटन आदि का परित्याग करे।

तन्त्रसार के निम्नाङ्कित श्लोक मननीय हैं।

सकृदुच्चरिते शब्दे प्रणवं समुदीरयेत् ।
प्रोक्ते पारशवे शब्दे प्राणायामं सकृच्चरेत् ।।

पुरश्चरण कर्ता को चाहिये कि एक शब्द बोलने पर ओंकार का

उच्चारण करे तथा (पारशवे शब्दे प्रोक्ते) अपशब्द बोलने पर एक बार प्राणायाम करे।

बहुप्रलापी आचम्य न्यस्याङ्गानि ततो जपेत् ।
क्षुतोऽप्येवं तथाऽऽस्पृश्य स्थानानां स्पर्शनेन च ।।

बहुत बोलने पर आचमन, तदनन्तर अङ्गन्यास करके जप करे । छींक आने पर तथा अस्पृश्य अंङ्गों को स्पर्श करने पर आचमन करके अंङ्गन्यास करे फिर जप करे ।

विण्मूत्रोत्सर्गशङ्कादियुक्तः कर्म करोति यत् ।
जपार्चनादिकं सर्वमपवित्रं भवेत् प्रिये ।।

भगवान् शंकर कहते हैं कि हे प्रिये ! कोई व्यक्ति अशौच, मूत्रोत्सर्ग से युक्त होकर जो जप तथा पूजनादि कार्य करता है वे सभी अपवित्र हो जाते हैं ।

मलिनाम्बर केशादि मुख दौर्गन्ध्य संयुतः ।
यो जपेत्तं दहत्याशु देवता गुप्तिसंस्थिता ।।

मलिन वस्त्र, मलिन केश, मुखदुर्गन्धि से युक्त होकर जो जप किया जाता है, उसे गुप्तरूप से निवास करने वाले देवगण शीघ्र जला देते हैं ।

आलस्यं जम्भृणं निद्रां क्षुतं निष्ठीवनं भयम् ।
नीचाङ्गस्पर्शनं कोपं जपकाले विवर्जयेत् ।।

विद्वान् को चाहिये कि जपकाल में वह आलस्य, जम्हाई, निद्रा, छींकना, थूकना, भय, गुप्ताङ्ग का स्पर्श करना और क्रोध करना त्याग दे ।

व्यग्रताऽऽलस्यनिष्ठीव क्रोधपादप्रसारणाम् ।
अन्यभाषां मृषा चैव जपकाले त्यजेत्सुधीः ।।

मन्त्र महोदधि

बुद्धिमान को चाहिये कि जप काल में व्यग्रता, आलस्य, थूकना, क्रोध करना, पैर फैलाना, दूसरों से बात तथा मिथ्या भाषण करना आदि का परित्याग कर दे।

अपवित्रकरो नग्नः शिरसि प्रावृतोऽपि वा।
प्रलपन् प्रजपेद्यावत्तावन्निष्फलमुच्यते ।।

रामार्चन चन्द्रिका

अपवित्र हाथ से, नग्न होकर, शिर ढककर अथवा बोलते हुये जो जप किया जाता है, वह सब निष्फल होता है।

जप की विधि

ध्यायेच्च मनसा मन्त्रं जिह्वोष्ठौ न विचालयेत्।
न कम्पयेच्छिरो ग्रीवं दन्तान्नैव प्रकाशयेत् ।।

बृहद् योगियाज्ञवल्क्य स्मृति,७।१४०

मन्त्र का मन से ध्यान करे और जिह्वा तथा ओष्ठ को न चलाये, शिर और गर्दन को न कँपाये तथा दाँतों को न दिखाये।

एवमुक्तविधानेन विलम्बत्वरितं बिना।
उक्त संख्यं जपं कुर्यात्पुरश्चरण सिद्धये ।।

तन्त्रसार

इस प्रकार से कहे गये विधान के अनुसार न अति शीघ्रता तथा न अति बिलम्ब से पुरश्चरण की सिद्धि के लिये निर्धारित संख्या में जप करना चाहिये।

यत्संख्यया समारम्भं तज्जप्तव्यं दिने दिने।
यदि न्यूनाधिकं कुर्याद् व्रतभ्रष्टो भवेन्नरः ।।

तन्त्रसार

जितनी संख्या से जप प्रारम्भ किया गया हो उतनी ही संख्या में प्रतिदिन जप करे। यदि कम या अधिक संख्या में जप करता है, तो मनुष्य

व्रत से भ्रष्ट हो जाता है।

देवतागुरुमन्त्राणामैक्यं सम्भावयन् धिया ।
जपेदेकमनाः प्रातःकालं मध्यंन्दिनावधि ।।

बुद्धि से देवता, गुरु और मन्त्र में समान रुप से आदर एवं श्रद्धा की भावना रखते हुये मन को एकाग्र करके प्रातःकाल से मध्यान्ह पर्यन्त जप करना चाहिये।

गणनाविधिमुल्लङ्घ्य यो जपेत्तज्जपं यतः ।
ग्रह्णन्ति राक्षसास्तेन गणयेतत्सर्वथा बुधः ।।
जपसंख्या तु कर्तव्या ना संख्यातं जपेत्सुधीः ।।

सनत्कुमार संहिता

गणनाविधि का उल्लंघन करके जो जप किया जाता है, उसे राक्षस ग्रहण कर लेते हैं। अतः विद्वान् को चाहिये कि सर्वदा गणना करके ही जप करे, बिना संख्या की गणना के जप न करे ।

तात्पर्य यह है कि जप संख्या की गणना अवश्य करनी चाहिये । विद्वान् कभी भी असंख्यात जप न करे। ऐसा करने से ही निश्चित संख्या में जप करने के नियम का पालन हो सकेगा अन्यथा जब आलस्य होगा तब जप कर्ता यह मान लेगा कि जप पूरा हो गया ।

प्रत्यहं प्रत्यहं तावन्नैव न्यूनाधिकं क्वचित् ।
एवं जपं समाप्यन्ते दशांशं होममाचरेत् ।।

मन्त्रमहोदधि

प्रतिदिन बराबर संख्या में जप करे, कभी भी कम या अधिक न करे तथा इस प्रकार जप पूरा होने पर दशांश हवन करे ।

शनैः शनैः सुविस्पष्टं न द्रुतं न विलम्बितम् ।
न न्यूनं नाधिकं वापि जपं कुर्याद् दिने दिने ।।

नारद पञ्चरात्र

नित्य प्रति धीरे धीरे भली प्रकार स्पष्ट रूप से जप करना चाहिये। जप न तो शीघ्रता से, न अधिक विलम्ब से तथा न निर्धारित संख्या से कम और न अधिक किया जाना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि सावधानी पूर्वक निश्चित संख्या में स्पष्ट रूप से जप किया जाना चाहिये जिससे मन्त्र एवं उसके अर्थ पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके।

ततो जपदशांशेन होमं कुर्याद्दिने दिने।
अथवा लक्षसंख्यायां पूर्णायां होममाचरेत्॥

पुरश्चरण चन्द्रिका

प्रतिदिन जितना जप किया जाय उसका दशांश हवन प्रतिदिन करे अथवा लक्ष संख्या पूर्ण होने पर दशांश हवन करे।

जुहुयात्तद्दशांशेन सघृतेन पयोऽन्धसा।
तिलैः पत्रैः प्रसूनैश्च यवैश्च मधुरान्वितैः॥
कुर्याद्दशांशतो होमं ततः सिद्धो भवेन्मनुः॥

विश्वामित्रकल्प देवीभागवत,११।२१।३७,३८

घृत, दुग्ध, तिल, विल्वपत्र, पुष्प, मधु के साथ यवों अर्थात् जौ से गायत्री का दशांश हवन करना चाहिये। दशांश हवन करने से ही मन्त्रसिद्ध होता है।

क्षीरोदनं तिला दूर्वाः क्षीरद्रुमसमिद् वरान्।
पृथक् सहस्रत्रितयं जुहुयान्मन्त्रसिद्धये॥

शरादातिलक

पुरश्चरण में मन्त्र की सिद्धि के लिये दुग्ध, पायस, तिल, दूर्वा, क्षीर वाले वृक्ष की समिधाओं तथा अन्य श्रेष्ठ वृक्षों की समिधाओं से पृथक् पृथक् तीन हज़ार की संख्या में हवन करना चाहिये। क्षीर वाले वृक्ष हैं— पीपल, बरगद, गूलर तथा पाकड़ आदि।

उपासना

गायत्री मन्त्र का जप यथा सम्भव मन्त्र के अर्थ का मन में विचार करते हुये करना चाहिये। ऐसा करने से यद्यपि समय अधिक लगेगा किन्तु इससे विशेष लाभ होगा, मन एकाग्र होगा और शान्ति तथा सुख की प्राप्ति होगी।

उपासना का अर्थ है पास बैठना। अत: सची उपासना में इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि हम अपने को भगवान् के समीप बैठने के, उसके मित्र बनने के योग्य बनायें। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब हम पापों से दूर रहकर, पुण्य के प्रशस्त मार्ग पर चलें तथा यह ध्यान रखें कि भगवान् से हमारा कोई कर्म, विचार अथवा भाव छिपा हुआ नहीं रह सकता। वेद में अत्यन्त आलंकारिक ढंग से कहा गया है कि भगवान् के दूत पापियों को पकड़ने के लिये पाश लिये हुये पग पग पर खड़े रहते हैं। ये दूत कभी पलक भी नहीं झपकाते, अर्थात् सदैव सतर्क रहते हैं और कोई पापी इनसे बच नहीं सकता।

सहस्रंधार एव ते समंस्वरन्दिवो नाके मधुंजिह्वा असश्चतं: । तस्य स्पशो न नि मिंषन्ति भूर्णय: पदेपंदे पाशिनं: सन्ति सेतंवे ।।

अथर्ववेद, ५।६।३

(दिव: सहस्रधारे नाके एव) द्युलोक के सहस्रों धाराओं से प्राप्त होने वाले सुख से पूर्ण स्थान में ही (ते असश्चत: मधुजिह्वा: समस्वरन्) वे निश्चल, स्थितप्रज्ञ, शान्त स्वभाव वाले मधुभाषी लोग सब मिलकर एक स्वर से कहते हैं कि (तस्य भूर्णय: स्पश: न निमिषन्ति) दुष्टों को पाश में बाँधने वाले, पाश लिये हुये उसके दूत कभी पलक नहीं झपकाते अर्थात् पापियों को पकड़ने के लिये सदैव जागरुक रहकर प्राणियों द्वारा किये जा रहे पापों को खुली आँखों से देखते रहते हैं (सेतवे पदे पदे पाशिन: सन्ति) और वे बाँधने के लिये पद पद पर पाश लिये हुये खड़े रहते हैं,

उनसे कोई पापी बच नहीं सकता।

न त्वदन्य: कवितरो न मेधया धीरंतरो वरुण स्वधावन्। त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिंभाय ।।

अथर्ववेद, ५।११।४

(स्वधावन् वरुण) अपनी धारणा शक्ति से युक्त हे श्रेष्ठ देव! (त्वत् अन्य: कवितर: न) तुमसे बढ़कर दूसरा कोई कवि अथवा क्रान्त दृष्टा नहीं है, (त्वं ता: विश्वा: भुवनानि वेत्थ) तुम उन सभी भुवनों को जानते हो, सर्वज्ञ हो, (स: मायी जन: त्वत् चित् नु बिभाय) इसलिये जो कपटी मनुष्य है वह तुमसे नि: सन्देह भयभीत रहता है।

उपासना का वास्तविक उद्देश्य है भगवान् को जानना और उसे प्राप्त करना क्योंकि भगवान् को जाने बिना, उसका ज्ञान, उसकी समीपता प्राप्त किये बिना जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता। वेदों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तंमादित्यवर्णं तमंस: परस्तात् । तमेव विंदित्वातिं मृत्युमेंति नान्य: पन्थां विद्यतेऽयंनाय ।।

यजुर्वेद ३१।१८

(अहम् एतम् आदित्यवर्णम् तमस: परस्तात् पुरुषं वेद) मैं, अज्ञान एवं सब प्रकार के अन्धकार से परे उस आदित्यवर्ण वाले अर्थात् प्रकाशस्वरुप महान पुरुष, परब्रह्म को जानता हूँ। (तम् एव विदित्वा मृत्युं अति एति) उसी को जानकर ज्ञानी पुरुष मृत्यु को पार करता है । (अयनाय अन्य: पन्था न विद्यते) मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

अशब्दमस्पर्शमरुपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।

कठोपनिषद् १।३।१५

जो शब्द अथवा वाणी से परे है, जिसे स्पर्श नहीं किया जा सकता, जिसका कोई रूप नहीं है, जो अविनाशी है, जिसे जिह्वा से नहीं चखा जा सकता, जो नित्य है, गन्ध रहित है, अनादि है, अनन्त है, जो महत्तत्व से श्रेष्ठ तथा ध्रुव है, उस परब्रह्म को जानकर ही मृत्यु के मुख से छुटकारा प्राप्त होता है ।

परब्रह्म को जानना, उसके समीप पहुँचना उपासना से ही सम्भव है । इसके लिये साधक को निरन्तर जागरूक रह कर तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण समर्पण एवं अनन्य भक्ति की आवश्यकता होती है । योग दर्शन में इसे क्रिया योग कहा गया है ।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

योगदर्शन, साधन पाद, १

तप, स्वाध्याय अर्थात् वेदों का अध्ययन एवं प्रणव तथा गायत्री का जप और ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग हैं । ईश्वर प्रणिधान अर्थात् अनन्य भक्ति के साथ परमात्मा के प्रति पूर्णरूपेण आत्म समर्पण, सर्वस्व समर्पण उपासना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है ।

योगी के जीवन में तप का विशेष महत्व है । बिना तपस्या के योग सिद्ध नहीं हो सकता ।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

मनु.१२।१०४

तप तथा विद्या ब्राह्मण के लिये परम कल्याण के श्रेष्ठ साधन हैं । तप से पापों का नाश होता है तथा विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

तप का अर्थ चारों तरफ जलती हुयी अग्नि के बीच में बैठकर तपना नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक प्रपाठक १०, अनुवाक १० में कहा गया है—

ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः।

ऋत अर्थात् भगवान् के अटल सत्य नियमों के अनुसार आचरण करना तप है, सत्य बोलना तथा सत्य का पालन करना तप है, मन एवं इन्द्रियों का संयम तप है तथा स्वाध्याय अर्थात् वेदादि शास्त्रों का अध्ययन एवं प्रणव का जप, तप है।

योगसाधना करते हुये द्वन्द्वों अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, जय-पराजय आदि का सहन करना भी तप है।

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।

योग दर्शन साधनपाद, ४५

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में लिखा है कि विशेष भक्ति के कारण ईश्वर भक्त पर अनुग्रह करता है, जिसके कारण उसे सफलता प्राप्त होती है और समाधि की सिद्धि सुगमता से हो जाती है।

ब्रह्म के ज्ञान के लिये, उसके साक्षात्कार के लिये ध्यान के द्वारा भक्ति पूर्वक निरन्तर मन्थन की आवश्यकता होती है।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥

यजुर्वेद,११।३२(पाठभेद) ऋग्वेद, ६।१६।१३,
सामवेद पूर्वार्चिक १।१।९ क्रम सं.९

१.आध्यात्मिक अर्थ

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरुप परब्रह्म ! (मूर्ध्नः विश्वस्य) समस्त संसार के मूर्धारुप, शिरस्थानीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ तथा (वाघतः) मेधावी अथवा

(वाघत: वोढार:) समस्त विश्व को वहन करने वाले (त्वाम्) आपको (अथर्वा) निश्चल, स्थिरचित्त ज्ञानी (पुष्कराद् अधि) अपने हृदयाकाश में, हृदय कमल में (निरमन्थत) ज्ञान द्वारा निरन्तर मंथन करके, मनन, ध्यान एवं चिन्तन करके प्राप्त करता है, आपका साक्षात्कार करता है।

यहाँ निरमन्थत शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार अरणियों के मंथन से अग्नि प्राप्त की जाती है, उसी प्रकार ज्ञानपूर्वक निरन्तर चिन्तन एवं ध्यान से प्रकाशस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार हृदयाकाश में किया जाता है।

अथर्वाणोऽथर्वणवन्त: थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध:।

निरुक्त ११।१३

थर्व शब्द चलनात्मक है अत: अथर्वा का अर्थ है ऐसा योगी जिसका मन, बुद्धि तथा चित्त चंचलता से रहित होकर केवल ब्रह्म में स्थिर होता है।

१. पुष्करं अन्तरिक्षं, पोषति भूतानि। उदकं पुष्करं, पूजाकरं पूजयितव्यं वा। इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव, पुष्करं वपुष्करं वा। पुष्पं पुष्पते:। निरुक्त ५।१३

(क) 'पुष धारणे' धातु से सिद्ध करने पर अर्थ होगा धारण करने वाला, अन्तरिक्ष यह लोकों को धारण करता है।

(ख) यह पुष्ट करता है अत: पुष्कर है। पुष्ट करने वाली "पुष पुष्टौ" धातु से पुष्कर शब्द सिद्ध होता है अत: इसका अर्थ है पुष्ट करने वाला। व्योम में ही सभी पदार्थ पुष्ट होते हैं, बढ़ते हैं। अत: पुष्कर का अर्थ हुआ आकाश।

(ग) उदक, यह पूजा का साधन है अथवा (पूजयितव्य) आदरणीय है।

(घ) कमल पुष्प, यह भी पूजा का साधन तथा आदरणीय होता है। पुष्करं पुण्डरीकं पद्मं अर्थात् कमल।

(च) शरीर को पुष्ट करने वाला होने के कारण हृदय को भी पुष्कर

कहते हैं। पुरुष शरीर में हृदय को पुण्डरीक कहा जाता है।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।

अथर्ववेद, १०।८।४३

(पुण्डरीकं नवद्वारम्) नवद्वारों वाले शरीर में स्थित हृदय कमल (त्रिभिः गुणेभिः आवृतम्) सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से आवृत है। (तस्मिन् यत् आत्मन्वत् यक्षं) उस हृदय कमल में जो आत्मस्वरुप पूजनीय देव है (तद् वै ब्रह्मविदो विदुः) उसे ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

विशोका वा ज्योतिष्मती। योगर्शन,१।३६

इस सूत्र का भाष्य करते हुये महर्षि व्यास ने लिखा है—

हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्,बुद्धिसत्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थिति वैशारद्यात् प्रवृत्ति सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारुपाकारेण विकल्पते।

हृदय कमल में धारणा अर्थात् मन को स्थिर करने वाले योगी को जो बुद्धि की प्रतीति होती है, वह प्रकाशमान आकाश के समान निर्मल होती है तथा उस समय चित्त की स्थिति निर्मलता के कारण सूर्य, चन्द्र ग्रह मणि के समान (ज्योतिष्मती) प्रभारुप आकार वाली होती है। रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से शून्य, शोक रहित एवं पूर्णरुपेण शान्तचित्त योगी उस समय केवल आत्मानुभूति करने वाला अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला होता है।

हृदयाकाश में ब्रह्म का निवास होने से आत्मा को यहीं ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसलिये इसे स्वर्णिम आभा से आलोकित ब्रह्मपुरी कहा जाता है।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्।। अथर्ववेद,१०।२।३३

(प्रभाजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्) अत्यन्त तेजस्वी, दुःखों का हरण करने वाली, यश से परिपूर्ण (अपराजिताम् हिरण्ययीं पुरं ब्रह्म आ विवेश) अपराजित एवं अपराजेय तथा प्रकाश से देदीप्यमान पुरी में ब्रह्म प्रविष्ट हुआ है।

यह उस हृदय रूपी ब्रह्मपुरी का वर्णन है जिसमें ब्रह्म का निवास है। पुरुष शरीर रूपी अयोध्या नगरी में स्थित हृदय रूपी यह ब्रह्मपुरी, तेजोमयी है,दुःखों का हरण करने वाली है, यश से परिपूर्ण है तथा हिरण्ययी अर्थात् प्रकाश से देदीप्यमान और सदैव अपराजिता है। यह है श्रेष्ठ मनुष्य के पवित्र तेजस्वी हृदय एवं अन्तःकरण का वर्णन जिसमें आत्मा तथा परमात्मा का निवास होता है और जहाँ आत्मा द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार किया जाता है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।

मुण्डक उपनिषद्,२।२।९

स्वर्णिम प्रकाश से परिपूर्ण (हृदयरूपी) श्रेष्ठ कोश में स्थित निर्मल, निराकार ब्रह्म ज्योतियों की भी वह परम ज्योति है, जिसे आत्मज्ञानी ही जानते हैं।

२. **आधिदैविक अर्थ–** हे अग्ने! (मूर्ध्नः विश्वस्य वाघतः) समस्त विश्व के शिरस्थानीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ तथा सबका वहन करने वाले (त्वाम्) आपको अथर्वा अर्थात् वायु ने (पुष्करम् अधि) आकाश में मन्थन करके उत्पन्न किया है।

वायु से अग्नि उत्पन्न हुयी है, यही सृष्टि क्रम है–

तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ।आकाशा-द्वायुः।वायोरग्निः।अग्नेरापः।अद्भ्य : पृथिवी.....।।

तैत्तिरीय उपनिषद्,२।१

उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से

अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी उत्पन्न हुयी। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि आकाश में मेघ के रूप में स्थित जल का वायु के द्वारा मंथन किये जाने पर विद्युत रूपी अग्नि उत्पन्न होती है। इसी तथ्य का निरूपण उपरोक्त मन्त्र में किया गया है।

आधिभौतिक अर्थ–

हे अग्ने! (मूर्ध्नः विश्वस्य वाघतः) संसार में सर्वश्रेष्ठ तथा समस्त विश्व का वहन करने वाले (त्वाम्) तुम को (अथर्वा) स्थिर चित्त वाले विद्वान् ने (पुष्कराद् अधि) जल से अथवा जल की सहायता से (निरमन्थत) निरन्तर मन्थन करके उत्पन्न किया है।

विद्वान् वैज्ञानिकों द्वारा जल से विद्युत रूपी अग्नि उत्पन्न की जाती है। इसी तथ्य का उल्लेख इस मन्त्र में किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण,६।४।२।२ के अनुसार 'आपो वै पुष्करं प्राणोथर्वा' जल ही पुष्कर है तथा प्राण अथर्वा है। वायु समष्टि प्राण है अतः आधिदैविक अर्थ में प्राण का अर्थ वायु होता है।

प्रजापतिः ऋषिः। सविता देवता। विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। गान्धारः स्वरः।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्यं पृथिव्या अध्याऽभरत्।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्, २।१ यजुर्वेद,११।१

(तत्वाय) तत्व ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये (प्रथमं) सर्वप्रथम (सविता मनः धियः युञ्जानः) समस्त जगत के उत्पादक एवं प्रेरक परमेश्वर में मन तथा धारणावती बुद्धि को युक्त करते हुये, लगाते हुये, (पृथिव्याः अधि) तथा पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठकर, बाह्य विषयों से अलग होकर (अग्नेः ज्योतिः निचाय्य) परमात्मा की ज्योति को, उसके प्रकाश अथवा (भर्गः) तेज को जानकर प्राप्तकर (आभरत्) उसे अपने अन्दर धारण करे।

तत्व ज्ञान के लिये आवश्यक है मन तथा बुद्धि को स्थिर एवं

एकाग्र करना और इसका एकमात्र उपाय है, इन्हे मंगलकारी प्रेरणा देने वाले सविता देव अथवा परमात्मा में लगाना और बाह्य विषयों से ऊपर उठकर परमात्मा के वरण करने योग्य तेज को, उसकी ज्योति को अपने अन्दर धारण करना। जितने अंश मे हम उस परम पिता परमात्मा के तेज को ग्रहण करके अपने अन्दर धारण कर सकेंगे उतने ही हम उसके निकट पहुँचने के योग्य बन सकेंगे।

प्रजापति: ऋषि: । सविता देवता। शंकुमती गायत्री छन्द:। षड्ज: स्वर: ।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितु: सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ।

श्वेताश्वर उपनिषद्,२। यजुर्वेद,११। २

श्वेताश्तर उपनिषद् में 'स्वर्ग्याय' के स्थान पर 'सुवर्गेयाय' शब्द आया है। (सवितु: देवस्य सवे) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले तथा प्रेरणा देने वाले सविता देव की, परब्रह्म की इस सृष्टि में (युक्तेन मनसा) योग युक्त निर्मल शान्त मन से (वयं स्वर्ग्याय शक्त्या) हम सुख अथवा परम आनन्द की प्राप्ति के लिये अपनी पूर्ण शक्ति से प्रयास करें।

अथवा, (युक्तेन मनसा) हम योग युक्त समाहित, संयमित तथा विषयों से विरक्त मन से (सवितु: देवस्य सवे) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले तथा उसको प्रेरणा देने तथा पालन पोषण करने वाले परब्रह्म की आज्ञा में अर्थात् उसके निर्देशों, नियमों एवं वेदोक्त आदेशों के अनुसार (स्वर्ग्याय शक्त्या) सुवर्ग अर्थात् विशेष सुख, ऐश्वर्य एवं वैभव की प्राप्ति के लिये अपनी पूर्ण शक्ति से निरन्तर प्रयास करें। पहले मन्त्र में मन तथा बुद्धि को परमात्मा में संयुक्त करने का निर्देश दिया गया है तथा इस मन्त्र में परमात्मा में युक्त मन से दिव्य एवं अलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये सतत् प्रयास करने की शिक्षा दी गई है।

यही हमारे जीवन का लक्ष्य, कर्तव्य एवं जीवन दर्शन होना चाहिये।

योग युक्त मन का तात्पर्य हानि-लाभ, सुख-दुःख, जय-विजय आदि में समबुद्धि होना, प्रत्येक प्राणी के प्रति समत्व का भाव रखना तथा चित्त की वृत्तियों के निरोध एवं इन्द्रियों के निग्रह से प्राप्त, संयमित, निर्मल एवं शान्त मन की उस अवस्था से है जब वह पूर्ण रूपेण परमात्मा से संयुक्त हो जाता है।

युक्त्वायं सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान् ।।

श्वेताश्वतर, उपनिषद्,२।३ यजुर्वेद,११।३

जो सविता देव में, परमात्मा में अपने मन तथा इन्द्रियों को (युक्त्वाय) संयुक्त करके (स्वः यतः) सुख प्राप्त कराने वाली, सुखस्वरूप परब्रह्म की ओर जाने वाली (धिया) बुद्धि तथा (बृहत् ज्योतिः दिवम्) महान् प्रकाश करने वाले दिव्य ज्ञान से (करिष्यतः) भक्तिपूर्वक उपासना करने वाले हैं, (तान् देवान् सविता प्रसुवाति) उन विद्वान् उपासकों को परम कारुणिक प्रभु प्रेरणा देता है, उत्साहित करता है, सहारा देता है।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के अपने भाष्य में 'देवान्' का अर्थ मन आदि इन्द्रियाँ किया है। शतपथ ब्राह्मण,६।३।१।१५ में कहा गया है, 'मनो वै सविता प्राणा देवाः।' मन सविता है, प्राण देव हैं तथा 'बृहत् ज्योतिः करिष्यतः' का अर्थ है, बृहत् ज्योति उत्पन्न करने वाला। यह आदित्य ही बृहत् ज्योति है। इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ होगा-

जो सविता देव में, परमात्मा में अपने मन तथा संयमित इन्द्रियों एवं (स्वः यतः) सुखस्वरूप परब्रह्म की ओर चलने वाली बुद्धि को संयुक्त करते हैं, उन्हें (दिवं) द्युलोक में स्थित आदित्य रूपी बृहत् ज्योति को उत्पन्न करने वाला सविता अपनी ओर प्रेरित करता है, उनके हृदय में अपने दिव्य स्वरूप को प्रकाशित करता है। 'दिवं प्रसुवाति दिव्य स्वरूपं प्रकाशयति' स्वामी दयानन्द (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका)

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो

विंपुश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्यं सवितुः परिष्टुतिः।। ऋग्वेद,५।८१।१

श्वेताश्वतर उपनिषद्,२।४, यजुर्वेद,५।१४,११।४,३७।२

(विप्राः) मेधावी विद्वान् तथा ज्ञानीजन (बृहतः विपश्चितः विप्रस्य) महान्, अनन्त ज्ञान युक्त, सर्वज्ञ परमात्मा में अपने (मनः युञ्जते उत धियः युञ्जते) अपने मन को संयुक्त करते हैं तथा अपनी बुद्धि को संयुक्त करते हैं अर्थात् बाह्य विषयों से हटा कर अपने मन एवं बुद्धि को केवल एक मात्र परमात्मा में ही एकाग्ररूप से केन्द्रित कर देते हैं, उसी की भावना, उसी का ध्यान तथा उसी का अनन्य भाव से चिन्तन करते हैं।(वयुनावित् एकः इत् होत्राः विदधे) समस्त कर्मों, मनोभावों एवं चेष्टाओं को जानने वाले तथा अकेले ही समस्त यज्ञों को, समस्त जगत् को धारण करने वाले, (सवितुः देवस्य परिष्टुतिः मही) सविता देव की स्तुति महान् एवं श्रेष्ठ है।

तात्पर्य यह है कि केवल परमात्मा की ही स्तुति करनी चाहिये, वही कल्याणकारी है, अन्य किसी देवता अथवा पुरुष चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, की स्तुति अथवा उपासना नहीं करनी चाहिये। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जो लोग ब्रह्म से भिन्न अन्य देवताओं की उपासना करते हैं वे उन देवताओं के पशु के समान हैं और उन देवताओं को यह अच्छा नहीं लगता कि ये भक्त रूपी पशु उनसे छिन जायें, उनकी अर्चना एवं उपासना बन्द कर दें क्योंकि संसार में किसी व्यक्ति का यदि एक भी पशु खो जाता है अथवा उससे दूर चला जाता है, तो उस व्यक्ति को अत्यन्त दुःख होता है, अतः यदि उन देवताओं के इतने सारे भक्त रूपी पशु उनसे अलग हो जायँ, तो उन्हें कितना दुःख होगा?

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवः स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीय-मानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या

विद्युः। बृहदारण्यक उपनिषद्, १।४।१०

(अथ यो अन्यां देवतां उपास्ते) जो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी देवता की उपासना करता है और (अन्यः असौ अन्यः अहम् इति) वह अन्य है और मैं अन्य हूँ, ऐसा समझता है (न स वेद) वह वास्तव में नहीं जानता। (यथा ह वै बहवः पशवः मनुष्यं भुञ्ज्युः) जैसे बहुत से पशु मनुष्य का पालन करते हैं, (एवम् एव एकः पुरुषः देवान् भुनक्ति) उसी प्रकार ऐसा प्रत्येक पुरुष देवताओं का पालन करता है। (एकस्मिन् एव पशौ आदीय माने अप्रियं भवति) किसी व्यक्ति के एक भी पशु का हरण हो जाने पर उसे अच्छा नहीं लगता (बहुषु किमु) तब बहुतों के हरण हो जाने पर तो कहना ही क्या। (तस्माद् एषां तत् न प्रियम्) इसलिये देवताओं को यह अच्छा नहीं लगता (यत् मनुष्याः एतद् विद्युः) कि ये मनुष्य लोग ब्रह्म को जानें।

अतः दृढ़ता, प्रयास एवं सतत् जागरूकता से भक्तिपूर्वक केवल ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकं एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ ऋग्वेद, १०।१३।१

श्वेताश्वतर उपनिषद्,२।५ यजुर्वेद,११।५

(ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिः वां युजे) हे बुद्धि तथा मन! मैं नमस्कार वचनों से, भक्ति पूर्वक की गयी स्तुतियों से तुम दोनों को उस (पूर्व्यं पूर्वं चिरन्तनम्) अनादि, अनन्त, पुरातन एवं सनातन ब्रह्म में संयुक्त करता हूँ। (सूरेः पथ्या इव श्लोकः वि एतु) परम विद्वानों के मार्ग के तुल्य, उनके श्रेष्ठ जीवन पथ का अनुसरण करते हुये मुझे सत्य कीर्ति प्राप्त हो अथवा (श्लोकः सूरेः पथ्या इव वि एतु) मेरा यह श्लोक, मेरे द्वारा वेद मन्त्रों से की गयी स्तुति देवों की कीर्ति की भाँति सब ओर फैल जाय। मेरी इस प्रार्थना को (दिव्यानि धामानि आ तस्थुः विश्वे अमृतस्य पुत्राः शृण्वन्तु) दिव्य धामों में स्थित समस्त अमृत पुत्र सुनें।

परमात्मा का अंश होने के कारण आत्मा यथार्थ में अमृत पुत्र है। वास्तव में हम सब अमृत पुत्र हैं किन्तु उस अमृतत्व की प्राप्ति के लिए हमें अपने अमृत स्वरुप परम पिता के साथ अपने मन तथा अपनी बुद्धि को अनन्य भक्ति के साथ संयुक्त करना चाहिए और उन श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जो देवत्व प्राप्त करके परमात्मा के दिव्य धाम में स्थित हैं।

शतपथ ब्राह्मण ६।३।१।१७ में श्लोक का अर्थ कीर्ति किया गया है और कहा गया है कि प्रजापति अमृत है, सब देव उसके पुत्र हैं तथा यह लोक ही दिव्य धाम है और इसमें ये देव उपस्थित हैं।

स्वामी शंकराचार्य जी ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के अपने भाष्य में पथ्येव का पदच्छेद् (पथ्या इव) करते हुये लिखा है कि पथ्या का अर्थ कीर्ति करना चाहिये। मन को संयमित करने तथा उसे भगवान् के साथ संयुक्त करने के विषय में गीता में विस्तृत निर्देश दिये गये हैं।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित: ।
मन: संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर: ।।

गीता, ६।१४

(प्रशान्तात्मा, प्रकर्षेण शान्त आत्मा अन्त: करणं यस्य स: प्रशान्त आत्मा) अच्छी प्रकार से शान्त हुये अन्त: करण वाला, (विगत भी: विगतभयो) निर्भय (ब्रह्मचारिव्रते स्थित:) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला, मन को वश में करके, मन की वृत्तियों का उपसंहार करके, (मच्चित्तो मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य स: मच्चित्तो) मुझ में अर्थात् परमेश्वर में लगे हुये (युक्त: समाहित: सन्) समाहित चित्त वाला तथा (मत्पर: अहं परो यस्य स: मत्पर: आसीत) जिसके लिये मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ ऐसा मत्परायण होकर रहे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानस: ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।

गीता, ६।१५

(एवं आत्मानं सदा युञ्जन्) उक्त प्रकार से आत्मा को सदा परमेश्वर में स्थिर करता हुआ (नियतमानस: नियतं संयतं मानसं मनो यस्य स: नियतमानस:) संयमित मन है जिसका ऐसा योगी (निर्वाणपरमां निर्वाणं मोक्ष: तत्परमा निष्ठा यस्या: शान्ते: सा निर्वाणपरमा तां निर्वाणपरमां) निर्वाण है परम निष्ठा, अन्तिम स्थिति जिसकी अर्थात् जिसकी अन्तिम स्थिति मोक्ष है तथा जो (मत्संस्थां मदधीनाम् अधिगच्छति प्राप्नोति) जो मेरे अधीन है, मुझमें स्थित है, उस शान्ति को प्राप्त करता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
नि:स्पृह: सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।

गीता,६।१८

(यदा विनियतं विशेषेण नियतं संयुतं चित्तम्) जब विशेष रुप से संयमित एवं एकाग्रता को प्राप्त हुआ चित्त बाह्य चिन्ताओं को छोड़कर केवल (आत्मनि एव अवतिष्ठते) परमात्मा में ही स्थित हो जाता है (तदा) तब (नि: स्पृह:, निर्गता दृष्टादृष्ट विषयेभ्य: स्पृहा तृष्णा यस्य स:) विभिन्न प्रकार के भोगों की लालासा, तृष्णा तथा समस्त कामनाओं से रहित हुआ समाहित चित्त वाला वह योगी (युक्त: इति उच्यते) युक्त कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन:।।

गीता,६।१९

जिस प्रकार (निवातस्थो) वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की ज्योति (न इङ्गते, न चलति) चलायमान नहीं होती (सा उपमा) वही उपमा (आत्मन: योगम् युञ्जतो) आत्मा के योग में लगे हुये अर्थात् अपने को परमात्मा के साथ संयुक्त कर देने वाले (योगिनो यतचित्तस्य संयत अन्त:करणस्य) योगी के संयत चित्त की (स्मृता) कही गयी है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।

गीता,६।२०

(यत्र योगसेवया निरुद्धम् चित्तम्) जिस अवस्था में योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ, चंचलता रहित हुआ चित्त, (उपरमते उपरतिं गच्छति) शान्त हो जाता है, (च यत्र यस्मिन् काले) तथा जिस अवस्था में योगी (आत्मना) अपने निर्मल आत्मा से (आत्मानं पश्यन्) परमात्मा का दर्शन करता हुआ साक्षात्कार करता हुआ, (आत्मनि एव तुष्यति) अपने आप में ही परम तुष्टि को, परम आनन्द को प्राप्त करता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।

गीता,६।२१

(यत्र स्थितः) पूर्व श्लोक में वर्णित जिस अवस्था में, परमात्मा में स्थित अथवा परमात्मा का दर्शन करता हुआ (अयं) यह योगी (तत्वतः न एव चलति) उस तत्व स्वरुप परमात्मा से विचलित नहीं होता, अलग नहीं होता अर्थात् जब तक उसका आत्मा परमात्मा के साथ संयुक्त रहता है, उस अवस्था में वह (अतीन्द्रियमं इन्द्रियगोचरातीतम् अविषयजनितम् इत्यर्थः) इन्द्रियातीत अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा भोगे जाने वाले विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख से परे, (बुद्धिग्राह्यम्) केवल बुद्धि से ग्रहण किये जाने योग्य (यत्) जो (आत्यन्तिकम् अत्यन्तम्) अत्यन्त सुख है, (तत् वेत्ति) उसे प्राप्त करता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।

गीता, ६।२२

परमात्मा के दर्शन तथा परमात्मा को प्राप्त करने के जिस लाभ

को प्राप्त करके योगी उससे अधिक किसी अन्य लाभ को नहीं मानता अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति को ही सबसे बड़ा लाभ मानता है, तथा भगवत्प्राप्ति की जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखों से भी विचलित नहीं होता।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।

गीता, ६।२४

(संकल्पप्रभवान्, संकल्पः प्रभवो येषां कामानां ते संकल्पप्रभवाः कामाः तान् कामान्) संकल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को (अशेषतः) पूर्णरूप से त्याग कर,संसार से निर्लिप्त होकर तथा (मनसा एव) विवेकयुक्त मन से (इन्द्रियग्रामम् इन्द्रिय समुदायम्) इन्द्रियों के समूह का, (समन्ततः विनियम्य) सब ओर से नियमन करके अर्थात् समस्त इन्द्रियों को भली प्रकार संयमित करके–

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।

गीता, ६।२५

(धृत्या धैर्येण गृहीतया धृतिगृहीतया धैर्येण युक्तया इत्यर्थः) धैर्य से धारण की हुई अर्थात् धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा (शनैः शनैः उपरमेत्) धीरे धीरे अभ्यास करता हुआ उपरति को, शान्ति को प्राप्त करे तथा (आत्मसंस्थं, आत्मनिसंस्थितम् मनः कृत्वा) मन को परमात्मा में स्थित करके (न किञ्चिदपि चिन्तयेत्) परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का चिन्तन न करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।

गीता, ६।२६

(चञ्चलम्) अत्यन्त चलायमान (अस्थिरम्) एवं कभी न स्थिर रहने वाला मन (यत: यत: निश्चरति) जिस जिस विषय में इधर उधर विचरण करता है, उस उस विषय से उसे बारम्बार रोककर (एतत् मन: आत्मनि एव वशं नयेत्) इस मन को आत्मा के ही वशीभूत करे, आत्मा में ही स्थिर करे, अन्य किसी ओर विचरण न करने दे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

गीता, ६।२७

जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पाप रहित है तथा जिसका रजोगुण शान्त हो गया है (ब्रह्मभूतम् ब्रह्मएव सर्वम् इति एवं निश्चयवन्तं) यह सब कुछ ब्रह्म ही है ऐसे निश्चय वाले योगी को (उत्तमम् सुखम् उपैति) उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मष:।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

गीता, ६।२८

(एवं सदा आत्मानं युञ्जन्) इस प्रकार अपने आत्मा को परमात्मा के साथ निरन्तर संयुक्त करता हुआ (विगत कल्मष: योगी) पापरहित योगी (सुखेन) बिना किसी कठिनाई के अनायास ही (ब्रह्म संस्पर्शम्) परब्रह्म के संस्पर्श का, ब्रह्म की प्राप्ति का (अत्यन्तं सुखम् अश्नुते) अत्यन्त, असीम परमानन्द प्राप्त करता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

गीता, ६।३५

हे महाबाहो! नि: सन्देह (मन: चलम्) मन अत्यन्त चञ्चल तथा (दुर्निग्रहं) कठिनता से वश में आने वाला है (तु) किन्तु हे कुन्तीपुत्र!

(अभ्यासेन) निरन्तर अभ्यास एवं प्रयास तथा (वैराग्येण) वैराग्य से, विभिन्न प्रकार के भोगों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करने से (गृह्यते) यह मन वश में किया जाता है।

गीता में अन्यत्र कहा गया है कि वैराग्य को ग्रहण करने वाले अर्थात् कामनाओं का त्याग करने वाले ज्ञानी को ही पंडित कहा जाता है।

यस्य सर्वे समारम्भा: कामसंकल्पवर्जिता:।
ज्ञानग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा:।।

गीता, ४।१९

(कर्माणि समारभ्यन्ते इति समारम्भा:) जिनका प्रारम्भ किया जाता है वे समारम्भ हैं इस प्रकार समस्त कार्य समारम्भ ही कहलाते हैं। (यस्य सर्वे समारम्भा: कामसंकल्पवर्जिता:) जिसके समस्त कार्यों के संकल्प कामना से रहित होते हैं अर्थात् जो अपने कार्यों को किसी कामना की पूर्ति के लिये नहीं करता प्रत्युत कर्तव्य भाव से करता है तथा (ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं) ज्ञान की अग्नि से दग्ध हो गये हैं कर्म जिसके (तम् बुधा: पण्डितं आहु:) ऐसे पुरुष को ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं।

उपासना में निरन्तर प्रयास एवं जागरुकता की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

"न ऋ॒ते श्रा॒न्तस्यं स॒ख्यायं दे॒वा:"।

ऋग्वेद, ४।३३।११

जब तक सतत् प्रयास करके पुरुष अपने को थका नहीं देता तब तक उसे देवों की मित्रता प्राप्त नहीं होती।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्त: शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:।।

मुण्डकोपनिषद्, ३।१।५

शरीर में अन्तर्यामी रुप से स्थित यह प्रकाशस्वरुप परम विशुद्ध परमात्मा, जिसे सब प्रकार के दोषों से रहित यत्नशील साधक ही देख

पाते हैं, नि: सन्देह सत्य, तप, ब्रह्मचर्य एवं ज्ञान से ही सदा प्राप्त होने वाला है।

तद्विप्रांसो विपन्यवो जागृवाꣳसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ।। यजुर्वेद, ३४।४४,
सामवेद उत्तरा. १८।२।५, (क्रम सं. १६७३), ऋग्वेद, १।२२।२१,

(विष्णोः यत् परमं पदम्) विष्णु का जो परम उत्कृष्ट पद अथवा स्वरूप है (तत्) उसे (जागृवांसः) प्रमादरहित होकर तथा जागरुक रहकर निरन्तर प्रयास करने वाले (विपन्यवः) भक्तिपूर्वक भगवान् की स्तुति एवं उपासना करने वाले (विप्रासः) मेधावी विद्वान् (समिन्धते) अपने हृदय में श्रद्धा, सत्य एवं ज्ञान से प्रकाशित करते हैं अथवा, उसके परम पद को सत्य एवं ज्ञान के प्रकाश से प्राप्त करते हैं।

इस मन्त्र में प्रयोग किये गये अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द (विप्रासः) ज्ञानी (जागृवांसः) जागरुक रहकर श्रेष्ठ कर्म करने वाले तथा (विपन्यवः) स्तुति करने वाले, यह बताते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने के लिये ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों के समुच्चय की परम आवश्यकता है। भगवान् की प्रेरणा तथा उसकी कृपा के बिना कोई ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे नहीं बढ़ सकता। केवल बुद्धि अथवा ज्ञान से भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसके लिये तो उस प्रभु की कृपा की आवश्यकता होती है।

"सोई जानइ जेहि देहु जनाई ।
जानत तुमहिं, तुमहिं हुय जाई ।।" रामचरितमानस

हे प्रभो ! जिसे आप स्वयं अपना बोध, अपना ज्ञान करा देते हैं, वही आपको जान पाता है। जो आपको जान लेता है, वह आप में ही लीन हो जाता है, अलग नहीं रहता।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।
मुण्डकोपनिषद् ३।२।९

निश्चय ही, जो कोई भी उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उसकी आत्मा ब्रह्म में प्रवेश कर जाती है । यजुर्वेद, ३२।११ में कहा गया है–

आत्मना आत्मानं अभिसंविवेश ।

मोक्ष प्राप्त करने की अवस्था में योगी अपने आत्मा द्वारा परमात्मा में प्रवेश करता है ।

इसमें सन्देह नहीं कि भक्तिपूर्वक की गई उपासना से हमें भगवान् की मित्रता प्राप्त होती है और स्वयं भगवान् जिसके सखा हो जायें उसे कोई दुःख अथवा कष्ट होने का प्रश्न ही नहीं है, उसे तो सुदामा के समान बिना माँगे ही सब कुछ मिल जाता है ।

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः । यस्य त्वꣳसख्यमाविथ ।।

ऋग्वेद, ८।१९।३० (पाठ भेद), सामवेद पूर्वाचिक,१।२।२ (क्रम सं.१०८), सामवेद उत्तरार्चिक,२०।६।१ (क्रम सं. १८२२)

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परब्रह्म ! (यस्य त्वं सख्यं आविथ) जिसकी मित्रता आप स्वीकार कर लेते हैं, अर्थात् आप जिसके मित्र हो जाते हैं, (सः तव सुवीराभिः ऊतिभिः वाज कर्मभिः) वह आपकी सुन्दर वीरतापूर्ण रक्षाओं से तथा आपके बलशाली कर्मों से (प्रतरति) सभी दुःखो कष्टों एवं संकटों से पार हो जाता है ।

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वं॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिष॑ यस्यं दे॒वाः। यस्यं च्छा॒याऽमृतं॒ यस्यं मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वायं ह॒विषा॑ विधेम।। यजुर्वेद, २५।१३

अथर्ववेद, ४।२।१ (पाठभेद), ऋग्वेद, १०।१२१।२

(यः आत्मदा) जो हमें आत्मिक ज्ञान (बलदा) एवं आत्मिक तथा शारीरिक बल देने वाला है, (यस्य विश्व उपासते) समस्त विश्व जिसकी

उपासना क़रता है, (देवा: यस्य प्रशिषम्) सभी देव तथा विद्वान् जिसकी आज्ञा का, जिसके अनुशासन का पालन करते हैं, (यस्य छाया अमृतम्) तथा जिसकी छाया, जिसका आश्रय अथवा जिसकी कृपा अमृत है और (यस्य मृत्यु:) जिसकी अकृपा ही मृत्यु है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ऐसे सुखस्वरुप परब्रह्म की हम अपने अन्तःकरण से भक्तिपूर्वक अनन्यभाव से अर्चना एवं उपासना करें।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

गीता, ९।२२

अनन्य भाव से चिन्तन करते हुये जो मेरी उपासना करते हैं उन, भक्तिभाव से मुझ में नित्य अभियुक्त होने वाले, भली प्रकार जुड़ जाने वाले, भक्तों के योग तथा क्षेम को मैं स्वयं वहन करता हूँ।

(अलब्धलाभो योग:) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग है तथा (प्राप्तस्य संरक्षणं क्षेम:) प्राप्त वस्तु के संरक्षण का नाम क्षेम है।

इसमें कोई संशय नहीं है कि अनन्य भाव से की गयी भक्ति एवं उपासना से भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है।

पुरुष: स पर: पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त:स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।

गीता, ८।२२

हे पार्थ ! वह परम पुरुष जिसके अन्तर्गत समस्त भूत स्थित हैं तथा जो समस्त संसार में व्याप्त है, जिससे समस्त ब्रह्माण्ड परिपूर्ण है, वह परमात्मा अनन्य भक्ति से प्राप्त किया जाने वाला है।

ऐसा नहीं है कि अब भगवान् बदल गया है या अब वह अपने भक्तों की सुध नहीं लेता। वास्तविकता यह है कि अब हमारा विश्वास ही भगवान् में नहीं रह गया है और अब हम बिना श्रद्धा एवं विश्वास के और बिना वास्तविक भक्ति के भगवान् से प्रार्थना करने का दिखावा करते हैं

और फिर कहते हैं कि पता नहीं भगवान् है भी या नहीं, उसने हमारी तो सुनी नहीं। हमारा इतना अध:पतन हो गया है कि अब हमारा धर्म केवल मन्दिर में जाकर भगवान् की मूर्ति के दर्शन करना और अपने स्वार्थ की पूर्ति के उद्देश्य से प्रसाद चढ़ाना रह गया है। भला इस प्रकार हमारा कल्याण कैसे हो सकता है? यदि हम वास्तव में श्रेष्ठ आचरण एवं सत्य का पालन करते हुये श्रद्धा एवं विश्वास के साथ भगवान् का अर्चन, पूजन, नमन एवं उपासना करें तो नि:सन्देह वह हमारे समस्त संकटों को दूर करेगा और सब प्रकार से हमारी रक्षा करते हुये हमें कल्याणकारी मार्ग पर ले जायेगा, जैसा कि वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है–

यथा वातंश्च्यावयंति भूम्यां रेणुमन्तरिंक्षा-
च्चाभ्रम।एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मंनुत्तमपांयति॥

अथर्वेद, १०।१।१३

(यथा वात: भूम्या: रेणुम्) जिस प्रकार वायु भूमि से धूलि को (अन्तरिक्षात् च अभ्रम्) तथा अन्तरिक्ष से बादलों को (च्यावयति) उड़ा ले जाता है (एवा ब्रह्मनुत्तम् मत्सर्वं दुर्भूतं अपायति) उसी प्रकार ब्रह्म द्वारा मेरे समस्त पाप,समस्त दु:ख एवं संकट उड़ाकर, हटाकर दूर कर दिये जाते हैं।

परमात्मा के लिये हमारे पाप, दु:ख तथा संकटों को तुरन्त दूर कर देना उतना ही साधारण कार्य है जितना वायु के लिये पृथिवी से धूलि को तथा आकाश से मेघों को उड़ा ले जाना। आवश्यकता है सच्ची भक्ति, दृढ़ विश्वास, शिवसंकल्प एवं सदाचार के द्वारा भगवान् की कृपा के पात्र बनने की, उसके योग्य बनने की।

युञ्जन्तिं ब्रध्नमंरुषं चरंन्तं परिं तस्थुषं:।
रोचंन्ते रोचना दिवि॥

ऋग्वेद,१।६।१, यजुर्वेद,२३।५

जो उपासक (ब्रध्नं सर्वानन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरम्) समस्त

प्रकार के सुखों की वृद्धि करने वाले, (अरुषम्) क्रोध न करने वाले, किसी की हिंसा न करने वाले, सब को सुख देने वाले, परम करुणामय, आदित्यवर्ण, प्रकाशस्वरुप (तस्थुष:) समस्त स्थावर जङ्गम जगत् में (परिचरन्तं) सब ओर से व्याप्त होने वाले, सर्वज्ञ परमात्मा में (युञ्जन्ति) अपने मन, बुद्धि तथा आत्मा को भली प्रकार से युक्त कर देते हैं, वे (दिवि रोचना) द्युलोक में व्याप्त सूर्य की किरणों के समान यशस्वी तथा तेजस्वी होकर (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं।

आधिदैविक अर्थ में यह आदित्य ही 'ब्रध्न अरुष:' है।

असौ वाऽआदित्यो ब्रध्नोऽरुषो।।शतपथ ब्राह्मण,१३।२।६।१

महत् । ब्रध्न:, महन्नामसु पठितम् ।। निघण्टु,३।३

इस प्रकार ब्रध्न का अर्थ 'महान' होता है।

यदाऽत्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं,
दीपोपमेनेह युक्त: प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्,२।१५

(यदा तु युक्त: दीपोपमेन इह आत्मतत्वेन ब्रह्मतत्वं प्रपश्येत्) जब योगी दीपक के समान प्रकाशयुक्त आत्मतत्व के द्वारा ब्रह्मतत्व को भली भाँति प्रत्यक्ष कर लेता है तब (अजम्) उस अजन्मा (ध्रुवं) निश्चल तथा (सर्वतत्वै: विशुद्धं) सब पृथिव्यादि स्थूल एवं सूक्ष्म तत्वों से अपरामृष्ट, असंयुक्त, विशुद्ध (देवं ज्ञात्वा सर्वपाशै: मुच्यते) परमात्मा को जानकर समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

मुण्डकोपनिषद्,२।२।८

उस परात्पर पुरुष, परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं, तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

उपासना के लिये सबसे अधिक आवश्यकता है भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण की। समस्त प्रकार के अहंकार तथा संशयों से मुक्त होकर अपने आत्मा को तथा अपने कर्मों को परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना चाहिये और जो भी भगवान् की इच्छा हो, उसका निर्णय हो, उसी में सुख एवं शान्ति का अनुभव करना चाहिये। योगदर्शन समाधि पाद,१।२३ में कहा गया है।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्तित ईश्वरस्तमनुगृहणात्यभिध्यान मात्रेण । व्यासभाष्य।

ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की विशेष भक्ति करने से (आवर्तित) अनन्य भाव से अभिध्यात् परमात्मा, भक्त द्वारा भली प्रकार श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक ध्यान किये जाने पर निःसन्देह उस भक्त पर अनुकम्पा करता है। इससे चित्त की निर्मलता तथा स्थिरता होती है, समाधि की सिद्धि होती है और अन्त में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इस सम्बन्ध में सबसे सुन्दर प्रार्थना निम्नाङ्कित प्रसिद्ध मन्त्र में की गयी है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ।।

यजुर्वेद, ३०।३

(सवितः देव) समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले, उसका पालन पोषण करने वाले तथा सबको प्रेरणा देने वाले हे परमात्मा! (विश्वानि दुरितानि) हमारे समस्त दुर्गुणों, दुःखों, कष्टों तथा संकटों को (परासुव) हम से दूर कर दीजिये तथा (यद् भद्रं) जो हमारे लिये कल्याणकारी है, (तत् नःआसुव)उसे हमारे पास लाइये, हमें प्राप्त कराइये ।

कितनी आस्था, कितनी भक्ति, कितना विश्वास तथा कैसा समर्पण है, इस मन्त्र में। कैसी सुन्दर प्रार्थना है यह! हमें नहीं पता कि हमारे लिये क्या लाभप्रद है, किससे हमारा भला होगा। अत: हे प्रभो! आपकी दृष्टि में हमारे लिये जो कल्याणप्रद है, उसे हमारे पास लाइये। मनुष्य का ज्ञान कितना सीमित है। हम यह भी नहीं जानते कि जिस दीवार के पास हम बैठे हैं, उसके दूसरी ओर क्या हो रहा है। हमें नहीं पता कि अगले क्षण क्या होने वाला है अथवा हम जो कार्य कर रहे हैं, जिस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयास कर रहे हैं, उससे भविष्य में हमें लाभ होगा अथवा हानि। अत: सबसे अच्छी प्रार्थना यही हो सकती है कि हे प्रभो! जिससे हमारा भला हो, कल्याण हो, वह हमारे पास लाइये, वह हमें दीजिये तथा जिस मार्ग से हमें भविष्य में सुख एवं समृद्धि प्राप्त हो, जो हमारे लिये श्रेयस्कर हो, उस मार्ग से हमें ले जाइये, यही वास्तव में समर्पण है।

रामचरित मानस में एक अत्यन्त रोचक प्रसंग आया है। एक बार देवर्षि नारद को अपने ज्ञान एवं वैराग्य पर इतना अधिक अभिमान हो गया कि वह उनके पतन का कारण बन सकता था। अत: भगवान् ने अपने परम भक्त नारद के हित में उसे दूर करना आवश्यक समझा। अस्तु जब नारद भगवान् विष्णु से मिलकर तथा अपने ही मुख से अपने कामदेव पर विजय कर लेने वाले स्वरूप का विधिवत् वर्णन करके वापस लौटने लगे तब भगवान् ने मार्ग में एक ऐसी माया नगरी का निर्माण कर दिया जिसके राजा के विश्व मोहिनी नाम की अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। उस राजकुमारी का स्वयंवर होने वाला था। नारद जी उसके रूप तथा गुणों पर इतने मोहित हो गये कि उन्होंने सोचा कि ऐसा प्रयास करना चाहिये जिससे वह मुझे ही वरे।

करौं जाइ सोइ जतन बिचारी, जेहि प्रकार मोंहि बरै कुमारी।
जपतप कछु न होइ तेहि काला, हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।।

रामचरितमानस, बालकाण्ड १३०, (४)

अत: उन्होंने सोचा कि भगवान् से अप्रतिम सुन्दरता माँग लूँ।

देवर्षि द्वारा ऐसी इच्छा करने पर कौतुकी भगवान् उनके समक्ष प्रकट हो गये। तब नारद जी ने भगवान् से कहा कि आप मुझे अपना ही रूप दे दीजिये क्योंकि विश्वमोहिनी को प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है। भगवान् ने अपने मन में हँस कर कहा नारद! मैं वही करूँगा जिसमें तुम्हारा हित होगा।

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार।।

रामचरितमानस, बालकाण्ड१३२

माया के वशीभूत हुये नारद भगवान् के इस गूढ़ वचन के वास्तविक अर्थ को न समझकर अत्यन्त प्रसन्न हो गये और स्वयंवर समारोह में इस विश्वास से जाकर सम्मिलित हुये कि राजकुमारी उन्हीं का वरण करेगी।

इधर भगवान् ने नारद के हित को दृष्टि में रखते हुये, उन्हें अत्यन्त कुरुप बना दिया, जिसके फलस्वरुप विश्वमोहिनी ने उनकी ओर देखा भी नहीं। अन्त में जब नारद ने दूसरों के कहने पर जल में प्रतिविम्बित अपने रूप को देखा तो उन्हें वास्तविकता का बोध हुआ किन्तु तब उन्होंने भगवान् के इस कल्याणकारी कार्य को न समझकर भगवान् को ही शाप दे दिया।

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।
नारि बिरहँ तुम होब दुखारी।।

रामचिरतमानस, बालकाण्ड,१३६।४

जब देवर्षि नारद भी अपना हित अहित समझने में समर्थ नहीं हुये तो हम साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है। अत: भगवान् में विश्वास रखकर उनकी कृपा के लिये प्रार्थना करना ही श्रेयस्कर है। वह स्वयं ही हमारी बुद्धि और हमारे कर्मों को कल्याणकारी मार्ग पर प्रेरित करेंगे।

यही इस मन्त्र की प्रार्थना है और यही गायत्री मन्त्र की भी प्रार्थना है।

वास्तव में मानव मात्र की सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना यही है। भगवान् के प्रति समर्पण करना, उसके प्रति शरणागत होना, समस्त कर्म भगवान् के निमित्त तथा उसी को अर्पण करके करना, यम नियम सहित अष्टाङ्ग योग से अपने को भगवान् के पास बैठने के योग्य बनाना, भगवान् के गुणों को अपने अन्दर धारण करना, समस्त प्राणियों में समत्व भाव रखना, उनके कल्याण के लिये प्रयासरत रहना तथा उन्हें ब्रह्म का रूप समझ कर उनके साथ आत्मवत व्यवहार करना, ये सब उपासना के प्रमुख अंग हैं।

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येष्वमरमाश्रितम् ।
यः पश्येत् परमात्मानं बन्धनैः स विमुच्यते ।।

महाभारत, अनुशासन पर्व,अ. १४५

(यः) जो (मर्त्येषु सर्वदेहेषु अव्यक्तं अमरं आश्रितम्) समस्त प्राणियों के नाशवान् शरीरों में गूढ़रूप से स्थित अविनाशी (परमात्मानं पश्येत्) परमात्मा को देखता है (सः बन्धनैः विमुच्यते) वह बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

गीता के निम्नाङ्कित महत्वपूर्ण श्लोकों में उपासना के लिये मन तथा इन्द्रियों पर संयम, सभी प्राणियों में समबुद्धि तथा समस्त संसार के कल्याण के लिये निरन्तर प्रयास करने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।

गीता,१२।३,४

जो पुरुष उस अविनाशी अव्यक्त अर्थात् निराकार, सर्वव्यापी, अनिर्वचनीय, अचिन्तनीय, अचल, सदा एक रस अर्थात् अपने परमानन्द

स्वरूप में रहने वाले, ध्रुव अर्थात् नित्य परमात्मा की उपासना अपने मन एवं इन्द्रियों का संयम करते हुये, समस्त प्राणियों में समान भाव रखते हुये तथा समस्त भूतों के कल्याण में रत रहते हुये, करते हैं, वे मुझे ही अर्थात् भगवान् को प्राप्त होते हैं।

दुर्भाग्य से आज हम इन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को भूलकर केवल देवताओं के नाम संकीर्तन अथवा मूर्तिपूजन को ही उपासना समझ बैठे हैं, जिसका परिणाम है, हमारे धर्म का, हमारे समाज का तथा हमारे व्यक्तिगत जीवन का निरन्तर अधः पतन। जिनके धर्म का प्रमुख अंग है, ''सर्वत्र समबुद्धयः'' होना और '' सर्वभूतहिते रतः'' होना, वे आज अपने ही भाइयों को अछूत कह कर उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें मंदिरों में जाने तक से रोकते हैं और केवल अपने स्वार्थ में ही आकण्ठ डूबे हुये हैं। धर्म की इससे बडी विडम्बना, पाखण्ड अथवा मिथ्याचार और क्या हो सकता है। यदि हम अपना कल्याण चाहते हैं तो हमें उपासना के वास्तविक स्वरुप को समझकर उस पर आचरण करना चाहिये अन्यथा हम अपने अज्ञान तथा अपनी मूर्खता के कारण अपने निर्विवाद रूप से सर्व श्रेष्ठ धर्म को समूल नष्ट कर देंगे।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

गीता,६।२९

(योग युक्तात्मा) योग से युक्त आत्मा अर्थात् समाहित अन्तः करण वाला तथा (समं निर्विशेषं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्र समदर्शनः) समस्त भूतों को समत्व भाव से, समान रूप से देखने वाला योगी, (सर्वभूतस्थम् आत्मानम्) परमात्मा को समस्त भूतों में स्थित (च सर्वभूतानि आत्मनि ईक्षते) तथा समस्त भूतों को परमात्मा में स्थित (ईक्षते) देखता है।

यह स्पष्ट है कि जब तक कोई पुरुष परमात्मा को समस्त भूतों में, और समस्त भूतों को परमात्मा में स्थित नहीं देखेगा तब तक वह समदर्शी एवं योगी नहीं हो सकता।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यंति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिंकित्सति।।

यजुर्वेद,४०।६

जो मनुष्य ज्ञानदृष्टि से समस्त भूतों को परमात्मा में ही स्थित देखता है तथा समस्त भूतों में परमात्मा को देखता है, वह किसी प्रकार के संशय को प्राप्त नहीं होता।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूंद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकं एकुत्वमंनुपश्यंतः।।

यजुर्वेद,४०।७

(यस्मिन्) जिस स्थिति में (विजानतः) ब्रह्म को भली भाँति जानने वाले विशेष ज्ञानी के लिये समस्त भूत (आत्मा एव) परमात्मा ही हो गये, उस स्थिति में (एकत्वं अनुपश्यतः) अपनी ज्ञानदृष्टि से सर्वत्र एकमात्र परमेश्वर का ही दर्शन करने वाले उस पुरुष के लिये, कौन सा मोह, कौन सा शोक, अर्थात् उसे किसी प्रकार का मोह तथा शोक नहीं होता।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

गीता,६।३०

(यः मां) जो मुझे (सर्वत्र, सर्वेषु भूतेषु) समस्त भूतों में (पश्यति) देखता है और (सर्वं च मयि पश्यति) समस्त भूतों को मुझ में अर्थात् परमात्मा में देखता है, (तस्य अहं न प्रणश्यामि) उसके लिये मैं कभी अदृश्य अथवा परोक्ष नहीं होता हूँ, (च सः मे न प्रणश्यति) और न वही मेरे लिये कभी परोक्ष होता है।

वास्तव में ऐसे योगी के लिये ब्रह्म के परोक्ष होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। वह तो ब्रह्म के परम पद को इस प्रकार स्पष्ट रूप से देखने में सक्षम होता है, जैसे कि सामान्य पुरुष द्युलोक में प्रकाशित सूर्य को देखता है।

तद्विष्णोः परमं पदᳯं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।।

ऋग्वेद,१।२२।२० यजुर्वेद,६।५
सामवेद उत्तरार्चिक,१८।२।४ क्र. सं.१६७२) अथर्व वेद,७।२६।७

(सूरयः) स्तुति करने वाले ज्ञानी भक्त (विष्णोः) व्यापक प्रभु के (परमं पदम्) अत्यन्त श्रेष्ठ पद को, उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को (दिवि आततम्) द्युलोक में अपने तेज तथा प्रकाश से सर्वत्र व्याप्त (चक्षुः इव) सूर्य के समान (सदा पश्यन्ति) सदा देखते हैं। अथवा,

(दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आततम् चक्षुः इव) जैसे नेत्र की दृष्टि व्याप्त हो जाती है अर्थात् नेत्र को स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है उसी प्रकार ज्ञानी जन विष्णु के परम पद को स्पष्ट रूप से देखते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपासना में अहंकार शून्यता तथा समर्पण का भाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके लिये पूर्ण रूप से भगवान् के शरणागत होना तथा उसके आदेशों का प्रसन्नता एवं तत्परता से पालन करना अनिवार्य है। सच्चा भक्त न तो कभी भगवान् के नियमों को तोड़ने का प्रयास करेगा और न अहंकार पूर्वक कोई कार्य करेगा। भगवान् की आज्ञा पालन करने में तत्पर होने के कारण उसे कभी दुःख, निराशा तथा भय का अनुभव नहीं होगा। जीवन में जब भी ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, वह स्वयं अपना भला बुरा समझने की स्थिति में नहीं रहता तब उसे भक्ति भाव से भगवान् की ही शरण में जाना चाहिये, यही सर्वश्रेष्ठ नियम है। इसीलिये संशय तथा दुविधा में पड़े हुये अर्जुन से भगवान श्री कृष्ण ने अन्त में यही कहा कि वह भगवान् की शरण में चला जाय, तभी उसका कल्याण होगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।

गीता,१८।६१

हे अर्जुन! ईश्वर समस्त प्राणियों को यन्त्र पर आरूढ़ (चढ़े हुये) के समान अपनी माया से घुमाता हुआ समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

गीता,१८।६२

हे भारत! सर्वभाव से अर्थात् सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जाओ। उसकी कृपा से परम शान्ति तथा शाश्वत स्थान अर्थात् सनातन परम धाम को प्राप्त होगे। भगवान् में इस प्रकार की श्रद्धा, आस्था तथा दृढ़ विश्वास उपासना का अभिन्न अंग है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।

गीता,२।६६

(अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति) अयुक्त अर्थात् चंचल तथा असमाहित चित्त एवं रागद्वेष आदि से मलिन अन्तःकरण वाले पुरुष में स्थिर एवं श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती, (न च अयुक्तस्य भावना) और न ही इन्द्रियों के वशीभूत पुरुष में आस्तिकता, श्रद्धा एवं भक्ति की भावना होती है। (न च अभावयतः शान्तिः) भक्ति भाव से रहित पुरुष को शान्ति प्राप्त नहीं होती और (अशान्तस्य कुतः सुखम्) अशान्त को सुख कहाँ?

'न चाभावयतः शान्तिः' यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्रद्धा एवं भावना का उपासना में सर्वाधिक महत्व है। श्रद्धा से ही सत्य को प्राप्त किया जाता है। **श्रद्धया सत्यमाप्यते।** यजुर्वेद १९।३०।

पुरुष के चरित्र एवं जीवन का निर्माण अन्तःकरण की भावना, श्रद्धा एवं विश्वास से ही होता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। गीता,२।६७

भोगों के अपने अपने विषयों में प्रवृत्त हुयी इन्द्रियों का अनुसरण करने वाला मन, उस पुरुष की प्रज्ञा अर्थात् आत्म अनात्म, आस्तिकता नास्तिकता, कार्य अकार्य में विवेक करने वाली बुद्धि का उसी प्रकार हरण कर लेता है जिस प्रकार तीव्र वायु जल में चलने वाली नौका का हरण कर लेती है, उसे उसके मार्ग से हटा कर इधर उधर ले जाती है।

सत्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।

गीता,१७।३

(भारत! सर्वस्य श्रद्धा सत्वानुरुपा भवति) हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरुप होती है। (अयं पुरुषः श्रद्धामयः) यह पुरुष श्रद्धामय है। (यः यत् श्रद्धः सः एव सः) जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।

जीवन के इस शाश्वत सत्य का उल्लेख करते हुये तुलसी दास जी ने कहा है–

जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन्ह तैसी।।

इसमें सन्देह नहीं कि केवल संयतेन्द्रिय एवं श्रद्धावान् पुरुष ही शान्ति एवं सुख प्राप्त कर सकता है, भोग, वासनाओं में लिप्त एवं कामनाओं तथा एषणाओं की वीथियों में भ्रमित व्यक्ति नहीं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

गीता,४।३९

(तत्परः) भगवान् के प्रति समर्पित हुआ (संयतेन्द्रियः श्रद्धावान् ज्ञानं लभते) जितेन्द्रिय श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है तथा (ज्ञानं लब्ध्वा) ज्ञान को प्राप्त करके (अचिरेण परां शान्तिं अधिगच्छति) शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति रुपी परम शान्ति को प्राप्त करता है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार कर्म एवं ज्ञान

का समुच्चय आवश्यक है, उसी प्रकार ज्ञान एवं उपासना अथवा भक्ति का समुच्चय भी आवश्यक है। मस्तिष्क एवं हृदय अलग अलग दिशाओं में कार्य करने वाले नहीं होने चाहिये अन्यथा मनुष्य को सफलता प्राप्त नहीं हो सकेगी। इस सम्बन्ध में निम्नाङ्कित मन्त्रों में अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षा दी गयी है।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः।।

अथर्व वेद,१०।२।२६

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं संसीव्य) अथर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपने शिर और हृदय को आपस में सीकर अर्थात् जोड़कर (पवमानः शीर्षतः अधि मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत्) प्राण को शिर के नीचे किन्तु मस्तिष्क के ऊपरी भाग के बीच में प्रेरित करता है।

जब योगाभ्यास द्वारा विभिन्न चक्रों में से होता हुआ, प्राण मस्तिष्क के ऊपर स्थित सहस्रार चक्र में ले जाया जाता है तब वहाँ आत्मा को ब्रह्म का दर्शन होता है। इस स्थान को ब्रह्मलोक भी कह सकते है। यह स्थान मस्तिष्क से ऊपर है, जो यह इंगित करता है कि तर्क वितर्क से भगवान् प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिये ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तीनों की आवश्यकता होती है।

हृदय तथा मस्तिष्क को सीने का तात्पर्य उन्हें एक ही दिशा में, एक ही लक्ष्य की ओर चलाना है। उनमें परस्पर कोई संघर्ष, प्रतिकूलता अथवा विपर्यय नहीं होना चाहिये। मस्तिष्क का कार्य तर्क वितर्क करके ज्ञान प्राप्त करना है, जब कि हृदय का कार्य है श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वास का संवर्धन। केवल तर्क बढ़ने से नास्तिकता का जन्म होता है और केवल भक्ति बढ़ने से अन्धविश्वास का। यो दोनों ही घातक हैं। अतः मस्तिष्क एवं हृदय का ऐसा समन्वय होना चाहिये कि आस्तिकता, श्रद्धा सत्य एवं ज्ञान प्राप्त हो सके, नास्तिकता, अन्धविश्वास एवं अज्ञान नहीं।

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः।।

अथर्ववेद,१०।२।२७

(तद् वा अथर्वणः शिरः समुब्जितः देवकोशः) निश्चय ही अथर्वा अर्थात् स्थिर चित्त योगी का वह शिर देवों का सुरक्षित कोश है, (तत् शिरः प्राणः अन्नं अथो मनः अभिरक्षति) उस शिर की प्राण, अन्न तथा मन भली प्रकार से रक्षा करते हैं।

इसलिये इस शिर रूपी दिव्य कोष को और अधिक बलवान तथा सक्षम बनाने के लिये प्राणायाम, सात्विक एवं पौष्टिक अन्न तथा शान्त एवं संयत मन की आवश्यकता होती है। शिर में स्थित मस्तिष्क निश्चय ही शरीर का अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग है जिससे शरीर की सारी क्रियायें संचालित होती हैं और जिसके आधार पर ही मनुष्य असीम प्रगति करने के योग्य बनता है। इसलिये इसे देवों का ज्ञानमय, प्रकाशमय कोष, प्रकोष्ठ अथवा भण्डार कहा जाता है। शरीर में कार्य कर रहे समस्त देवों के अंश इस रत्नतुल्य मूल्यवान् सुरक्षित कोश में रखे हैं। तभी तो यह इतना अद्भुत, शक्तिशाली एवं जीवन का सबसे महत्वपूर्ण नियन्त्रक बना हुआ है। दो आंख, दो कान, दो नाक तथा जिह्वा, ये सप्तर्षि, वाणी सहित इस देव प्रकोष्ट में रहते हैं और इसी में प्राण तथा यश रखा हुआ है।

थर्व का अर्थ है गति अथवा चञ्चलता। जब इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की चंचलता समाप्त हो जाती है, तब आत्मशक्ति का विकास होता है। ऐसी स्थिति को प्राप्त योगी को अथर्वा अर्थात् स्थित प्रज्ञ, स्थिर बुद्धि वाला अथवा निश्चल कहते हैं। चंचलता को समाप्त करने तथा शारीरिक एवं मानसिक दोषों को दूर करने के लिये यमों एवं नियमों का पालन, आसन आदि यौगिक क्रियाओं तथा प्राणायाम का विधान महर्षियों द्वारा किया गया है। निरन्तर अभ्यास एवं प्रयास से योगीजन अथर्वा की स्थिति को प्राप्त करते हैं।

वास्तव में यदि मस्तिष्क एवं हृदय आपस में सिले हुये अर्थात् पूर्ण रूप से समन्वित नहीं होंगे, तो जीवन के किसी भी महत्वपूर्ण कार्य में सफलता नहीं मिल सकेगी। परम कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि पुरुष की विचार शक्ति तथा श्रद्धा भक्ति साथ साथ बढ़े।

उपासना का एक अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग है वेद मन्त्रों द्वारा भगवान् की स्तुति, जिसका निर्देश अनेक मन्त्रों में दिया गया है।

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ।।

अथर्ववेद, ६।१।१

(आथर्वण) हे स्थिर चित्त योगी! (देवं सवितारं स्तुहि) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले, उसे प्रेरणा देने वाले परमात्मा की स्तुति करो, (दोषो गाय बृहद् गाय) रात्रि में गान करो, उसका गुण गान करो, कीर्तन करो, भजन करो, बहुत भजन करो, बहुत कीर्तन करो, (द्युमद् धेहि) उस तेजोयुक्त के तेज को अपने अन्दर धारण करो। सविता सूर्य को भी कहते हैं किन्तु यहाँ रात्रि में सविता देव की उपासना की बात कही गयी है। स्पष्ट है कि मन्त्र में सूर्य के जनक तथा प्रकाशक, सूर्य के भी सूर्य परम तेजोमय सविता देव अर्थात् परमात्मा की उपासना का निर्देश दिया गया है, सूर्य की उपासना का नहीं।

यह उल्लेखनीय है कि गायत्री मन्त्र में भी भगवान् के तेज को अपने अन्दर धारण करने की बात कही गयी है– 'भर्गो देवस्य धीमहि'। हमारे जीवन का लक्ष्य ही तेजस्वी बनना अथवा ब्रह्मतेज से परिपूर्ण बनना, होना चाहिये और इसके लिये हमें भगवान् के गुणों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयास करना चाहिये। वास्तव में यही सच्ची उपासना है। भगवान् के जितने गुण हम अपने अन्दर धारण कर सकेंगे उतने ही तेजस्वी हम बन सकेंगे, उतनी ही उन्नति हम कर सकेंगे।

भगवान् के गुणों के गान एवं कीर्तन का इतना अधिक महत्व है कि

एक अत्यन्त सुन्दर श्लोक में कहा गया है कि जहाँ उनके भक्त गान करते हैं, वहीं भगवान् का निवास होता है।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

पद्म पुराण

हे नारद! मैं न तो वैकुण्ठ में निवास करता हूँ और न ही योगियों के हृदय में। मेरे भक्त जहाँ मेरा संकीर्तन करते हैं, मैं वहीं निवास करता हूँ।

श्रवणान्मननाच्चैव गीतिस्तुत्यर्चनादिभिः।
आराध्यं सदा ब्रह्म पुरुषेण हितैषिणा।।

महाभारत,अनुशासन पर्व अध्याय,१२४

(हितैषिणा पुरुषेण) अपना हित चाहने वाले पुरुष द्वारा (श्रवणात् मननात् च एव गीतिस्तुति अर्चनादिभिः ब्रह्म सदा आराध्यम्) श्रवण, मनन एवं गीति, स्तुति तथा अर्चना द्वारा सदैव ब्रह्म की आराधना की जानी चाहिये।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः।।

अथर्ववेद,११।२।१६

हे परमेश्वर! आपको सायंकाल में नमस्कार है, प्रातःकाल में नमस्कार है, रात्रि में नमस्कार है तथा दिन में नमस्कार है। आपके सर्वोत्पादक एवं सर्व संहारक दोनों प्रकार के स्वरूपों को नमस्कार है।

अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि
सत्यसवꣳ रत्नधाममभि प्रियं मतिं कविम्।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः।

सामवेद, पूर्वार्चिक, ४।८।८, क्रम सं. ४६४
अथर्ववेद, ७।१४।१,२ यजुर्वेद, ४।२५

(ओण्योः सवितारम्) द्युलोक तथा पृथ्वीलोक अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले तथा सबको प्रेरणा देने वाले, (कविक्रतुम्) क्रान्तदर्शी, ज्ञानी तथा ज्ञानपूर्वक श्रेष्ठ कर्म करने वाले (सत्यसवं रत्नधां अभि प्रियम् मतिम्) सत्य ऐश्वर्य से युक्त तथा सत्य के प्रेरक एवं प्रवर्तक, रत्नों तथा रमणीय श्रेष्ठ पदार्थों एवं प्रकाशमान लोकों को धारण करने वाले अत्यन्त प्रिय एवं मननीय (त्यं देवं) उस देव की, उस परब्रह्म की (अभि अर्चामि) मैं भली प्रकार पुनः पुनः अर्चना एवं उपासना करता हूँ, (यस्य अमतिः भाः) जिसका अपरिमिति तेज, जिसकी अलौकिक कान्ति (सवीमनि ऊर्ध्वा अदिद्युतत्) समस्त उत्पन्न सृष्टि में सर्वोपरि प्रकाशित होती है, शोभायमान होती है, (हिरण्यपाणिं सुक्रतुः) जो स्वर्णिम हाथों वाला तथा समस्त कार्यों को उत्तमता से, सुचारु रूप से करने वाला है और जो (कृपात् स्वः अमिमीत) अपनी असीम अनुकम्पा से समस्त प्राणियों के लिये सुख का निर्माण करता है, उनके लिये सुखद परिस्थितियों को उत्पन्न करता है।

इस मन्त्र में प्रयोग किये गये विशेषण अत्यन्त सुन्दर एवं मननीय हैं। उदाहरणार्थ (हिरण्यपाणिः सुक्रतुः) भगवान् के कार्य अत्यन्त श्रेष्ठ हैं तथा परम दक्षता एवं उत्तमता से किये जाते हैं। वह समस्त प्राणियों को सुख, सम्पत्ति तथा सहस्रों अन्य प्रकार के दान सदैव देता रहता है, किसी से कुछ लेता नहीं है। इसीलिये उसे स्वर्णिम हाथों वाला कहा गया है। भगवान् से अधिक श्रेष्ठ एवं कान्तियुक्त हाथ भला किसके हो सकते हैं। हमें भी श्रेष्ठ कर्म करके अपने हाथों को स्वर्णिम बनाना चाहिये।

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत्।।

अथर्व वेद,२०।९२।५ ऋग्वेद,८।६९।८

(प्रिय मेधासः !) यज्ञ एवं सद्बुद्धि से प्रेम करने वाले पुरुष ! तुम सब मिलकर (अर्चत प्रार्चत अर्चत) अर्चना करो, उपासना करो , अच्छी प्रकार नित्य प्रति प्रभूत अर्चना करो, पूजन करो, नमन करो तथा परमेश्वर के गुणों का गान करो। (पुरं न) जितना प्रेम तुम अपने शरीर से अथवा अपने स्त्री के शरीर से करते हो, उतने ही प्रेम से, (धृष्णु अर्चत) पापों का नाश करने वाले उस महान शक्तिशाली परब्रह्म की अर्चना करो।(अर्चन्तु पुत्रकाः उत) तुम्हारे छोटे छोटे पुत्र एवं पौत्र भी उसकी अर्चना करें, उसका पूजन करें।(मेधः यज्ञः) निघण्टु, ३।१७

अथवा (पुरं न धृष्णु) जिस प्रकार शत्रु के अभेद्य दुर्ग को तोड़ने वाले वीर की प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार दुःखों और पापों का नाश करने वाले इन्द्र की, भगवान् की स्तुति करो।

शरीर से प्रेम करने के समान ही ईश्वर से प्रेम करने का भाव गोस्वामी तुलसीदास से उनकी पत्नी रत्नावली द्वारा कहे गये इस प्रसिद्ध दोहे में सुन्दरता से व्यक्त किया गया है–

अस्थिचर्ममय देह यह, या मैं ऐसी प्रीति ।
तैसी जो रघुनाथ सों, तौ न होय भवभीति ।।

वास्तव में अस्थि चर्म से पूर्ण इस शरीर से हम जितना प्रीति रखते हैं, उतनी ही यदि भगवान् से करें तो हमें निः संन्देह भवसागर से, इस जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त हो जाय।गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस भाव को प्रार्थना के रूप में अत्यन्त मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है।

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहुँ मोहि राम ।।

रामचरित मानस, उत्तर काण्ड १३०(ख)

हे रघुनाथ! हे राम! तुम मेरे लिये सदा उसी प्रकार प्रिय बने रहो, जिस प्रकार कामी पुरुष को स्त्री तथा लोभी व्यक्ति को धन प्रिय होता है।

सच्ची उपासना के लिये सुपथ पर चलकर जीवन व्यतीत करना और कुटिलता पूर्ण पापों से दूर रहना परमावश्यक है। दुष्ट प्रवृत्तियों, परपीडन एवं पापाचार में रत तथा अपने ही भाइयों को अस्पृश्य समझने वाले लोगों की भक्ति केवल ढोंग है, पाखण्ड है, धोखा है, वास्तविक उपासना नहीं है, परब्रह्म की आराधना नहीं है। इस सम्बन्ध में पवित्र जीवन के लिये जो अनोखा निर्देश वेदों में दिया गया है, वह अत्यन्त अनुकरणीय है।

अग्ने नयं सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिंष्ठां ते नमं उक्तिं विधेम।। यजुर्वेद,५।३६,७।४३,४०।१६

बृहदारण्यक उपनिषद्,५।१५।१ ऋग्. १।१८९।१

(अग्ने!) हे प्रकाशस्वरूप परब्रह्म! (अस्मान् राये सुपथा नय) हमें धन, ऐश्वर्य तथा सर्वतोमुखी अभ्युदय के लिये अच्छे मार्ग से ले चलिये। हे देव! आप हमारे (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त कर्मों, विचारों तथा मन के भावों को जानने वाले हैं। (अस्मत् जुहुराणम् एन: युयोधि) हमसे कुटिलता पूर्ण पापों को अलग कर दीजिये, (ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम) हम आपको बारम्बार प्रणाम करते हुये आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति तथा उपासना करते हैं।

इस मन्त्र में पाँच अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षायें दी गयी हैं, जिन्हें हमें अपने जीवन का आधार बनना चाहिये।

(१) हमारे जीवन का लक्ष्य रयि अर्थात् धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य एवं

सर्वतोमुखी अभ्युदय प्राप्त करना, होना चाहिये।

(२) किन्तु हमें उस धन एवं ऐश्वर्य को सुपथ पर चलकर प्राप्त करना चाहिये, अन्याय, दुराचार एवं पाप से नहीं।

(३) सुपथ पर चलने के लिये हमें सदैव यह ध्यान रखना चाहिये कि भगवान् हमारे समस्त कर्मों को, यहाँ तक कि मन के भावों को भी जानता है, उससे छिपा कर कुछ भी करना संभव नहीं है।

(४) सुपथ पर चलकर ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम कुटिलता पूर्ण पापों से दूर रहें और सरलता पूर्ण जीवन व्यतीत करें क्योंकि सरलता पुण्य का मूल है तथा कुटिलता पाप का।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।

प्रश्नोपनिषद्,१।१६

यह निर्मल ब्रह्मलोक उन्हीं को प्राप्त होता है, जिनमें कुटिलता, असत्य तथा छलकपट नहीं होता।

(५) इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी संभव है जब भगवान् की हम पर कृपा हो और भगवान् कृपा करके हमें पापों से दूर रखें। अत: हमें सदैव पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति से भगवान् का नमन्, पूजन एवं अर्चन करना चाहिये, उसकी उपासना करनी चाहिये।

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वेद में परमात्मा तथा जीवात्मा का सम्बन्ध पिता पुत्र एवं पूजनीय मित्र का बताया गया है, स्वामी एवं दास का नहीं।

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः।।

सामवेद उत्तरार्चिक,१५।१।२, क्रम सं.१५३६, ऋग्,१।७५।४

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरुप परब्रह्म! (त्वं जनानाम् जामि:) आप सब मनुष्यों के बन्धु एवं (प्रिय: मित्र: असि) प्रिय मित्र हैं तथा (सखिभ्य: ईड्य:

सखा) मित्रों के द्वारा स्तुति किये जाने योग्य सखा हैं।

दासभाव से भक्ति की कल्पना अवैदिक है, इसलिये वैदिक वाङ्मय में दासभाव का कहीं उल्लेख ही नहीं हुआ है। श्रीकृष्ण एवं अर्जुन तथा कृष्ण सुदामा का सम्बन्ध परमात्मा एवं आत्मा की मित्रता का आदर्श सम्बन्ध है, जिसमें श्री कृष्ण अपने मित्र के हित साधन का सभी सम्भव प्रयास करते हैं। अत: प्रत्येक मनुष्य को अपने श्रेष्ठ कर्मों तथा अनन्य भक्ति द्वारा अपने को भगवान् की मित्रता के योग्य बनाना चाहिये जिससे वह इस संसार की समस्त कठिनाइयों से मुक्ति पाकर अन्त में मोक्ष प्राप्त कर सके।

भगवान् को सखा एवं परम बन्धु कहते हुये की गयी यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है।

देवो देवायं गृणते वंयोधा विप्रो विप्रांय स्तुवते सुमेधा:। अजींजनो हि वंरुण स्वधावन्नथं-र्वाणं पितरंदेवबंन्धुम्। तस्मां उ राधं: कृणुहि सुप्रशस्तं सखां नो असि परमं च बन्धुं:।।

अथर्ववेद,५।११।११

हे प्रभो! (गृणते देवाय वयोधा: देव:) स्तुति करने वाले विद्वान् के लिये अन्न तथा वस्त्र आदि देने वाले एक मात्र देव आप ही हैं, (स्तुवते विप्राय सुमेधा: विप्र:) स्तुति करने वाले विप्र के लिये आप ही उत्तम मेधा से युक्त श्रेष्ठ ज्ञानी हैं, अर्थात् आप ही उसे मेधा एवं ज्ञान देते हैं, (स्वधावन् वरुण) अपनी धारणा शक्ति से युक्त अर्थात् जिसे अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है, ऐसे सर्वशक्ति सम्पन्न हे श्रेष्ठ देव! (देवबन्धुम् पितरं अथर्वाणं) देवों के बन्धु अर्थात् श्रेष्ठ सदाचारी विद्वानों की बन्धु के समान सहायता करने वाले, दीन, दुखियों एवं आश्रितों का पालन पोषण करने वाले तथा निर्मल मन एवं संयमित इन्द्रियों से युक्त धीर पुरुष को

(अजीजन:) आपने ही ऐसा बनाया है, (तस्मै उ सुप्रशस्तं राध: कृणुहि) हे प्रभो! आप ऐसे देवबन्धु तथा दीनबन्धु धीर पुरुष के लिये उत्तम, प्रशंसनीय धन दीजिये। (न: सखा असि परमं च बन्धु:) हे प्रभो! आप हमारे मित्र तथा परम बन्धु हैं। विप्र: मेधाविनं (निघण्टु,३।१५) राध: धन नाम। (निघण्टु,२।१०)

तात्पर्य यह है कि भगवान् केवल उसी को धन, बल, अन्न तथा ऐश्वर्य देता है जो श्रेष्ठ सदाचारी विद्वानों की सहायता करने वाला, दीन दुखियों का पालन पोषण करने वाला तथा संयमित मन एवं इन्द्रियों से युक्त धर्मात्मा धीर पुरुष है। दूसरों से घृणा तथा निर्बलों पर अत्याचार करने वाले, असहायों का शोषण करने वाले, अहंकारी एवं दुराचारी व्यक्ति भगवान् की कृपा के पात्र नहीं हो सकते।

सखा भाव से भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर भक्त भगवान् से अभेद स्थापित करने का प्रयास करता है और तब उसकी प्रार्थना होती है कि वह भगवान् बन जाय और भगवान् उसके स्थान पर भक्त के रूप में हो जायँ ताकि दोनों में कोई अन्तर, कोई दूरी न रहे। ऐसी ही स्थिति में राधा कृष्ण से कहती हैं कि मैं कृष्ण बन जाऊँ और आप राधा बन जाइये। यही भाव वेद में अत्यन्त सुन्दर एवं स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया गया है।

यदंग्ने स्यामहं त्वं त्वं वां घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषं:।।

ऋग्वेद,८।४४।२३

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! (यत् अहं त्वं स्याम्) जब मैं तुम हो जाऊँ (वा घा त्वम् अहम् स्या:) और आप मैं हो जाओ, (ते इह आशिष:) तो इस संसार में आपके आशीर्वाद, आपकी मेरे प्रति कृपा, आपका प्रेम (सत्या: स्यु:) सत्य हो जाय।

भगवत्प्राप्ति का कैसा अनोखा वर्णन है यह! भगवान् का सबसे बड़ा आशीर्वाद यही है कि भक्त का भगवान् से मिलन हो, दोनों एक हो

जायँ उनमें कोई अन्तर न रहे। सच्चा भक्त इसके लिये व्याकुल रहता है। भक्त शिरोमणि मीरा बाई कहती थीं 'युगों युगों से बिछुड़ी मीरा, दर्शन को अकुलाय।' यह व्याकुलता ही मीरा को, जो कृष्ण को अपने पति, अपने सखा तथा अपने ठाकुर के रूप में देखतीं थीं, अन्त में उनसे मिलाती है। दिव्य मिलन की यह स्थिति ही अद्वैत की चरम स्थिति है, परमानन्द की स्थिति है। सखाभाव से मिलन की इस सर्वोत्कृष्ट स्थिति में भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्त की सभी इच्छायें पूर्ण करने के लिये विवश हो जाते हैं और भक्त एक मित्र की तरह उनसे अपनी सभी बातें मनवा लेता है। यह कोई कपोल कल्पना नहीं है बल्कि स्वयं वेद का कथन है–

तथा तदस्तु सोमपाःसखे वज्रिन् तथा कृणु।
यथा त उष्मसीष्टये ॥

ऋग्वेद,१।३०।१२

(सोमपाः सखे वज्रिन) हे सोम पान करने वाले वज्रधारी मित्र! (तथा तदस्तु) वैसा ही हो, वही हो, (तथा कृणु) और आप वैसा ही करें (यथा त) जैसा हम आपसे (इष्टये उश्मसि) अपने इष्ट की, अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिये, निवेदन करें, प्रार्थना करें।

भगवान् के दिव्य आनन्द की धारा हर समय, हर स्थान पर प्रवाहित होती रहती है, आवश्यकता है उसे ग्रहण करने की क्षमता की। जिस प्रकार आकाश में प्रवाहित होने वाली रेडियो अथवा टेलीविज़न की तरंगे हम तभी प्राप्त कर पाते हैं और रेडियो तथा टेलीविज़न के कार्यक्रम तभी सुन या देख पाते हैं जब हमारे पास उपयुक्त क्षमता वाला वाँछित तरंगों को प्राप्त कर सकने वाला रेडियो अथवा टेलीविज़न सेट उपलब्ध हो और हम उसे ट्यून करने का प्रयास करें। इसी प्रकार भगवान् के इस दिव्य आनन्द को हम अपने अन्दर तभी ग्रहण कर सकते हैं जब इसके लिये हमारे अन्दर शारीरिक एवं मानसिक क्षमता हो तथा हम उसे ग्रहण करने का प्रयास करें। श्रद्धा, विश्वास एवं भक्तिपूर्वक की गयी उपासना

द्वारा हम इस क्षमता का विकास कर सकते हैं और भगवान् के अलौकिक आनन्द को अपने अन्तःकरण में, अपने हृदय में ग्रहण कर सकते हैं। उपासना, यज्ञ, जप एवं तप का यही प्रमुख महत्व है।

द्रप्सश्चंस्कन्द पृथिवीमनुद्यामिमं च योनि-
मनु यश्च पूर्वः। समानं योनिमनुं सञ्चरंन्तं द्रप्सं
जुंहोम्यनुं सप्त होत्राः।। यजुर्वेद,१३।५

ऋग्वेद, १०।१७।११, (पाठभेद) अथर्ववेद, १८।४।२८

(योनिम् अनु) अपने कारण के अनुरूप अर्थात् परमात्मा की अनन्त महिमा के अनुरूप (यः च पूर्वः) जो सब प्रकार से पूर्ण (द्रप्सः पृथिवीं द्यां इमं च) हर्ष, उत्साह तथा जीवन रस, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में सर्वत्र (चस्कन्द) उपलब्ध होता है, उस (समानं योनिम् अनुसंचरन्तम्) प्रत्येक स्थान पर समान रुप से अनुसंचरण करते हुये, फैले हुये (द्रप्सं) पूर्ण आनन्द को मैं (सप्त होत्राः) पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन एवं बुद्धि अथवा पाँच प्राण, मन एवं आत्मा की सहायता से (अनु जुहोमि) अनुकूलता से ग्रहण करता हूँ।

उपासना हेतु स्थान एवं आसन

श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा गीता में ध्यान के लिये स्थान एवं आसन आदि के विषय में निम्न प्रकार निर्देश दिये गये हैं। गीता में योगियों के लिये ध्यान करने का विधान निम्न प्रकार दिया गया है–

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।

गीता,६।१०

(यतचित्तात्मा) जिसका चित्त अर्थात् अन्तः करण तथा शरीर इन्द्रियों सहित जीता हुआ है, ऐसा ध्यान करने वाला योगी (ततम्) सर्वदा (रहसि स्थितः) एकान्त स्थान में स्थित होकर, (निराशीः) वासना एवं

तृष्णारहित तथा (अपरिग्रहः) सांसारिक वस्तुओं का संग्रह न करने वाला होकर, (एकाकी) अकेला बिना किसी को साथ लिये हुये (आत्मानम् युञ्जीत) अपनी आत्मा को ब्रह्म के साथ संयुक्त करे।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने, गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्,२।१०

ध्यान का स्थान समतल तथा पवित्र हो, बालू, कंकड़ तथा अग्नि से रहित हो, शान्त हो तथा वहाँ कोलाहल न हो, जलाशय अर्थात् पनघट आदि अथवा जनसाधारण के आने जाने और ठहरने का स्थान न हो। यह स्थान मनोनुकूल अर्थात् मनोरम हो और यहाँ नेत्र को कष्ट देने वाला तीव्र प्रकाश अथवा अन्य कोई अप्रिय दृश्य न हो और वेगवान वायु के झोंके न हों। अथवा किसी शान्त गुहा मै बैठकर चित्त को भली प्रकार परमात्मा में लगाये।

उपह्वरे गिंरीणां संङ्गमे चं नदीनांम् ।
धिया विप्रो अजायत।।

यजुर्वेद,२६।१५ ऋग्वेद,८।६।२८

पर्वतों के समीपस्थ स्थानों तथा नदियों के संगम स्थलों पर स्वाध्याय, मनन तथा धारणा, ध्यान आदि करने से मनुष्य उत्तम बुद्धि से युक्त होकर ज्ञान प्राप्त करता है।

आसन एवं प्रक्रिया

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।

गीता,६।११

शुद्ध स्थान में अपने आसन जो न अति ऊँचा और न अति नीचा हो, तथा जिस पर क्रम से वस्त्र, मृगछाला तथा कुशा बिछाये गये हों, को

स्थापित करके उस पर स्थिर होकर बैठना चाहिये। (शंकराचार्य जी ने लिखा है कि इसका क्रम उल्टा समझना चाहिये, अर्थात् पहले कुशा फिर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाना चाहिये)

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।

गीता,६।१२

ऐसे शुद्ध स्थान में उक्त प्रकार के आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके (यतचित्तेन्द्रियक्रियः) तथा चित्त एवं इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके, संयत करके (आत्मविशुद्धये) अपने अन्तः करण की शुद्धि के लिये (योगं युञ्ज्यात्) योग की साधना करे।

स्थिर सुखमासनम्। योगदर्शन,साधनपाद,४६

जिस प्रकार बैठने से शरीर सुखपूर्वक स्थिर हो सके, उसको आसन कहते हैं। पद्मासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, सिद्धासन तथा सुखासन आदि अनेक प्रकार के आसन हैं। इनमें पद्मासन का विशेष महत्व है। इसमें दाहिने पैर को बायीं जंघा पर तथा बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखा जाता है और शिर, ग्रीवा तथा रीढ़ की हड्डी को एक सीध में रखा जाता है । इस आसन में प्राणायाम तथा ध्यान करना लाभदायक होता है।

आसन के विषय में यहा दो विशेष बातें कही गयीं हैं—स्थिरता और सुख। स्थिरता का अभिप्राय है – उपासना के समय शरीर के किसी भाग का चंचल न होना तथा सुख से अभिप्राय है, आसन से किसी प्रकार का कष्ट न होना। इसके लिये आवश्यक है प्रयत्न शैथिल्य अर्थात् शारीरिक चेष्टाओं को रोकना तथा अनन्त समापत्ति अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में मन को लगाना। इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करने से आसन की सिद्धि हो जाती है और तब बहुत समय तक आसन में सुख पूर्वक बैठा जा सकता है।आसन के सिद्ध हो जाने पर शीत-उष्ण,सुख-

दुःख तथा भूख-प्यास आदि द्वन्द्व पीड़ित नहीं करते।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

गीता,६।१३

शरीर अर्थात् रीढ़ की हड्डी, शिर और गर्दन को (समं) एक सीध में रखते हुये अचल एवं स्थिर होकर तथा अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर अर्थात् उसमें धारणा करके, (दिशः च अनवलोकयन्) नेत्रों से इधर उधर दिशाओं को न देखता हुआ बैठे। श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है कि यहाँ नासिका के अग्रभाग को देखने का विधान करना अभिमत नहीं है। केवल नेत्रों की दृष्टि को विषयों की ओरसे रोककर नासिका के अग्रभाग की ओर स्थापन करना ही इष्ट है क्योंकि यदि नासिका के अग्रभाग को देखने का विधान माना जाय, तो फिर मन वहीं स्थित होगा, आत्मा में नहीं।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्, स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।

श्वेताश्वतर उपनिषद,२।८

विद्वान् को चाहिये कि (त्रिरुन्नतम्) शिर, गर्दन तथा मेरुदण्ड इन तीनों को सीधे ऊँचा उठाये हुये (शरीरम् समम् स्थाप्य) तथा शरीर को सीधा स्थिर करके (इन्द्रियाणि मनसा हृदि संनिवेश्य) समस्त इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में केन्द्रित करके (ब्रह्मोडुपेन) ओंकार रूपी नौका द्वारा (सर्वाणि भयवहानि स्रोतांसि प्रतरेत) समस्त भय उत्पन्न करने वाले स्रोतों के प्रवाहों को अर्थात् भवसागर को पार करे।

प्राणायाम

मन को संयमित करने तथा शरीर को शुद्ध करने के लिये प्राणायाम का विशेष महत्व है क्योंकि मन तथा समस्त इन्द्रियाँ प्राण के अधीन हैं। अत: प्राण के नियन्त्रण से सभी का नियन्त्रण होता है।

अथर्व वेद के प्राणसूक्त में कहा गया है–

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूत: सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

अथर्ववेद, ११।४।१

प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में यह सब कुछ है, जो समस्त भूतों अर्थात् स्थावर जङ्गम जगत् का ईश्वर है तथा जिसमें यह सब प्रतिष्ठित है।

प्राण ही परमात्मा की प्रमुख जीवनी शक्ति है। शरीर के सभी अङ्ग प्राण से ही जीवित रहते हैं। अत: प्राण को अङ्गों का रस कहा जाता है।

प्राणो वा अङ्गानां रस:– बृहदारण्यक उपनिषद्, १।३।१९

निश्चित रूप से प्राण अङ्गों का रस है।

परिभाषा

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम: ।

योग दर्शन, साधनपाद: ,४९

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास तथा प्रश्वास दोनों की गति का विच्छेद अथवा रोकना प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है–प्राण+आयाम=प्राण का विस्तार, प्राण की पुष्टि। प्राणायाम से शरीर को निरोगिता तथा निर्मलता प्राप्त होती है और मन एवं इन्द्रियों का संयम होता है तथा स्वर में माधुर्य एवं शरीर में हलकापन आ जाता है, साथ ही बुद्धि तीव्र एवं सूक्ष्म हो जाती है।

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ।।

मनुस्मृति,६।७०

ब्राह्मण द्वारा व्याहृतियों एवं ओंकार के साथ विधिवत् तीन प्राणायाम भी किया जाना, परम तप समझना चाहिये ।

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।

मनुस्मृति ६।७१

जिस प्रकार अग्नि में तपाने से (स्वर्णादि) धातुओं का मैल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्राण के निग्रह अर्थात् प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ।।

मनुस्मृति ६।७२

प्राणायम द्वारा दोषों कों दग्ध करे तथा धारणा अर्थात् परमात्मा में मन एवं चित्त लगाकर पापों का नाश करे, प्रत्याहार द्वारा लोभ मोह क्रोध आदि को दूर करे तथा भगवान् का ध्यान करके अनीश्वरवाद तथा नास्तिकता को दूर करे ।

प्राणायाम का फल बताते हुये योग दर्शन में कहा गया है–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । योग दर्शन, साधनपादः, ५२

प्राणायाम का अभ्यास करने पर आत्मा के ज्ञान को ढँकने वाला अज्ञान का आवरण उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है तथा ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है ।

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।

व्यास भाष्य।

प्राणायाम से बढ़कर कोई अन्य तप नहीं है, इससे मन एवं इन्द्रियों के मलों की निवृत्ति होती है तथा चित्त की निर्मलता के साथ ज्ञान की दीप्ति प्राप्त होती है।

योग दर्शन में प्राणायाम का दूसरा फल बताया गया है।

धारणासु च योग्यता मनसः। योग दर्शन, साधनपादः, ५३

प्राणायाम के अभ्यास से धारणा करने में मन की योग्यता हो जाती है अर्थात् मन की चञ्चलता समाप्त हो जाती है और मन इस योग्य हो जाता है कि उसे धारणा द्वारा परमात्मा में स्थिर किया जा सके, परमात्मा के साथ संयुक्त किया जा सके। मन की इस योग्यता का कारण है, इन्द्रियों तथा मन का वश में होना।

योग दर्शन (विभूति पाद, १) के अनुसार चित्त को नाभिचक्र, हृदय पुण्डरीक, मूर्धा ज्योति अर्थात् नेत्र, नासिका के अग्रभाग अथवा जिह्वा के अग्रभाग आदि शारीरिक प्रदेशों, अर्थात् स्थानों में अथवा बाह्य विषय में वृत्तिमात्र से बाँध देना, स्थिर कर देना धारणा कहलाता है। यहाँ बाह्य विषय से तात्पर्य परमात्मा अथवा ओंकार से है।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः

क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत्।

दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं

विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥

श्वेताश्वतर उपनिषद, २।९

संयत हो गयी हैं चेष्टायें जिसकी ऐसा योगी प्राणों का निरोध करने के उपरान्त, प्राणशक्ति अर्थात् प्राण धारण की शक्ति क्षीण हो जाने पर प्राण को नासिकारन्ध्र से बाहर निकाल दे। इस प्रकार वह विद्वान् पुरुष दुष्ट अश्वों से युक्त रथ के सारथि के समान आलस्य छोड़कर सावधानी से मन का नियन्त्रण करे।

प्राणायाम की सफलता के लिये मन, वाणी तथा इन्द्रियों पर

संयम रखना चाहिये और साधक को अपने स्वभाव में प्रेम, उदारता, करुणा, सहनशीलता तथा क्षमा आदि के श्रेष्ठ गुणों का समावेश करना चाहिये और असत्य, क्रूरता, छल, कपट, काम क्रोध एवं लोभ का यथाशक्ति परित्याग करना चाहिये। उसे धीरे धीरे तमोगुण तथा रजोगुण से ऊपर उठकर सतो गुण का अपने जीवन में समावेश करना चाहिये।

संक्षेप में इन गुणों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ।।

मनुस्मृति १२।३८

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का लक्षण अर्थ संग्रह तथा सत्वगुण का लक्षण धर्म है। ये उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं अर्थात् तमोगुण से रजोगुण तथा रजोगुण से सत्वगुण श्रेष्ठ है।

आसन एवं प्राणायाम से श्वास, फेफड़ों तथा उदर से सम्बन्धित अनेक बीमारियाँ आसानी से ठीक की जा सकती हैं। वास्तव में योग एक महत्वपूर्ण चिकित्सा पद्धति भी है जिसे आज समस्त संसार स्वीकार कर रहा है।

प्राणायाम से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये उसे कुछ आसनों के पश्चात् नियमित रूप से किया जाना चाहिये तथा प्रयास पूर्वक वीर्य की रक्षा की जानी चाहिये। किसी भी साधना की सफलता के लिये सदाचार एवं धर्मानुसार आचरण की अत्यन्त आवश्यकता है।

हमारे आदि पुरुष भगवान् मनु द्वारा धर्म के लक्षण निम्न प्रकार बताये गये हैं –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं ।।

मनुस्मृति ६।९२

धैर्य, दृढ़ता, क्षमा, मन का संयम, चोरी न करना, शरीर मन एवं

बुद्धि की पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, सद्बुद्धि, विद्या, सत्य तथा अकारण क्रोध न करना, ये धर्म के दश लक्षण हैं।

इन लक्षणों के अनुरूप आचरण करना धर्म है, किसी प्रकार का दिखावा अथवा ढोंग धर्म नहीं है। योग दर्शन साधनपाद–२९ के अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यह योग के आठ अङ्ग हैं। यह अष्टाङ्ग योग साधक को परम आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर ले जाता है। प्राणायाम इसमें चतुर्थ क्रम पर आता है।

एक ही प्राण शरीर के अन्दर अपने को पाँच प्रमुख भागों में विभक्त करके शरीर में भिन्न भिन्न कार्य करता है। प्राण के ये पाँच प्रमुख भेद हैं–प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान।

प्राण अपान तथा व्यान –

प्राणो मूर्धनि च श्वासो वर्तमानो विचेष्टते।
बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं च समाश्रित: ।।
वहन् मूत्रं पुरीषं च सदापान: प्रवर्तते।
अथ प्रवृत्तिर्देहेषु कर्मापानस्य सम्मतम् ।।

महाभारत, अध्याय १४५

प्राण मूर्धा में स्थित होकर श्वास के रूप में चेष्टा करता है। बस्ति के मूलभाग, गुदा तथा अग्नि के आश्रित होकर अपान वायु सदा मल, मूत्र का वहन करता हुआ अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। देहों में प्रवृत्ति अपान वायु का कार्य माना गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् १।३।३ में कहा है–

यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपान: । अथ य: प्राणापानयो: सन्धि: स व्यानो यो व्यान: स वाक्।

मुख या नासिका के द्वारा जो वायु बाहर निकाला जाता है वह प्राण है और जो वायु भीतर की ओर खींचा जाता है वह अपान है। प्राण और अपान की जो सन्धि है, वह व्यान है। जो व्यान है वही वाक् है।

इसीलिये पुरुष प्राण और अपान की क्रिया न करते हुये ही वाणी बोलता है। इसी क्रम में आगे कहा है कि और भी जो वीर्य युक्त कर्म हैं जैसे अग्नि का मन्थन, किसी सीमा तक दौड़ना तथा सुदृढ़ धनुष को खींचना आदि इन्हें भी पुरुष व्यान से ही अर्थात् प्राण और अपान की क्रिया न करते हुये ही करता है। यही तथ्य निम्नाङ्कित श्लोक में दिया गया है–

संधौ संधौ च निर्विष्ट: सर्वचेष्टा प्रवर्तक: ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ।।

महाभारत अध्याय, १४५

जो वायु मनुष्यों के शरीरों की एक एक सन्धि में व्याप्त होकर समस्त चेष्टाओं की प्रवर्तक होती है, उसे व्यान कहते हैं।

उदान– उदीरयन् सर्वधातून् अत: ऊर्ध्वं प्रवर्तते ।
उदान इति तं विदुरध्यात्मकुशला जना: ।।

महाभारत अध्याय, १४५

समस्त धातुओं को ऊपर उठाता हुआ, ऊर्ध्व की ओर प्रवृत्त होने वाले वायु को अध्यात्म के विद्वान् उदान के रूप में जानते हैं।

समान–

धातुष्वग्नौ च वितत: समानोऽग्नि: समीरण: ।
स एव सर्वचेष्टानामन्तकाले निवर्तक: ।।

महाभारत अध्याय, १४५

जो धातुओं और अग्नि में भी व्याप्त है, वह समान वायु अग्नि के समान है। वही अन्तकाल में समस्त चेष्टाओं का निवर्तक होता है।

	नाम	स्थान	कार्य
१.	प्राण	शिर तथा ज्ञानेन्द्रियाँ	यह चक्षु, श्रोत्र, मुख तथा नासिका में स्थित रहकर इनके कार्य सम्पादित करवाता है।

२.	अपान	गुदा तथा उपस्थेन्द्रियाँ	मल, मूत्र एवं वीर्य विसर्जन इसके प्रमुख कार्य हैं। यह श्वास के साथ भीतर आता है तथा इसका कार्यक्षेत्र नाभि से नीचे होता है।
३.	व्यान	समस्त शरीर में	यह समस्त शरीर में रक्त संचार का नियमन करता है और प्रत्येकअंग को जीवित रखता है।
४.	उदान	कण्ठ	सुषुप्ति के समय यह आत्मा को परमात्मा के पास ले जाता है। मृत्यु के समय यह आत्मा के साथ जाता है तथा कर्मों के अनुसार जीवात्मा को प्राप्य लोक में ले जाता है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

प्रश्नोपनिषद्,३।७

इनमें से एक नाड़ी से उदान ऊपर की ओर चलता है। वह जीवात्मा को पुण्य कर्मों से पुण्य लोक को, पाप कर्मों से पाप लोक अथवा पापयोनि को तथा दोनों प्रकार के कर्मों के प्रभाव से मनुष्य लोक अथवा मनुष्य योनि को ले जाता है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाःपुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।

प्रश्नोपनिषद्,३।९

प्रसिद्ध तेज ही उदान है। अतएव जिसका तेज शान्त हो जाता है

(जिसकी मृत्यु हो जाती है) उसका जीवात्मा (मनसि) मन में (सम्पद्यमानै: इन्द्रियै:) विलीन हुयी इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्त: सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।

प्रश्नोपनिषद्, ३।१०

यह जीवात्मा जिस प्रकार के चित्तवाला, जिस संकल्पवाला होता है उस चित्त के साथ प्राण में स्थित हो जाता है। प्राण, तेज अर्थात् उदान से युक्त होकर अपने साथ मन तथा इन्द्रियों से युक्त जीवात्मा को कर्मों के अनुसार संकल्पित लोक अथवा योनि में ले जाता है।

५.	समान	नाभि तथा हृदय के बीच का स्थान।	यह पाचन क्रिया का संचालन करता है और भोजन से प्राप्त रस एवं शक्ति को समस्त शरीर के लिये समान रूप से उपलब्ध कराता है।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो, व्यानोऽन्वाहार्यपचनो, यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते, प्रणयनादाहवनीय: प्राण:।

प्रश्नोपनिषद्,४।३

इस शरीर रूपी पुरी में प्राणरूपी अग्नियाँ ही जागती रहती हैं। यह प्रसिद्ध अपान ही गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्य पचन नामक दक्षिणाग्नि है। गार्हपत्य अग्नि से उठाकर जो लाया जाता है, वह प्राण ही उस प्रणयन के कारण आहवनीय अग्नि है।

यदुच्छ्वासनि:श्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समान:। मनो ह वाव यजमान: इष्टफलमेवोदान: स एनं

यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ।

प्रश्नोपनिषद्,४।४

यह उच्छ्वास (अन्दर ली जाने वाली श्वास) और निःश्वास (बाहर निकाली जाने वाली श्वास) ये आहुतियाँ हैं। इन आहुतियों को जो समभाव से ले जाता है, वह समान है । मन ही यजमान है, उदान ही इष्ट फल है, वह इस यजमान को प्रतिदिन (सुषुप्ति में) ब्रह्म के पास ले जाता है । इस प्रकार इस जीवन यज्ञ में—

प्राण— आहवनीय अग्नि

व्यान— अन्वाहार्य पचन अथवा दक्षिणाग्नि है ।

अपान— गार्हपत्य अग्नि है । उच्छ्वास और निःश्वास इस यज्ञ की आहुतियाँ हैं तथा मन ही इस यज्ञ को करने वाला यजमान है ।

समान— इन आहुतियों को समान रुप से ले जाता है ।

उदान— यह यज्ञ का इष्टफल है । यह सुषुप्ति में आत्मा को ब्रह्म के पास ले जाता है ।

शिर में स्थित सातज्ञानेन्द्रियाँ, दो आँख, दो कान, दो नासिका रन्ध्र तथा जिह्वा एवं वाणी का स्थान मुख, ये सप्त ऋषि तथा सप्त होता कहलाते हैं । इनमें संचार करने वाले प्राणों को सप्तर्चिषः अर्थात् सात दीप्तियाँ अथवा ज्वालायें कहा जाता है । उपरोक्त सात ज्ञानेन्द्रियों को सप्तर्षि भी कहा जाता है ।

आत्मन एष प्राणो जायते । प्रश्नोपनिषद्,३।३

यह प्राण परमात्मा से उत्पन्न होता है किन्तु शरीर में प्राणों का नियमन आत्मा द्वारा होता है ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।

कठोपनिषद्,२।२।३

जो प्राण को ऊपर की ओर उठाता है तथा अपान को नीचे की ओर

भेजता है, हृदय के मध्य में स्थित उस पूजनीय आत्मा की समस्त देव अथवा इन्द्रियाँ उपासना करती हैं, सेवा करती हैं।

प्रमुख नाड़ियाँ–

रीढ़ की हड्डी के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है, जिसे ब्रह्म नाड़ी भी कहते हैं। यह शिर में स्थित ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है तथा सबसे महत्वपूर्ण नाड़ी है। इसके बायीं ओर इड़ा तथा दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी हैं। इड़ा बायें नथुने से तथा पिंगला दाहिने नथुने से सम्बन्धित है। इड़ा का सम्बन्ध चन्द्रमा से और पिंगला का सूर्य से है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है 'असौ वा आदित्य: पिंगल:' यह आदित्य ही पिंगला है। साधना में इन नाड़ियों का बहुत महत्व है। इनके अतिरिक्त हृदय में १०१ नाड़ियाँ हैं और फिर उनमें से प्रत्येक शाखा की बहत्तर बहत्तर हज़ार प्रतिशाखायें हैं जो समस्त शरीर में फैली हैं। व्यान इन सब नाड़ियों तथा शाखाओं, प्रतिशाखाओं में निरन्तर संचरण करके सभी अंगो को जीवित रखता है।

प्राणायाम के लिये सामान्य नियम-

ब्रह्मचर्य का यथाशक्ति पालन विशेष लाभदायक होता है। प्राणायाम के लिये शान्त स्थान, स्थिर आसन, शुद्ध वायु एवं शान्त चित्त की अत्यन्त आवश्यकता होती है। दुग्ध, दधि, घृत, फल, खिचड़ी अथवा खीर आदि सात्विक एवं ताज़ा भोजन विशेष लाभदायक होता है। इसके विपरीत बहुत अधिक खट्टा, मिर्च वाला, मसालेदार चटपटा, तला हुआ एवं बासी भोजन हानिकारक होता है। मांस, लहसुन, प्याज आदि तामसिक भोजन तथा मदिरा आदि नशीले पदार्थ साधक के लिये सर्वथा त्याज्य हैं। प्राणायाम से पूर्व शौच जाकर पेट को निर्मल कर देना चाहिये। क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी प्राणायाम नहीं करना चाहिये।

अधिक उपवास करके अपने शरीर को दुर्बल बनाना प्राणायाम के लिये उचित नहीं है किन्तु मिताहार आवश्यक है। पेट के चार भाग मान कर उसके केवल दो भाग भोजन से भरना चाहिये, एक भाग जल से भरा

जाना चाहिये तथा शेष चोथाई भाग वायु के लिये रिक्त छोड़ देना चाहिये।

योगदर्शन के अनुसार प्राणायाम के चार भेद होते हैं।

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

योगदर्शन,साधनपाद,५०

बाह्य, आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति नामक प्रथम तीन प्राणायाम देश, काल तथा संख्या की दृष्टि से दीर्घ अथवा सूक्ष्म होते हैं।

बाह्य—जिस प्राणायाम में प्रश्वास के साथ कोष्ठ्यवायु को बाहर निकालकर बाहर ही रोका जाता है, उसे 'बाह्य प्राणायाम' कहते हैं।

आभ्यन्तर—जिस प्राणायाम में श्वास के साथ बाह्य वायु को भीतर लेकर प्राण वायु को भीतर रोका जाता है, उसे 'आभ्यन्तर प्राणायाम' कहते हैं।

स्तम्भ-वृत्ति— तीसरा प्राणायाम स्तम्भ-वृत्ति है, जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों की गतियों को रोका जाता है। गति का यह अभाव एक ही साथ प्रयत्न से करना होता है। जैसे तपे हुये पत्थर पर डाला गया जल सब ओर से संकुचित होता जाता है, वैसे ही स्तम्भवृत्ति प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास गतियों का एक साथ अभाव हो जाता है।

देशपरिदृष्ट— जिसमें प्राण का विस्तार कम हो, वह सूक्ष्म तथा जिसमें यह विस्तार अधिक हो वह दीर्घ प्राणायाम कहा जाता है। इसी प्रकार जिसमें कम मात्रा में वायु बाहर निकाली जाय अथवा अन्दर भरी जाय वह सूक्ष्म और जिसमे अधिक वायु बाहर निकाली जाय या अन्दर भरी जाय वह दीर्घ कहा जाता है। श्वास को अन्दर लेने में नासिका के अग्रभाग से लगभग सिर से पैर तक की दूरी की वायु अन्दर भरी जाती है और बाहर निकालने पर नासिका से लगभग १२ से १६ अंगुल दूर तक वायु बाहर जाती है। नासिका के पास हथेली लगाकर इसे आसानी से देखा जा सकता है। नासिका के अग्रभाग से वायु की यह दूरी ही सूक्ष्म अथवा दीर्घ प्राणायाम का मापदण्ड होती है।

काल परिदृष्ट

कम समय तक किया जाने वाला प्राणायाम सूक्ष्म और अधिक समय तक किया जाने वाला प्राणायाम दीर्घ कहा जाता है।

संख्या परिदृष्ट

कम संख्या में अर्थात् केवल तीन चार बार किया गया प्राणायाम सूक्ष्म और अधिक संख्या अर्थात् बहुत बार किया गया प्राणायाम दीर्घ कहा जाता है।

उक्त तीन प्रकार के प्राणायामों का विवरण आगे दिया जायेगा।

नाड़ी शोधन

प्राणायाम से पूर्व नाड़ी शोधन की क्रिया निम्न प्रकार करनी चाहिये। इड़ा नाड़ी (बायें नथुने) से बाह्य वायु को शनैः शनैः पूरा भीतर खीचें, तत्पश्चात् पिंगला नाड़ी (दाहिने नासा रन्ध्र) से वायु को धीरे धीरे बाहर निकाल दें। इसके पश्चात् दाहिने नासिका रन्ध्र से वायु को पूरा भीतर लेकर बायें नासा रन्ध्र से बाहर निकाल दें। इस प्रक्रिया को कम से कम सात बार करें।

१. <u>प्रथम प्राणायाम</u> (बाह्य प्राणायाम)–

जिस प्राणायाम में प्रश्वास अर्थात् भीतर की वायु को वेग पूर्वक वमन की भाँति बाहर निकाल कर बाहर ही रोका जाता है, उसे बाह्य प्राणायाम कहते हैं। पद्मासन के लिये दाहिना पैर बायीं जंघा पर और बायां पैर दाहिनी जंघा पर रखें तथा हथेलियों को ऊपर की ओर रखते हुये दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। पद्मासन पर स्थिर बैठकर, जिह्वा को उलट कर तालू में लगा लें और फिर श्वास को बल पूर्वक बाहर निकाल कर बाहर ही रोक दें। श्वास को बाहर निकालते समय मूलेन्द्रिय अर्थात् गुदा को ऊपर खींच कर रखना चाहिये। इस प्रक्रिया को मूलबन्ध कहते हैं। इससे अपान ऊपर की ओर उठकर अग्नि तथा प्राण से मिलता है। प्राणवायु को बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहते हैं। अधिक से अधिक जितनी देर तक श्वास को बाहर सुगमता से रोका जा सके उतना

रोकना चाहिये और निरन्तर ओ३म् का मानसिक जप करना चाहिये। श्वास को बाहर रोकने की प्रक्रिया को बाह्य कुम्भक कहते हैं। प्राणवायु को बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहते हैं।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

योग दर्शन,समाधिपाद:३४

(प्रच्छर्दन) उदरस्थ वायु का नासिका के दोनों छिद्रों से वेग से बाहर निकालना तथा (विधारण) बाह्य वायु को प्रयत्न पूर्वक भीतर ले जाकर धारण करना, प्राण की इन दो क्रियाओं से मन की स्थिरता सिद्ध करे।

स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है "जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फेंक के बाहर ही यथाशक्ति रोक दे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच के वायु को बाहर फेंक दे। जब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर खींचे रखे तब तक प्राण बाहर रहता है।"

प्रथम प्राणायाम की धारणा क्रमश: सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड अर्थात् मूर्धा में, फिर भ्रकुटियों के मध्य में और अन्त में नासिकाग्र में की जाती है। इस क्रिया को किसी अच्छे योगी अथवा साधक से सीख लेना चहिये ताकि प्रथम प्राणायाम सिद्ध हो सके। प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर साधक धारणा के उक्त स्थानों पर अपने प्राण को ठहरा सकता है क्योंकि प्राण उसके वश में हो जाता है।

उक्त जिन स्थानों पर धारणा के द्वारा चित्त को ठहराया जाता है, केन्द्रित किया जाता है, उन्हें देश कहते हैं।

अभ्यास द्वारा प्राण वायु को बाहर रोकने के समय में शनै: शनै: वृद्धि की जानी चाहिये। प्रणव के जप की संख्या से काल का अनुमान किया जा सकता है। प्राण को अपनी क्षमता के अनुसार यथासम्भव अधिक से अधिक समय तक बाहर रोकने के पश्चात् फिर उसे भीतर हृदय देश में लाये। कम से कम तीन बार इस क्रिया को दुहराये।

जिह्वा को उलटकर तालू में लगाने से प्राण सीधा ऊपर को ब्रह्मरन्ध्र अथवा मूर्धा में जाता है और नासिका से बाहर निकल जाता है। साथ ही इससे धारणा के स्थान में ध्यान को ठहराने में सुगमता होती है।

जब नासिकाग्र में धारणा करके प्रथम प्राणायाम किया जाता है, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच कर रखने से प्राण अधिक देर तक बाहर ठहर सकता है। यही अभिप्राय इस क्रिया का है। किसी अन्य प्राणायाम में जिह्वा को उलट कर तालू में लगाने तथा मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच कर रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राणायाम के समय ईश्वर के प्रति भक्तिभाव से समर्पण करके प्रणव के जप के साथ अपने मन एवं बुद्धि को पूर्ण रुप से भगवान् के साथ संयुक्त कर देना चाहिये और अन्य कोई विषय मन में न आने देना चाहिये। ओ३म् का तीव्र गति से जप करने से मन को स्थिर करने में सहायता प्राप्त होती है तथा प्रणव के जप की संख्या से प्राणायाम के समय का अनुमान सुगमता से किया जा सकता है।

<u>द्वितीय प्राणायाम</u> (आभ्यन्तर प्राणायाम)

जिस प्राणायाम में श्वास को बाहर से भीतर लेकर भीतर ही रोका जाता है उसे आभ्यन्तर प्राणायाम कहते हैं। अपान वायु को शनैः शनैः बलपूर्वक बाहर से भीतर लाकर नाभि तथा कण्ठ के मध्यवर्ती भाग में अधिक से अधिक दूरी तक अन्दर ले जाकर उसे वहीं रोक दे। श्वास को अन्दर लेने की क्रिया को पूरक तथा उसे अन्दर ही रोकने की क्रिया को कुम्भक कहते हैं। जब प्राण और अधिक समय तक भीतर न रुक सके, तब उसे शनैः शनैः बाहर निकाल दे। इस क्रिया को रेचक कहते हैं। इस प्रकार द्वितीय प्राणायाम में पूरक, कुम्भक तथा रेचक तीनों क्रियायें होती हैं। वास्तव में अधिकांश साधकों द्वारा यह द्वितीय प्राणायाम ही किया जाता है।

अभ्यास द्वारा धीरे धीरे कुम्भक की अवधि में वृद्धि की जाती है तथा कुम्भक के समय निरन्तर ओ३म् का जप किया जाता है। इसे कुम्भक

इसलिये कहा जाता है क्योंकि शरीर में नाभि से लेकर कण्ठ तक का भाग, जिसमें वायु को अन्दर भरा जाता है, एक घड़े अर्थात् कुम्भ के आकार का होता है।

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार पूरक तथा रेचक करते समय नथुनों को अंगूठे से नहीं दबाना चाहिये। संभवत: इसका तात्पर्य यह है कि दोनों नथुनों से श्वास को भीतर लेकर और बाहर निकाल कर पूरक तथा रेचक की क्रियायें की जानी चाहिये।

द्वितीय प्राणायाम की एक अन्य प्रक्रिया निम्न प्रकार है।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयित्वा यथाशक्ति भूय: सूर्येण रेचयेत्।।
प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनै:।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।।

हठयोग प्रदीपिका, २।७,८

(बायाँ नासिका छिद्र इड़ा अथवा चन्द्र नाड़ी से सम्बन्धित है जब कि दाहिना नासिका छिद्र पिंगला अथवा सूर्य नाड़ी से सम्बन्धित है।) पद्मासन पर बैठकर योगी बायें नथुने से प्राणवायु को भीतर लेकर यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर दाहिने नथुने से धीरे धीरे बाहर निकाले। इसके पश्चात् दाहिने नथुने से शनै: शनै: श्वास भीतर लेकर उदर को भर ले और विधिवत् कुम्भक करने के पश्चात् उसे चन्द्र नाड़ी अर्थात् बायें नथुने से बाहर निकाल दे। इस प्रकार जिस नथुने से प्राण को एक बार निकाले, उसी से दूसरी बार भीतर ले तथा इस प्रक्रिया की इच्छानुसार पुनरावृत्ति करे।

प्राणायाम का वर्णन निम्नांकित श्लोक में भी किया गया है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणा:।।

गीता, ४।२९

कुछ योगीजन अपान में प्राण का हवन करते हैं तथा कुछ अन्य प्राण में अपान का हवन करते हैं। प्राण तथा अपान दोनों की गति को रोककर कुछ योगी प्राणायाम करने वाले हैं।

श्री शङ्कराचार्य जी के अनुसार पूरक करना अपान में प्राण का हवन है तथा रेचक करना प्राण में अपान का हवन है। प्राण तथा अपान दोनों की गतियों को रोकना कुम्भक नामक प्राणायाम है।

सूर्य भेदन प्राणायाम

जिस प्राणायाम में केवल दाहिने नासिका छिद्र (सूर्य नाड़ी) से श्वास अन्दर लिया जाता है और कुम्भक के पश्चात् बायें नासिका छिद्र (चन्द्रनाड़ी) से बाहर निकाला जाता है, उसे सूर्य भेदन प्राणायाम कहते हैं।

इस प्राणायाम से शरीर में ऊष्मा एवं स्फूर्ति उत्पन्न होती है, नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं, पाचन शक्ति बढ़ती है, वात विकार नष्ट होता है, शरीर तेजस्वी बनता है तथा आनन्द की अनुभूति होती है।

पूरक की क्रिया लगभग १५ सेकेण्ड में तथा रेचक की ३० सेकेण्ड में की जानी चाहिये। प्रारम्भ में एक मिनट की अवधि भी कुम्भक के लिये पर्याप्त होती है। अभ्यास के साथ कुम्भक की अवधि में धीरे धीरे वृद्धि की जानी चाहिये और यदि कुम्भक की अवधि बढ़ाकर तीन मिनट कर दी जाय तो एक सामान्य साधक के लिये यह समय पर्याप्त माना जायेगा। प्रारम्भ में पूरक, कुम्भक तथा रेचक का अनुपात १:४:२ का होना चाहिये अर्थात् १५ सेकेण्ड में पूरक, एक मिनट तक कुम्भक तथा ३० सेकेण्ड में रेचक करना चाहिये। इस समय को इस प्रकार सुनियोजित किया जाना चाहिये कि प्राणायाम करने में दम घुटने की अथवा अन्य किसी प्रकार की कठिनायी का अनुभव न हो। श्वास को भीतर लेने अथवा बाहर निकालने की क्रिया धीरे धीरे इस प्रकार की जानी चाहिये कि कोई ध्वनि न हो, केवल भस्त्रिका आदि विशेष प्रकार के प्राणायामों में थोड़ी ध्वनि होती है।

तृतीय प्राणायाम (स्तम्भवृत्ति प्राणायाम)

इसके लिये प्राण को न बाहर निकाले और न बाहर से भीतर लाये बल्कि जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहाँ का तहाँ, ज्यों का त्यों एकदम रोक दे। इसे केवल कुम्भक भी कहते हैं। इसमें पूरक अथवा रेचक नहीं होता बल्कि श्वास की गति को एकाएक प्रयास करके (सकृतप्रयत्नात्) यथा स्थान रोक दिया जाता है। इस प्रकार प्राण तथा अपान दोनों जहाँ के तहाँ रोक दिये जाते हैं।

महर्षि व्यास ने योगदर्शन के अपने भाष्य में लिखा है कि जिस प्रकार तप्त पत्थर पर डाला गया जल सब ओर से संकुचित होता जाता है, उसी प्रकार स्तम्भवृत्ति प्राणायाम में श्वास तथा प्रश्वास दोनों की गतियों का एक साथ अभाव हो जाता है।

इस प्राणायाम को कुम्भक इसलिये कहते हैं कि जैसे कुम्भ अर्थात् घड़े में भरा हुआ जल इधर उधर नहीं जाता, एक स्थान पर निश्चल रहता है, वैसे ही इस प्राणायाम में प्राण उदररूपी कुम्भ में स्थिर रहता है।

सुखपूर्वक जितनी देर तक हो सके उतनी देर तक रोक कर श्वास, प्रश्वास की क्रिया पुनः प्रारम्भ करे तथा इस प्राणायाम का भी कम से कम तीन बार अभ्यास करे।

चतुर्थ प्राणायाम

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। योगदर्शन साधनपाद, ५१

बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायामों के विषय को दूर फेकनें वाला (उनका अतिक्रमण करने वाला) चतुर्थ प्राणायाम होता है। महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में लिखा है कि बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायामों का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर, भूमिजयात् अर्थात् प्राणायाम की अवस्था विशेष पर विजय प्राप्त कर लेने पर, (उभयाक्षेपपूर्वकः) दोनों बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायामों का अतिक्रमण करके श्वास-प्रश्वास की गति का जो अभाव किया जाता है वह चतुर्थ प्राणायाम होता है। इस प्रकार यह प्रथम तीनों प्राणायामों के सिद्ध हो जाने के पश्चात् की उच्च अवस्था है, जिसके

लिये किसी सिद्ध योगी के मार्ग निर्देशन में विशेष प्रयास एवं अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसीलिये इस प्राणायाम के विषय में सही जानकारी अधिकांश लोगों को नहीं है।

स्वामी दयानन्द जी ने इस प्राणायाम के विषय में सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है "जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उसके विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर की ओर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। इस प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे तो दोनों प्राणों की गति रुक कर वे प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन हो जाते है।" ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उन्होंने लिखा है और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर आवे तब उसको भीतर ही थोड़ा थोड़ा रोकता रहे। इसको 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' कहते हैं।

स्वामी दयानन्द जी के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द ने लिखा है कि चतुर्थ प्राणायाम की इस क्रिया को ही प्राणों में प्राणों का हवन करना कहते हैं।

अपरे नियताहारा: प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा:।।

गीता ४।३०

अन्य नियमित आहार करने वाले पुरुष प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं। यज्ञों के द्वारा नष्ट हो गये हैं पाप जिनके, ऐसे ये सभी योगीजन यज्ञविद होते हैं।

श्री लक्ष्मणानन्द के अनुसार गीता के निम्नाङ्कित श्लोकों में इस चतुर्थ प्राणायाम का ही उल्लेख है—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो: ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।

गीता ५।२७,२८

(बाह्यान् स्पर्शान् बहिः एव कृत्वा) इन्द्रियों के बाह्य विषयों को बाहर ही त्यागकर, (चक्षुः च भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा) नेत्रों की दृष्टि को भ्रकुटियों के मध्य त्रिकुटी नामक देश में स्थिर करके (नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौकृत्वा) नासिका के छिद्रों के अन्दर संचार करने वाले प्राण तथा अपान दोनों को समान करके, (यतेन्द्रियमनोबुद्धिः) इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को जीतने वाला (यः मुनिः) जो मननशील योगी (मोक्ष परायणः) मोक्ष के मार्ग में ही तत्पर, (विगतेच्छा भयक्रोधः) इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित होता है, (सः सदा मुक्तः एव) वह सदा मुक्त ही है।

यहाँ प्राण तथा अपान को समान करने का अर्थ है, बाहर निकलने का प्रयास करने वाले प्राण तथा अन्दर आने का प्रयास करने वाले अपान दोनों को समान रूप से रोकना अर्थात् न प्राण को बाहर निकलने देना और न अपान को भीतर आने देना। चतुर्थ प्राणायाम की यही प्रक्रिया ऊपर बतायी गयी है।

उक्त विवरण के अनुसार चतुर्थ प्राणायाम में यह विशेषता होती है कि प्रथम तीनों प्राणायामों को सिद्ध करने के पश्चात् उभयाक्षेपपूर्वकः अर्थात् एक ही समय में प्राण को बाहर निकालने तथा अपान को भीतर लेने की, दोनों परस्पर विरोधी क्रियायें करके प्राण तथा अपान दोनों की गति रोकी जाती है।

यह क्रिया किसी सिद्ध योगी से ही सीखी जा सकती है।

अथर्व वेद में प्राणायाम की उक्त चारों क्रियाओं का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ।।

अथर्ववेद, ११।४।७

अन्दर आने वाले प्राण (पूरक) को प्रणाम, बाहर जाने वाले प्राण (रेचक) को प्रणाम, शरीर में स्थिर प्राण (आभ्यन्तर कुम्भक) को प्रणाम, आसीनाय अर्थात् बैठे हुये प्राण को प्रणाम । आसीनाय का अर्थ या तो बाह्य कुम्भक है, या बाह्याभ्यन्तर–विषयाक्षेपी चतुर्थ प्राणायाम है ।

यहाँ 'आयते प्राण' का तात्पर्य पूरक से है, 'परायते प्राण' का तात्पर्य रेचक से है, 'तिष्ठत प्राण' का तात्पर्य अन्तः कुम्भक से है तथा 'आसीन प्राण' का तात्पर्य, शरीर से बाहर बैठे हुये प्राण अर्थात् बाह्य कुम्भक से है ।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ।।

अथर्ववेद, ११।५।१९

ब्रह्मचर्य तथा तप से देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। इन्द्र ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों के लिये स्वर्ग, सुख तथा तेज उपलब्ध कराता है ।

इन्द्र को भोग विलासी के रूप में चित्रित करने वाले मूर्ख लोग इस मन्त्र को ध्यान पूर्वक पढ़ें ।

ब्रह्मचर्य से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, इस तथ्य को शतपथ ब्राह्मण में निम्न प्रकार कहा गया है ।

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायछत् ।
तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायछत् ।।

शतपथ ब्राह्मण, ११।३।३।१

ब्रह्म ने प्रजाओं को मृत्यु को दे दिया किन्तु ब्रह्मचारी को नहीं दिया ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ।।

अथर्ववेद, ११।५।१७

ब्रह्मचर्य तथा तप से राजा राष्ट्र की विशेष रूप से रक्षा करता है। आचार्य स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये ब्रह्मचारी शिष्य की इच्छा करता है।

स्पष्ट है कि भोगी, विलासी तथा दुराचारी राजा राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई दुराचारी व्यक्ति शिक्षक बनकर शिष्य को ज्ञान नहीं दे सकता।

व्यास जी ने योगदर्शन के भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखा है कि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा वाला सिद्ध योगी ही शिष्यो में ज्ञान धारण कराने में समर्थ होता है। इसीलिये आचार्य को ब्रह्मचारी होना आवश्यक बताया गया है।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ।।

अथर्ववेद, ११।५।२०

ओषधियाँ एवं वनस्पतियाँ, (भूतभव्यमहोरात्रे) भूत, भविष्य, दिन और रात, ऋतुओं सहित संवत्सर (ते ब्रह्मचारिणः जाताः) वे सब ब्रह्मचारी हैं।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त के मन्त्रों से स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य प्रकृति का सामान्य नियम है। न केवल बैल, घोड़ा आदि पशु तथा आकाश में उड़ने वाले पक्षी प्रत्युत ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, भूत, भविष्य, दिन, रात तथा संवत्सर आदि सभी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म के सत्य एवं ध्रुव नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुये अपने कर्तव्यों का पालन करना ब्रह्मचर्य ही है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

ब्रह्मचर्यम् ब्रह्मणे वेदार्थं चर्यन् आचरणीयम् ।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म में विचरण करना, ब्रह्म प्राप्ति के लिये आचरण करना तथा वेदाध्ययन के लिये आचरण करना । ब्रह्म में विचरण करने वाला पुरुष, अपने समस्त कार्य परमानन्दस्वरुप परब्रह्म को समर्पण करके ही करता है । ऐसे पुरुष के लिये सब कुछ ब्रह्मरुप ही हो जाता है, जैसा कि गीता में कहा गया है ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।

गीता, ४।२४

अर्पण अर्थात् स्रुवादिक ब्रह्म हैं, हव्य पदार्थ भी ब्रह्म हैं, ब्रह्मरुप अग्नि में ब्रह्मरुप कर्ता द्वारा किया गया हवन भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरुप कर्म में समाधिस्थ पुरुष का गन्तव्य भी ब्रह्म है ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।

गीता, ५।१०

जो पुरुष समस्त कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके तथा आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमल का पत्ता जल में रहते हुये भी जल से लिप्त नहीं होता । ब्रह्म प्राप्ति के लिये आचरण करने वाले पुरुष के विषय में निम्नाङ्कित श्लोक मननीय है–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।

गीता, २।७१

जो पुरुष समस्त कामनाओं को त्याग कर मोह, ममता, अहंकार एवं स्पृहा रहित होकर आचरण करता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है ।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।

गीता,२।७२

हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त कर पुरुष मोहित नहीं होता और अन्तकाल में भी इसमें स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महा यज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।

मनुस्मृति, २।२८

स्वाध्याय, व्रत अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि यम नियमों का पालन, अग्निहोत्र, वेदों का अध्ययन, दर्श पौर्णमास आदि यज्ञ, उत्तम सन्तान, महायज्ञ अर्थात् ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, बलि वैश्वदेव यज्ञ तथा अतिथियों का सत्कार आदि इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त करने योग्य बना देते हैं।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का एक अन्य अर्थ भी है। ब्रह्म का अर्थ है महान् । अतः ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ महानता के लिये आचरण करना, महान बनने के लिये प्रयास करना अपने वीर्य तथा ओज को नष्ट न करके प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ना । इस श्रेष्ठ उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक है इन्द्रियों का संयम।

योगदर्शन, साधनपाद ३० के व्यासभाष्य में कहा गया है—

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।

गुप्त इन्द्रिय उपस्थ अर्थात् जननेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य है।

वीर्य रक्षण ब्रह्मचर्य का सर्वप्रथम एवं सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, इसीलिये कहा जाता है, वीर्य रक्षणं ब्रह्मचर्यम् वीर्य की रक्षा ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य का महत्व

अग्निमूलं बलं पुंसां रेतोमूलं च जीवनम् ।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन वह्निं शुक्रं च रक्षयेत् ।।

मनुष्य के बल का मूल शरीर की अग्नि है और जीवन का मूल वीर्य है । अत: सब प्रकार से प्रयत्न करके अग्नि एवं शुक्र अर्थात् वीर्य की रक्षा करनी चाहिये ।

ब्रह्मचर्यं परं शौचं ब्रह्मचर्यं परं तप: ।
केवलं ब्रह्मचर्येण प्राप्यते परमं पदम् ।।

महाभारत, अध्याय, १४५

ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम पवित्रता है, ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम तप है,केवल ब्रह्मचर्य से ही परम पद की प्राप्ति होती है ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्त:शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोष: ।।

मुण्डकोपनिषद् ३।१।५

हृदय में स्थित ज्योतिर्मय परम विशुद्ध परमात्मा, जिसे केवल पापरहित यत्नशील साधक ही देख पाते हैं, नि:सन्देह सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान एवं ब्रह्मचर्य से प्राप्त होने वाला है ।

स्पष्ट है कि ब्रह्मप्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य परमावश्यक है ।

ब्रह्मचारी का वर्णन करते हुये वेद में कहा गया है–

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारुढं चरति रोचमानम् ।

अथर्ववेद,११।५।२३

यह देवताओं का दिव्य शक्तियों का श्रेष्ठ सार रुप अपराजेय तेज

चलता है।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिंन् देवा अधि विश्वें समोताः । प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदंयं ब्रह्मं मेधाम् ।।

अथर्ववेद, ११।५।२४

(ब्रह्मचारी भ्राजत् ब्रह्म बिभर्ति) ब्रह्मचारी देदीप्यमान वेद को धारण करता है। (तस्मिन् विश्वे देवाः अधि समोताः) उस ब्रह्मचारी में समस्त देव ओत प्रोत होकर निवास करते हैं। वह ब्रह्मचारी अपने प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन तथा हृदय पर नियन्त्रण रखता है और तदनन्तर (ब्रह्ममेधाम् जनयन्) ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली पवित्र धारणावती बुद्धि को उत्पन्न करता है, प्राप्त करता है।

तैत्तिरीय आरण्यक २।१५ में कहा गया है—

यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविद ब्राह्मणे निवसन्ति ।

जितने देव हैं वे सब वेदवेत्ता ब्राह्मण में निवास करते हैं।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा अर्थात् उसकी पूर्ण स्थिति होने का लाभ बताते हुये कहा गया है।

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योग दर्शन साधनपाद, ३८

व्यास भाष्य में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर योगी में अप्रतिघ अर्थात् न दबाये जा सकने वाले अपराजेय गुणों की वृद्धि होती है और ऐसा सिद्ध योगी शिष्यों में ज्ञान धारण कराने में समर्थ हो जाता है।

स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (उपासना प्रकरण) में लिखा है कि ब्रह्मचारी में दो प्रकार का वीर्य अथवा बल बढ़ता है— एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का।

प्राचीन समय में ब्रह्मचर्य द्वारा हमारे पूर्वजों ने अपूर्व शक्ति प्राप्त की थी जिनमें हनुमान एवं भीष्म पितामह आदि महान् योद्धा हुये जिनके

यश: शरीर आज भी विद्यमान हैं।

गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यव्रतफलं लभेद् दारव्रती सदा।
शौचमायुस्तथाऽऽरोग्यं लभ्यते ब्रह्मचारिभि:।।

महाभारत, अध्याय,१४५

जो सदा एक पत्नीव्रती रहता है, वह ब्रह्मचर्य व्रत के फल के रूप में पवित्रता, आयु एवं आरोग्यता प्राप्त करता है।

होमकाले यथा वह्नि: कालमेव प्रतीक्षते।
ऋतुकाले तथा नारी ऋतुमेव प्रतीक्षते।।
नान्यदा गच्छते यस्तु ब्रह्मचर्य च तत स्मृतम्।

महाभारत, अध्याय,१६२

होमकाल में जिस प्रकार अग्नि होम की प्रतीक्षा करती है, उसी प्रकार ऋतुकाल में ही स्त्री ऋतु की प्रतीक्षा करती है। ऋतु काल के अलावा पत्नी के पास न जाना ब्रह्मचर्य ही कहा जाता है।

शरीरमेकं दम्पत्योर्विधात्रा पूर्वनिर्मितम्।
तस्मात् स्वदारनिरतो ब्रह्मचारी विधीयते।।

महाभारत, अध्याय,१४१

विधाता ने पूर्वकाल में पति पत्नी का एक ही शरीर बनाया था, अत: अपनी ही पत्नी में अनुरक्त रहने वाला पुरुष ब्रह्मचारी माना जाता है।

मानव जीवन

जीव अपने पूर्व कर्मानुसार चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करता हुआ इस दुर्लभ मानव योनि में आकर अपने कर्मों के फलों का भोग करता है। चराचर जगत में दो प्रकार की योनियाँ हैं। १.भोग योनि २.कर्मयोनि। मनुष्य योनि के अतिरिक्त अन्य पशु पक्षी कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि सब भोग योनियाँ हैं। इनमें जीवात्मा केवल पूर्वकृत कर्मों के फल का भोग करता है

किन्तु दूसरी, मानव योनि में मनुष्य पूर्वकृत कर्मफलों का भोग करता हुआ भविष्य के लिये शुभाशुभ कर्म करने का भी अवसर प्राप्त करता है। इसीलिये मानव योनि सब योनियों में श्रेष्ठतम मानी गयी है। इस दुर्लभ मानव योनि में आकर जीवन का उद्देश्य शुभ कर्मों के द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करना है किन्तु जो मानव योनि में आकर इन्द्रियों के वशीभूत होकर उनके विषयों में आसक्त रहते हुये उनको संतुष्ट करने में ही लगा रहता है, वह परमात्मा द्वारा प्रदत्त मानव शरीर रूपी अमृत का पान न करके उसे व्यर्थ में ही नष्ट कर देता है।

जाती शतेषु लभते भुविमानुषत्वं,
तत्रापि दुर्लभतरं खलु भो द्विजत्वम्।
यस्तन्न पालयति लालयतीन्द्रियाणि,
तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्।।

गरुड़ पुराण,६।४०

संसार में सैकड़ों जातियों में मनुष्य जाति प्राप्त करना ही कठिन है और मनुष्यों में द्विजत्व प्राप्त करना तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। जो मनुष्य द्विजत्व के अनुरूप श्रेष्ठ आचरण नहीं करता और इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषयों में ही आसक्त रहता है, उसका परमात्मा द्वारा प्रदत्त द्विजत्व रूपी अमृत उसके प्रमाद के कारण उसके हाथ से गिरकर नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक प्राणी को सुख प्राप्ति की अभिलाषा स्वभाव से ही होती है। अनन्त सुख तो परमात्मा की प्राप्ति में ही है। सफल जीवन के द्वारा सांसारिक सुख एवं परमानन्द की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ तथा सन्यास इन चार आश्रमों का विधान किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक पुरुष के लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थों को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य होता है किन्तु इन्हें बिना आरोग्यता के प्राप्त नहीं किया जा सकता।

धर्मार्थ काममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्।

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिये आरोग्यता ही उत्तम मूल है।

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।

कुमार सम्भवम्।

निःसन्देह शरीर ही धार्मिक कृत्यों का साधन है।

अतः मनुष्य का पूर्ण स्वस्थ रहना अत्यन्त आवश्यक है। आरोग्यता के बिना जीवन में कभी भी सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता और आरोग्यता के लिये ब्रह्मचर्य आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के बिना स्वास्थ्य रक्षा सर्वथा असंभव है। यदि कहा जाय कि 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसीलिये शास्त्रों में चारों आश्रमों में प्रत्येक व्यक्ति के लिये ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचर्य को जीवन रूपी भवन की मुख्य आधार शिला कहा गया है, इसके बिना जीवन रूपी भवन की दीवार बालू पर ही आधारित रहेगी और किंचित्मात्र आघात से ही धराशायी हो जायेगी।

जीवनस्य त्रय उपस्तम्भाइत्याहारः स्वप्नोब्रह्मचर्यमिति एभिः स्त्रिभिर्युक्तैरूपस्तब्धमुपंस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात् संस्कारमहितमुनपसेवमानस्य य इहै वोपदेक्ष्यते।

चरक सूत्र,११।३५

आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य जीवन के तीन उपस्तम्भ हैं। इन तीनों उपस्तम्भों के ऊपर ही शरीर आश्रित है। अहितकर संस्कार का सेवन न करने वाले पुरुष द्वारा युक्ति पूर्वक भोगे हुये इन तीनों उपस्तम्भों पर टिका हुआ शरीर जितनी आयु हो तब तक बल, वर्ण एवं पुष्टि के साथ स्थिर रहता है।

इनमें यदि एक भी स्तम्भ कमज़ोर होगा तो जीवन रूपी भवन कभी भी टिकाऊ नहीं रह सकेगा। इनमें यहाँ ब्रह्मचर्य पर विचार किया जायेगा।

वीर्य क्या है, वह कैसे बनता है, कितने दिन में बनता है, उससे शरीर में क्या परिवर्तन होते हैं,इसके विषय में आयुर्वेद के विद्वानों नें विशेष रुप से प्रकाश डाला है।

एते सप्त स्वयं स्थित्वा देहंदधतियन्मृणाम।
रसासृकमांसमेदोस्थिमज्जा शुक्राणिधातव:।।
रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेद: प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज: शुक्रं तु जायते।।

सुश्रुत सूत्र,१४।१०

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सातु धातुयें शरीर में स्वयं स्थिर होकर शरीर को धारण करती हैं। इसीलिये इनको धातु कहते हैं। भोजन किया हुआ पदार्थ पाचन यन्त्रों द्वारा पकाया जाता है। उससे प्रथम रस बनता है, रस के बाद रक्त, उसके बाद मांस, तदनन्तर मेद, उसके बाद अस्थि, फिर मज्जा और अन्त में शुक्र बनता है। शुक्र से ही ओज बनता है।

ओज

तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेज: तत् खलु ओजस्तदेवबलमित्युच्यते।

सुश्रुत सूत्र,१५।१९

रसादि शुक्र पर्यन्त सप्तधातुओं का जो परम तेज है, वही ओज कहा जाता है, वही बल है।

ओज: सर्व शरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टि करं मतम्।।
ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्।।

यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टि पुष्टि बलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्।।
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साह प्रतिभा धैर्य लावण्य सुकुमारता।।

अष्टाङ्ग हृदय सूत्र, ११।३७,३८

ओज सर्व शरीर में व्याप्त है। यह स्निग्ध, शीत, स्थिर, सित, सोम, गुण विशिष्ट, शरीर की बल पुष्टि करने वाला रसादि सात धातुओं का वह परम तेज है, जो हृदयस्थ होता हुआ भी शरीर में व्यापक होकर देह की स्थिति को रखता है, जिसकी वृद्धि से ही शरीर की वृद्धि, तुष्टि, पुष्टि होती है, जिसके नाश से शरीर का नाश होता है, जिसके उपस्थित रहने पर ही जीवन रहता है, जिसके द्वारा शरीर में विभिन्न क्रियायें सम्पन्न होती हैं एवं विविध प्रकार के भाव तथा प्रतिभा, धैर्य, लावण्य, सुकुमारता आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

एक मास से कुछ अधिक समय रस से शुक्र बनने में लग जाता है। एक धातु से परिपाक होकर दूसरी धातु बनने में करीब पाँच दिन का समय लगता है। प्रत्येक धातु के सार भाग से दूसरी धातु बनती है और जो मल भाग बचता है, वही मल, मूत्र, स्वेद कण, कर्णादिमल, नेत्र का मल आदि बनकर शरीर से बाहर निकलता रहता है। इस प्रकार सप्तम धातु शुक्र बनने के बाद फिर उसमें कोई भी मल नहीं निकलता।

यदि प्रति दिन करीब एक सेर खाद्य एवं पेय पदार्थ का सेवन किया जाय तो उससे उपरोक्त समय में करीब एक डेढ़ तोला शुक्र (वीर्य) बनकर तैयार होगा। एक तोला वीर्य बनने के लिये लगभग चालीस तोला रक्त की आवश्यकता होती है। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वीर्य कितना अमूल्य एवं श्रेष्ठ तथा अनुपम पदार्थ है, जिसका दुरुपयोग अर्थात् अनावश्यक रूप से अपव्यय करना कितना हानिकारक है। एक दिन के स्त्री सहवास से करीब एक तोला वीर्य निकल जाता है, जो कि करीब बीस

दिन का संचित कोष होगा। इतना संचित कोष अनावश्यक रूप से नष्ट होने पर मनुष्य वीर्य की दृष्टि से सर्वथा अकिंचन ही हो जायेगा। शुक्र के विषय में कहा है–

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भबीजं वपुः सारो जीवनाश्रय उत्तमः।।

भावप्रकाश, उत्तम खण्ड, २।२३७

शुक्र, सौम्य, सित अर्थात् श्वेत वर्ण, स्निग्ध, बल एवं पुष्टि कारक गर्भ का बीज, शरीर का सार तथा जीवन का उत्तम आश्रय है।

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ यथा रसः।
एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्।।
कृत्स्नदेहस्थितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत्संप्रवर्तते।।

भावप्रकाश, २४०, २४२

दुग्ध में घृत तथा गन्ने में रस की भाँति वीर्य सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है।

समस्त शरीर में व्याप्त रहने वाला वीर्य मानसिक प्रसन्नता तथा सम्भोग के समय प्रवृत्त होता है।

जिस प्रकार गन्ने तथा फल आदि का रस निकालने के लिये उन्हें पेरना अथवा कुचलना पड़ता है, उसी प्रकार वीर्य निकलने के समय शरीर के प्रत्येक भाग में क्षोभ उत्पन्न होता है और मन का मन्थन होता है। जैसे घृत निकलने के बाद तथा गन्ने से रस निकलने के बाद दुग्ध निःसार रह जाता है और गन्ने की खोई निःसार रह जाती है उसी प्रकार वीर्य स्राव के बाद शरीर भी सार हीन, तेजो विहीन, ओज रहित हो जाता है, समस्त इन्द्रियाँ शिथिलप्राय हो जाती हैं, तथा मन मलिन एवं उत्साह हीन हो जाता है। इसलिये वीर्य रक्षा कितनी आवश्यक है यह सहज ही समझा जा

सकता है। कहा गया है—

मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

बिन्दुपात अर्थात् वीर्यपात से मरण एवं बिन्दु धारण अर्थात् वीर्य की रक्षा से जीवन की रक्षा होती है।

न तपस्तप इत्याहुः ब्रह्मचर्य महत्तपः।
ऊर्ध्वरिता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः।।

अन्य कोई तप नहीं है, ब्रह्मचर्य ही महान तप है। जो ऊर्ध्वरेता होता है वह मनुष्य नहीं बल्कि देवता होता है।

जिस पुरुष का वीर्य स्खलित होकर बाहर नहीं निकलता, उसे उर्ध्वरिता कहते हैं क्योंकि उसका रेतस् अर्थात् वीर्य ऊर्ध्व गामी होता है जिससे उसकी बुद्धि, मेधा, ज्ञान आदि समस्त शक्तियों में वृद्धि होती है तथा वह मृत्युञ्जयी बन जाता है अर्थात् मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, मृत्यु भी उसके वश में हो जाती है। भीष्म पितामह की भाँति उसकी मृत्यु उसकी इच्छानुसार ही होती है। भीष्म पितामह तथा हनुमान सदृश महावीर इसके दृष्टान्त हैं।

आज वीर्य नाश से हमारे देश का इतना अधः पतन हुआ है। हमारा सुख, सौभाग्य, आरोग्य, तेज, ओज, बल, बुद्धि, मेधा, सभी ब्रह्मचर्य पर अवलम्बित हैं। वीर्य हमारे जीवन का मुख्य आधार स्तम्भ है। इसकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है। प्रत्येक कार्य में पूर्णता एवं सफलता के लिये ब्रह्मचर्य आवश्यक है। इसके बिना कोई भी कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं किया जा सकता। वीर्य को नष्ट करने वाले व्यक्ति कभी दीर्घायु एवं आरोग्यता प्राप्त नहीं कर सकते। उनकी सहन शक्ति एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता पूर्णरूप से क्षीण हो जाती है तथा किञ्चितमात्र आघात से ही उनकी मृत्यु हो जाती है। वर्तमान समय में हृदयाभिघात (हार्टफेल) एक साधारण सी व्याधि बन गई है। अनुसंधान द्वारा विद्वानों नें यह निश्चय किया है कि इसका कारण अधिकांश में वीर्य नाश ही है।

वीर्य रक्षा से ही शरीर में रोग प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न होती है जो शरीर के आगन्तुक रोगों से संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त करती है, जिससे रोग उत्पन्न नहीं होते। वीर्य नाश होने से वह शक्ति क्षीण हो जाती है, फिर रोगों का सामना कौन करे। इसलिये मनुष्य अकाल में ही काल का ग्रास बन जाता है।

छान्दोग्योपनिषद्,३।१६।१-६ के अनुसार ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है - कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम।

१.कनिष्ठ - २४ अक्षरों की गायत्री होती है अत:,२४ वर्ष तक जितेन्द्रिय रहकर वेदादि शास्त्रों का अध्यनन करने वाले ब्रह्मचारी के प्राण वसुओं के समान होते हैं। (प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति) इस आयु को प्रात: सवन कहते हैं तथा ऐसे ब्रह्मचारी को वसु ब्रह्मचारी कहते हैं।

२. मध्यम- त्रिष्टुप् छन्द चवालिस अक्षरों का होता है। जो मनुष्य चवालिस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है उसके प्राण रुद्र कहलाते हैं। (रुद्रा अन्वायत्ता: प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसर्वꣳरोदयन्ति)। इस आयु को माध्यन्दिन सवन तथा ऐसे ब्रह्मचारी को रुद्र ब्रह्मचारी कहते हैं।

३. उत्तम - जगती छन्द अड़तालिस अक्षरों का होता है। जो मनुष्य अड़तालिस वर्षों तक ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है उसके प्राण आदित्य कहलाते हैं। (प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते)। इस आयु को तृतीय सवन तथा ऐसे ब्रह्मचारी को आदित्य ब्रह्मचारी कहते हैं।

ब्रह्मचर्य ही हमारी सर्वतोमुखी उन्नति का मूल है अत: प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वीर्य की रक्षा के लिये सतत् प्रयत्न करना चाहिये और उसके लिये सदैव सजग एवं सचेष्ट रहना चाहिये। ब्रह्मचर्य का नाश प्रमुख रूप से निम्नाङ्कित आठ प्रकार के मैथुन से होता है।

स्मरणं कीर्तनं केलि: प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।।

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्तिमनीषिण:।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट लक्षणम्।।

(स्मरण) किसी भी प्रकार से स्त्रियों का चिन्तन करना अर्थात् किसी स्त्री को प्रत्यक्ष देखकर अथवा परोक्ष में चित्र देखकर अथवा उस विषय में कहीं पढ़कर या सुनकर उसका स्मरण करना (कीर्तन) किसी स्त्री के गुणों अथवा रुप का वर्णन, स्त्री सम्बन्धी वार्तालाप या तद्विषयक अश्लील साहित्य पढ़ना, तद्विषयक अश्लील गीत या गाना सुनना, (केलि:) स्त्रियों के साथ चौपड़, जुआ, बैडमिन्टन आदि विविध प्रकार के खेल खेलना, (प्रेक्षण) स्त्रियों को कामुक दृष्टि से देखना, (गुह्य भाषण) स्त्रियों से एकान्त में वार्ता करना, (संकल्प) स्त्रियों को प्राप्त करने या उनसे मिलने का संकल्प अर्थात् इच्छा करना, (अध्यवसाय) उनकी प्राप्ति के लिये प्रयास करना (क्रियानिर्वृत्ति) उनसे प्रत्यक्षत: सहवास करना, यह आठ प्रकार का मैथुन विद्वानों द्वारा बताया जाता है। इसके विपरीत आचरण करना आठ लक्षणों वाला ब्रह्मचर्य है।

संकल्पाद् दर्शनाच्चैव तद्युक्तवचनादपि।
संस्पार्शादथ संयोगात् पंचधा रक्षितं व्रतम्।।

महाभारत, अध्याय,१४५

काम विषयक संकल्प से,दर्शन से, कामोत्तेजक वाणी से, स्पर्श से तथा सम्भोग इन पाँच प्रकार के कार्यों से दूर रहकर ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करना आवश्यक है।

मैथुन की उपरोक्त आठ विधियों से मानसिक क्षोभ उत्पन्न होकर समस्त शरीर एवं मन का मन्थन होता है जिससे वीर्यवाहिनी शिराओं में भी क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और वीर्यपात होने लगता है। अत्यधिक कामुकता एवं संभोग से स्वप्न दोष, मूत्र के साथ वीर्यपात आदि बीस प्रकार के प्रमेह उत्पन्न हो जाते हैं और धीरे धीरे शरीर में वीर्यक्षय रूपी घुन लगकर शरीर को जर्जर बना देता है।

इनके अतिरिक्त आज समाज में एक नवीन प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन प्रचलित है जो भीषण रूप से हानिकारक है। इसको हस्त मैथुन, मास्टरवेशन, मुष्टि मैथुन, हस्तक्रिया आदि नामों से जाना जाता है। अप्राकृतिक मैथुन का एक अन्य निकृष्ट रूप शिशु मैथुन (बालक बालिकाओं के साथ दुराचार) है। वर्तमान में इन अप्राकृतिक मैथुनों से बालकों की महती हानि हो रही है। महामारी से भी अधिक भयंकर ये मैथुन बच्चों को अकाल में ही वीर्यहीन, सारहीन तथा ओजहीन बनाकर विनाश के गहरे गर्त में डाल देते हैं जिससे उन्हें जीवन पर्यन्त नपुंसकता तथा नाना प्रकार की अनेक व्याधियाँ घेर लेती हैं और उनका जीवन दुःखमय बन जाता है।

हस्त मैथुन से मूत्रेन्द्रिय की सम्पूर्ण नसें ढीली हो जाती हैं, मूत्रेन्द्रिय पतली तथा टेढ़ी हो जाती है, इन्द्रिय के ऊपर उभरी हुयी नसें दिखाई देने लगती हैं और अन्ततोगत्वा वह व्यक्ति पूर्ण नपुंसक बन जाता है, उसे बार बार स्वप्न दोष होने लगता है, (सोते समय वीर्यपात हो जाने को स्वप्नदोष कहते हैं) शुक्र धारक शक्ति बिल्कुल क्षीण हो जाती है, यहाँ तक की एक एक दिन रात में कई कई बार स्वप्नदोष हो जाता है, साधारणतया किसी स्त्री के दर्शन मात्र एवं संकल्प मात्र से ही वीर्यपात होने लगता है, वीर्य पानी की तरह तरल हो जाता है, उसका कोई विशेष दाग भी वस्त्र पर नहीं पड़ता। ऐसा व्यक्ति स्त्री संभोग के बिल्कुल अयोग्य हो जाता है। शरीर के अन्दर अन्य नाड़ियों के समान एक मनोवहा नाड़ी भी है। इसका सम्बन्ध प्रायः शरीर की सभी नाड़ियों से है। काम का भाव मन में उत्पन्न होने पर सभी नाड़ियों में कम्प एवं क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, फिर समस्त शरीर के मन्थन से वीर्यपात होने लगता है। इसी से समस्त धातु विकार प्रमेह, स्वप्नदोष, मधुमेह, उन्माद, अपस्मार, वातव्याधि, हृदयाभिघात, उच्च रक्तचाप आदि भयानक अचिकित्स्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे मनुष्य का छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है। अत्यधिक वीर्यनाश से मस्तिष्क कमज़ोर हो जाता है तथा स्मृति, मेधा, बुद्धि सभी का

ह्रास हो जाता है, नेत्रों की ज्योति मन्द हो जाती है तथा नाना प्रकार के नेत्र रोग हो जाते हैं। साथ ही समस्त शरीर पीतवर्ण, ढीलाढाला, कान्तिहीन, दुर्बल, अशक्त, असमर्थ तथा अस्वस्थ हो जाता है। कामुकता के भाव की प्रचण्डता से पुरुष के वीर्य एवं उसकी स्नायु शक्ति का ह्रास होता है और अनेक प्रकार की गम्भीर बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हस्त मैथुन का मन एवं मस्तिष्क पर भी अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि वीर्य का मस्तिष्क से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसे घृणित कार्य करने वाले मनुष्य की इच्छा शक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि शतश: प्रतिज्ञायें करने पर भी वह अपनी इच्छानुसार किसी प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं कर पाता। अत: इच्छा करने पर भी वह इन बुरी आदतों को छोड़ नहीं पाता जिसके फल स्वरुप उसका जीवन स्वयं के लिये भी भारस्वरुप बन जाता है, जलवायु का किञ्चित मात्र भी परिवर्तन असहनीय हो जाता है तथा क्षणमात्र में ही सर्दी, जुकाम, खाँसी, हृदयशूल आदि व्याधियाँ होने लगती हैं।

अधिक वीर्य नाश के कुछ प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं—

१. आँखों के नीचे कपोल पर काले काले धब्बे पड़ जाते हैं।

२. आँखें कुछ भीतर की तरफ धँसी हुई तथा कपोल उभरे हुये दिखाई देते हैं एवं

३. वीर्य क्षीण मनुष्य युवावस्था में ही वृद्ध पुरुष की तरह जर्जर, निर्बल, अशक्त एवं उत्साह हीन हो जाता है।

४. बार बार झूठी भूख लगती है अथवा बिल्कुल नहीं लगती। प्रतिदिन मल बद्धता रहती है तथा यकृत भी अपना कार्य सुचारु रुप से नहीं करता। परिणाम स्वरुप रक्ताल्पता तथा पाण्डुता आ जाती है।

५. रात्रि में प्राय: स्वप्न दोष हो जाता है तथा वीर्य तरल होकर मूत्र के साथ सदैव विन्दुश: निकलता रहता है।

६. सोने के पश्चात् उठते समय आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है।

७. स्मृति नष्ट हो जाती है, देखे हुये स्वप्न भी याद नहीं रहते। कविता, श्लोक आदि पढ़ते पढ़ते भूल जाना तथा अनेक प्रकार की मानसिक

दुर्बलतायें उत्पन्न हो जाती हैं।

८. निद्राल्पता हो जाती है, प्रगाढ़ निद्रा तो कभी आती ही नहीं। कुछ निद्रा आने पर दु:स्वप्न दिखाई पड़ते हैं तथा प्रात: उठने पर आलस्य के कारण किसी प्रकार का उत्साह नहीं रहता।

९. सिर के बाल सफेद होने लगते हैं एवं उनका गिरना भी प्रारम्भ हो जाता है।

उपरिलिखित लक्षणों को देखकर माता पिता तथा आचार्य का कर्तव्य हो जाता है कि अपने बच्चों एवं शिष्यों को सुधारने का प्रयत्न अवश्य करें अन्यथा रोग बढ़ने पर उनकी चिकित्सा असंभव हो जाती है और बच्चों के दु:खी जीवन के साथ माता पिता भी दु:खी रहते हैं। उन्हें सदैव ध्यान रखना चाहिये की बच्चों की क्या दशा है और क्यों है। उपरिलिखित लक्षणों के होने पर शीघ्र ही बच्चों को भली प्रकार समझाकर उनके सामने नि:संकोच रूप से विस्तार पूर्वक ब्रह्मचर्य की महत्ता एवं ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाली बातों का वर्णन अवश्य करें। उन्हें बतायें कि वे किस प्रकार कुसंगति के दोष से अपने अमूल्य वीर्य का नाश कर रहें हैं और उससे किस प्रकार बचा जा सकता है। बच्चों को वीर्य रक्षण के नियम, जिनका पालन करना आवश्यक है, बताने में अश्लीलता की कोई बात नहीं है। बच्चों से अज्ञानतावश गलत कार्य हो जाते हैं अत: उन्हें इस विषय का ठीक ठीक ज्ञान कराना आवश्यक है। बच्चों को ऐसी बात का ज्ञान न होना, जिन पर जीवन का समस्त सुख एवं सौभाग्य निर्भर होता है, महान अनर्थकारी है। अत: अपने पुत्र पुत्रियों एवं शिष्यों को ब्रह्मचर्य का पूर्ण ज्ञान करवा देना माता पिता एव आचार्यों का प्रमुख एवं अनिवार्य कर्तव्य है।

यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि यदि हम अपने बच्चों के सामने वीर्य रक्षा के लिये हस्त मैथुन, शिशुमैथुन, आदि बुराइयों का वर्णन करके उनको इन बातों का ज्ञान करा देंगे तो फिर जो बच्चे इन बातों को नहीं जानते वह भी जान जायेंगे और फिर संभवत: इन बुराइयों को अपनाने

लगेंगे। ऐसा सोचना नितान्त भूल है। बच्चे तो उपरोक्त दुर्गुण कहीं न कहीं से अवश्य सीख ही लेंगे, अस्तु यदि आप इन बुराइयों का यथावत वर्णन करके उनको अच्छी प्रकार समझा देंगे और ब्रह्मचर्य की महिमा उनको हृदयंगम करा देंगें तो निश्चय ही आपके बच्चे सदाचारी एवं ब्रह्मचारी बनने के लिये अवश्य चेष्टा करेंगे। कोई भी बच्चा स्वभावत: दुश्चरित्र नहीं होता, कुसंगति से ही ऐसे दोष बच्चों में उत्पन्न होते हैं।

वर्तमान समय का वातावरण अत्यन्त दूषित हो रहा है तथा स्कूल, कालेज एवं विश्वविद्यालय तो इन दुर्गुणों के सिखाने के गढ़ बन रहे हैं। वर्तमान समय की सह-शिक्षा प्रणाली, टीवी, फिल्म्स, अश्लील नृत्य, अश्लील संगीत एवं अश्लील उपन्यास आदि, दुर्गुणों के जन्मदाता हैं। ये सभी ब्रह्मचर्य पर आधारित जीवन को नष्ट करने पर तुले हुये हैं किन्तु यह स्पष्ट है कि जब तक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जायेगा तब तक बीमारियों से छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकेगा चाहे कितने ही चिकित्सालय बनवा लिये जायें, और कितने भी नये नये यन्त्र एवं औषधियों का आविष्कार कर लिया जाय। वास्तव में यौन सम्बन्धी समस्त बीमारियाँ एवं एड्स की भयंकर बीमारी ब्रह्मचर्य का मज़ाक उड़ाने वालों को प्रकृति द्वारा दिया गया कठोर दण्ड है। इसमें सन्देह नहीं की पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आजकल व्यतीत किया जाने वाला जानवरों के समान उन्मुक्त एवं कामुकता पूर्ण अमर्यादित जीवन न केवल व्यक्ति एवं समाज के लिये विनाशकारी है, बल्कि मानवता पर कलंक भी है। इसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का वर्णन करते हुये अध्यात्म रामायण में आजकल के पुरुषों के विषय में कहा गया है **'स्त्रीदेवा: कामकिङ्कराः।'** अर्थात् आज कल के पुरुषों के लिये स्त्रियाँ ही देवता हैं और वह राम के नहीं, काम के दास हैं, काम किङ्कर हैं।

बाल विवाह की अत्यन्त दूषित प्रथा तथा कन्यायों के विवाह में अत्यधिक विलम्ब भी समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक है। इससे दुराचार को अनावश्यक रूप से बढ़ावा मिलता है। युवक २५ वर्ष में

जितना परिवक्व होता है, कन्यायें १६ वर्ष में ही उतनी परिपक्वता प्राप्त कर लेती हैं।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलो भिषक्।।

सुश्रुत,१।६५।१३

अत: १८ से लेकर २४ वर्ष के मध्य कन्यायों का विवाह अवश्य हो जाना चाहिये।

ब्रह्मचर्य के लिये निम्नाङ्कित नियमों का पालन अत्यन्त लाभदायक है।

१. सूर्योदय के पूर्व जागकर शुद्ध वायु में टहलना तथा नियमित रुप से हलका व्यायाम, आसन एवं प्रणायाम करना। योगासनों में पश्चिमोत्तान, पूर्वोत्तान, सर्वाङ्गासन, शवासन, वज्रासन, मत्स्यासन, शीर्षासन, पद्मासन, उर्ध्वपद्मासन, सूर्यनमस्कार, तालासन अथवा ताड़ासन, भुजंगासन, पवनमुक्ति आसन आदि सरल एवं अत्यन्त लाभदायक हैं। इन्हें आसानी से सीखा जा सकता है।

२. सन्तुलित एवं सात्विक आहार करना तथा मादक द्रव्यों एवं तम्बाकू तथा उससे बने हुये सिगार, सिगरेट, बीड़ी आदि का सर्वथा परित्याग करना।

सात्विक एवं तामसिक भोजनों के लक्षण निम्न प्रकार हैं।

आयु: सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना:।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विकप्रिया:।।

गीता,१७।८

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य सुख तथा प्रीति को बढ़ाने वाले रसयुक्त, स्निग्ध, चिकनायी पूर्ण, शरीर को स्थिरता प्रदान करने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय लगने वाले आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।

गीता,१७।९

कडुवे, खट्टे, लवणयुक्त, अत्यन्त गरम, तीक्ष्ण, रूखे, दाहकारक, दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।

गीता,१७।१०

जो भोजन अधपका,रसहीन,दुर्गन्धयुक्त,बासी,जूठा तथा अपवित्र होता है वह तामसी पुरुषों को प्रिय होता है।

अन्न का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जैसा अन्न खाया जाता है, उसी प्रकार का मन हो जाता है।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांऽसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।

छान्दोग्योपनिषद,६।५।१

खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है, जो मध्यभाग होता है, वह मांस हो जाता है तथा जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग होता है, वह मन हो जाता है।

इसीलिये कहा जाता है **'आहार शुद्धो सत्व शुद्धिः'** शुद्ध आहार से ही मन पवित्र होता है। अतः आवश्यक है कि अंडे, मांस, मछली, मदिरा आदि दूषित भोजन किसी भी दशा में न किया जाय।

इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि काम का वेग बिना कठोर संयम के शान्त नहीं होता तथा भोग करने से और अधिक बढ़ता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते।।

मनुस्मति,२।९४

जिस प्रकार अग्नि में हवि अर्थात् घृत आदि डालने से वह और अधिक प्रदीप्त होता है, उसी प्रकार कामनाओं के उपभोग से काम शान्त नहीं होता बल्कि और अधिक बढ़ता है। इसीलिये इन्द्रियों का निग्रह आवश्यक है।

६. ब्रह्मचारी के लिये मनुस्मृति में निम्नाङ्कित शिक्षायें दी गयी है, जिनका पालन करना आवश्यक है।

वर्जयेन्मधुमाँसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।।

मनुस्मति,२।१७७

ब्रह्मचारी को मदिरा, मांस, गन्ध, माला अर्थात् इत्र आदि श्राङ्गारिक वस्तुयें, रस अर्थात् हानिकारक पेय पदार्थ, स्त्री, सब प्रकार की खटाई एवं जीव हिंसा का त्याग कर देना चाहिये।

अभ्यङ्गमंजनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।।

मनुस्मति,२।१७८

अंगो का मर्दन अर्थात् उपस्थेन्द्रिय आदि का अनावश्यक रुप से स्पर्श, आँखो में अंजन लगाना, जूता पहनना, छाता लगाना तथा काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुण, नाचना, गाना, बजाना छोड़ देना चाहिये।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्ष्णालम्भमुपघातं परस्य च।।

मनुस्मृति,२।१७९

जुआ खेलना, (जनवादं) लोगों के विषय में मिथ्या बातें करना,

अनर्गल वार्तालाप करना, परनिन्दा, मिथ्या भाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय तथा दूसरों को हानि अथवा पीड़ा पहुँचाना आदि छोड़ देना चाहिये ।

एक: शयीत सर्वत्र न रेत: स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मन: ।।

मनुस्मृति,२।१८०

सर्वत्र अकेला सोये, कभी वीर्य स्खलित न करे । काम के वेग से वीर्य स्खलित करने से वह अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर देता है ।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्।।

मनुस्मृति,२।८८

जिस प्रकार सारथि अश्वों को नियन्त्रण में रखता है, उसी प्रकार विद्वान् विषयों में विचरण करती हुयी इन्द्रियों का प्रयत्न पूर्वक निग्रह करे।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यऽसंशयं।
संन्नियम्य तु तान्येव तत: सिद्धिं नियच्छति।।

मनुस्मृति,२।९३

इन्द्रियों के वशीभूत रहने पर पुरुष निश्चय ही अनेक प्रकार के दोषों को प्राप्त होता है किन्तु इन्द्रियों को अपने वश में करके वह सिद्धि को प्राप्त करता है ।

गायत्री ब्राह्मण

गायत्री मन्त्र की महिमा, गायत्री शब्द की व्याख्या, गायत्री दीक्षा तथा गायत्री उपासना आदि के सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद् में अत्यन्त अत्यन्त सुन्दर एवं महत्वपूर्ण वर्णन आया है, जिसे गायत्री ब्राह्मण कहा जाता है ।

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरः ह वा एकं

गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ।

बृहदारण्यक उपनिषद्, ५।१४।१

(भूमि: अन्तरिक्षं द्यौ: इति अष्टौ अक्षराणि) भूमि, अन्तरिक्ष तथा द्यौ ये आठ अक्षर हैं। (अष्टाक्षरं ह वै एकं गायत्र्यै पदम्) आठ अक्षर वाला ही गायत्री का एक पद है । (एतद् उ ह एव अस्या: एतत्) नि:सन्देह यह तीनों लोक गायत्री का प्रथम पद हैं। (य: अस्या एवं एतत् पदं वेद) जो इस गायत्री के इस पद को ऐसा जान लेता है, (स यावद् एषु त्रिषु लोकेषु तावद् ह जयति) वह इन तीनों लोकों में जहाँ तक जो कुछ भी है, उस सबको जीत लेता है।

इसी भाव को भरद्वाज गायत्री व्याख्या में निम्न प्रकार कहा गया है—

भूरित्यादित्रिभिर्मन्त्रैर्जप्या गायत्र्यनारतम् ।
तस्य प्रथमपादेन भूर्भुव: स्वर्जगत्त्रयम् ।।

भरद्वाज गायत्री व्याख्या, २९

भू: भुव: स्व: इन तीन व्याहृति रूपी मन्त्रों के सहित गायत्री निरन्तर जपने के योग्य है। इसके प्रथम पाद से, भू: भुव: स्व: द्वारा वर्णित तीनों लोक व्याप्त हैं।

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ।

बृहदारण्यक उपनिषद्, ५।१४।२

(ऋच: यजूंषि सामानि इति अष्टौ अक्षराणि) ऋच: यजूंषि, सामानि ये आठ अक्षर हैं। (अष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्) आठ अक्षरों वाला ही गायत्री का एक (द्वितीय) पद है । (एतद् उ ह एव अस्या एतत्) नि:सन्देह यह ऋक्, यजु, साम इस गायत्री का द्वितीय पद हैं। (य: अस्या एवं एतत् पदं वेद) जो गायत्री के इस द्वितीय पद को इस प्रकार जानता

है, (यावती इयं त्रयी विद्या स तावद् ह जयति) वह जितनी यह त्रयी विद्या है अर्थात् त्रयी विद्या का जितना फल है, उस सभी को जीत लेता है, प्राप्त कर लेता है।

व्याप्तं द्वितीयपादेन वेदानां त्रितयं तथा।
तृतीयेन तु पादेन प्राणं व्यानमपानकम्॥

भरद्वाज गायत्री व्याख्या, ३०

गायत्री के द्वितीय पाद से ऋग्, यजु, साम लक्षण वाले मन्त्रों से युक्त चारों वेद व्याप्त हैं तथा तृतीय पाद से प्राण, अपान एवं व्यान रूप प्राणवायु व्याप्त है।

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरः ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्य एतद्देव तुरीयं दर्शतं पदम् परोरजा य एष तपति यद् वै चतुर्थं तत् तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवः हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद।

बृहदारण्यक उपनिषद्, ५।१४।३

(प्राणः अपानः व्यानः इति अष्टौ अक्षराणि) प्राण, अपान और व्यान ये आठ अक्षर हैं। (अष्टाक्षरं ह वै एकं गायत्र्यै पदम्) आठ अक्षर वाला ही यह गायत्री का एक (तृतीय) पद है। (एतद् उ ह एव अस्या एतत्) यह प्राणादि ही गायत्री का तृतीय पद है। (यः अस्या एतत् पदं एवं वेद) जो गायत्री के इस पद को इस प्रकार जानता है, (यावद् इदं प्राणि सः तावद् ह जयति) वह जितना यह प्राणि समुदाय है, उस सबको जीत लेता है अर्थात् सर्वप्रिय एवं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। (अथ यः एषः तपति) और जो यह आदित्य तपता है, प्रकाशित होता है, (यद् वै चतुर्थं तत् तुरीयं) निश्चय ही जो चतुर्थ है वही तुरीय है, (एतद् एव अस्य तुरीयं दर्शतं परोरजा पदम्) यही इसका तुरीय दर्शत एवं परोरजा पद है। (दर्शतं पदम् इति ददृश इव)

दर्शतं पदम् का अर्थ है कि मानों यह दिखायी देता है, (हि एषः परोरजः इति सर्वम् उ हि एव एष रजः उपर्युपरि तपति) परोरजः इस पद का अर्थ है कि यही लोक सब से ऊपर ऊपर होकर प्रकाशित होता है। (यः अस्याः एतत् पदं एवम् वेद) जो इस गायत्री के इस चतुर्थ पद को इस प्रकार जानता है (एवं ह एव श्रिया यशसा तपति) वह इसी प्रकार शोभा एवं कीर्ति से प्रकाशित होता है।

व्याप्तं चतुर्थपादेन परमं रविमण्डलम्।
क्रमेणानेन संक्रान्तं यथाव्याप्तमिदं जगत्॥

भरद्वाज गायत्री व्याख्या, ३१

गायत्री के चतुर्थ पाद से उत्कृष्ट सूर्य मण्डल व्याप्त है। इस प्रकार पूर्वोक्त क्रम से समस्त जगत् गायत्री से व्याप्त है।

ज्ञात्वा पदानि श्रुत्वाथ तुरीयं पादमव्ययम्।
ब्रह्मणा याति तत्साम्यं पदं ज्ञात्वा तुरीयकम्॥

भरद्वाज गायत्री व्याख्या, ३९

गायत्री के पदों को जानकर और अविनाशी तुरीय पद का महात्म्य सुनकर तथा उस तुरीय पद को भली प्रकार जानकर उपासक, ब्रह्म के साथ साम्य अथवा तदात्म्य को प्राप्त होता है।

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद् वै तत् सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद् वै तत् सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत् प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोगीय इत्येवंवेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गायाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद् यद् गयाꣳस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहै वैषा सा स

यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाःस्त्रायते ।।

बृहदारण्यक उपनिषद, ५।१४।४

(स एषा गायत्री एतस्मिन् तुरीये दर्शते परोरजसि पदे प्रतिष्ठिता) वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पद में प्रतिष्ठित है। (तद् वै तत् सत्ये प्रतिष्ठितम्) निश्चय ही वह सत्य में प्रतिष्ठित है। (चक्षुः वै सत्यम् चक्षुः हि वै सत्यम्) निःसन्देह चक्षु सत्य है, चक्षु ही सत्य है, यह प्रसिद्ध है। (तस्माद् यद् इदानीं द्वौ विवदमानौ एयाताम) इसीलिये यदि दो पुरुष विवाद करते हुये आयें और दोनों अलग अलग कहें, (अहम् अदर्शम् अहम् अश्रौषम् इति) एक कहे कि मैंने देखा है और दूसरा कहे, मैनें सुना है, (यः एवम् ब्रूयाद् अहम् अदर्शम् इति तस्मै एव श्रद्दध्याम) तो जो यह कहे, मैनें देखा है उसी पर हम विश्वास करेंगे। (तद् वै तत् सत्यं बले) वह सत्य बल में प्रतिष्ठित है। (प्राणो वै बलं तत् प्राणे प्रतिष्ठितम्) प्राण ही बल है, इसीलिये वह सत्य प्राण में प्रतिष्ठित है, (तस्माद् आहुः बलं सत्याय ओगीय इति) इसीलिये कहा गया है कि सत्य की अपेक्षा बल अधिक ओगीय, ओजीय अथवा ओजस्वी है। (एवं वा एषा गायत्री अध्यात्मं प्रतिष्ठिता) इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म में, प्राण में प्रतिष्ठित है। (सा ह एषा) उस इस गायत्री ने (गयान् तत्रे) गयों का त्राण किया था (प्राणाः वै गयाः) प्राण ही गय हैं। (तत् प्राणान् तत्रे) उन प्राणों का इसने त्राण किया। (तद् यद् गयान् तत्रे) वह जो इसने गयों का त्राण किया (तस्माद् गायत्री नाम) उसी से इसका गायत्री नाम है। (सः) आचार्य ने उपनयन के समय वटुक को (याम् एव अमूम् सावित्रीम् अन्वाह एषा एव सा) जिस सावित्री का उपदेश किया था वह यही है। (सः यस्मै अन्वाह तस्य प्राणान् त्रायते) वह जिस वटुक को इस गायत्री का उपदेश करता है, यह उसके प्राणों की रक्षा करती है।

दुष्प्रतिग्रहदुर्भक्ष्यरुपांहोभ्योऽनिशं द्विजम् ।
गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीति स्मृता ततः ।।

भरद्वाज गायत्री व्याख्या, ३३

दुष्प्रतिग्रह एवं दुर्भक्ष्य से उत्पन्न होने वाले पापों से अपने उपासक द्विज की सदा रक्षा करती है। **गायन्तं त्रायति इति गायत्री**। यह अपना गान करने वाले की रक्षा करती है, इसीलिये इसे गायत्री कहा जाता है।

प्राणा गया इति प्रोक्तास्त्रायते तानथापि वा।
गायत्रीति भवेन्नाम केवलं त्रायतीति वा।।

भरद्वाज गायत्री व्याख्या, ३४

प्राणों को गया कहा गया है और यह उनकी रक्षा करती है अत: इसका नाम गायत्री हुआ। अथवा, केवल (त्रायति) रक्षा करती है, इसलिये गायत्री नाम हुआ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गायत्री सत्य में प्रतिष्ठित है, सत्य बल में प्रतिष्ठित है तथा बल प्राण में प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर स्वामी शंकराचार्य जी ने अपने बृहदारण्यक भाष्य में लिखा है कि गायत्री प्राण में प्रतिष्ठित है और यह गायत्री प्राण स्वरूपा है।

"एवमुक्तन्यायेन उ एषा गायत्र्यध्यात्ममध्यात्मे प्राणे प्रतिष्ठिता। सैषा गायत्री प्राण:, अतो गायत्र्यां जगत् प्रतिष्ठितम्। यस्मिन् प्राणे सर्वे देवा एकं भवन्ति सर्वे वेदा: कर्माणि फलं च सैवं गायत्री प्राणरूपा सती जगत् आत्मा।"

शांकर भाष्य, बृहदारण्यक, उप.५।१४।४

इस प्रकार उक्त न्याय से अध्यात्म में यह गायत्री शरीरस्थ प्राण में प्रतिष्ठित है। वह यह गायत्री प्राण है, इसीलिये गायत्री में जगत् प्रतिष्ठित है। जिस प्राण में सम्पूर्ण देव एक हो जाते हैं तथा समस्त वेद, कर्म और फल भी जिसमें एक हो जाते हैं, वह गायत्री इस प्रकार प्राणरूपा होने के कारण जगत् की आत्मा है।

गायत्री भगवान् की उत्पन्न करने वाली, पालन पोषण तथा रक्षा करने वाली एवं प्रेरणा देने वाली शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। शरीर में परमात्मा की यह शक्ति प्राण के रूप में कार्य करती है। इसीलिये गायत्री

को प्राण स्वरूपा कहा गया है। शरीर की ही भाँति जगत् में, समष्टि में यह गायत्री समष्टि प्राण का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिये इसे जगत् में व्याप्त कहा जाता है। सूर्य जगत् का, समष्टि का मूर्त प्राण है, इसीलिये गायत्री का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह कहा गया है कि गायत्री का परोरजा पद सूर्य के रूप में समस्त लोकों के ऊपर प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि यहाँ गायत्री के चार पादों का उल्लेख किया गया है, गायत्री छन्द में केवल तीन पाद ही होते हैं, जैसा कि स्वयं वेद में ही कहा गया है।

गायत्रस्य समिधस्तिस्त्र आहुः।

ऋग्. १।१६४।२५, अथर्ववेद, ९।१०।३

गायत्री की तीन समिधायें कहते हैं। यहाँ समिधा का तात्पर्य पाद से है। इसी अलंकारिक भाषा का अनुसरण करते हुये पिङ्गल सूत्र में कहा गया है।

गायत्र्या वसवः ।। पिङ्गल, ३।३

गायत्री का एक पाद वसुओं के तुल्य होता है। वसु आठ होते हैं अतः इसका अर्थ है कि गायत्री के एक पाद में आठ अक्षर होते हैं। गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर होने के कारण इसमें आठ आठ अक्षर के तीन पाद होते हैं।

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ।।

मनुस्मृति, २।८१

जिसमें भूः भुवः स्वः इन तीन अव्यय महाव्याहृतियों के सहित आदि में ओङ्कार है, उस तीन पाद वाली गायत्री को वेद का मुख समझना चाहिये।

तत्सवितुर्वरेण्यमिति सावित्र्याः प्रथमः पादः।

गोपथ, पूर्व भाग, १।३४

भर्गो देवस्य धीमहीति सावित्र्याः द्वितीयः पादः।

गोपथ, पूर्व १।३५

धियो यो नः प्रचोदयादिति सावित्र्याः तृतीयः पादः।

गोपथ, पूर्व १।३६

'तत् सवितुर्वरेण्यम्' यह सावित्री का प्रथम पाद है, 'भर्गो देवस्य धीमहि' यह द्वितीय पाद है तथा 'धियो यो नः प्रचोदयात्' यह सावित्री का तृतीय पाद है।

बृहत्पाराशर स्मृति २।९८–९९ में कहा गया है–

जप्ये तु त्रिपदा ज्ञेया पूजने तु चतुष्पदा।
न्यासे जप्ये तथा ध्याने अग्नि कार्ये तथार्चने।
सर्वत्र त्रिपदा ज्ञेया ब्राह्मणैस्तत्व चिन्तकैः।।

जप करने में गायत्री त्रिपदा कही गयी है और पूजन में चतुष्पदा। तत्वचिन्तक ब्राह्मण न्यास, जप, ध्यान,अग्निकार्य तथा अर्चन में सर्वत्र गायत्री को त्रिपदा ही समझे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि गायत्री छन्द तथा उसी नाम से प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में अक्षरों की दृष्टि से केवल तीन पाद ही होते हैं, समग्र गायत्री मन्त्र की महिमा का वर्णन करने के लिये उसके समग्र रूप को चतुर्थ पाद के रूप में वर्णित किया गया है।

इस ब्राह्मण में गायत्री का जो तुरीय अर्थात् चतुर्थ पाद बताया गया है, वह उसी प्रकार है जिस प्रकार अ, उ, म्, ओ३म् की ये तीन मात्रायें हैं तथा चौथी को अमात्र कहते हैं। ओ३म् की यह चतुर्थ मात्रा, आत्मा के तुरीय अर्थात् चतुर्थ पाद से सम्बन्धित है, जो अवर्णनीय, अग्राह्य, अचिन्त्य, शान्तं, शिवं, अद्वैतं अर्थात् परब्रह्म की द्योतक है।

इससे स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार अमात्र ओङ्कार समग्र ओम् का द्योतक है, किसी एक मात्रा का नहीं, उसी प्रकार गायत्री का तुरीय पाद समग्र गायत्री का द्योतक है, किसी एक पाद का नहीं। इसीलिये कहा गया है कि यह तुरीय पाद अर्थात् समग्र गायत्री सूर्य के रूप में सर्वोपरि होकर प्रकाशित होती है। जिस प्रकार आदित्य सबसे ऊपर तपता हुआ, चमकता

हुआ दिखायी देता है, उसी प्रकार यह गायत्री मानों सब लोकों के ऊपर प्रकाशमान दिखायी देती है। तात्पर्य यह है कि इसकी श्रेष्ठता, पवित्रता तथा रक्षा करने की शक्ति स्पष्ट रूप से दिखायी देती है, उसे खोजना नहीं पड़ता।

सत्य ही ब्रह्म है, इसीलिये कहा गया है कि यह गायत्री सत्य में प्रतिष्ठित है। निःसन्देह यह गायत्री सत्य पर ही आधारित है। जिस प्रकार सूर्य सत्य है, उसी प्रकार यह परोरजः अर्थात् लोकों से ऊपर देदीप्यमान गायत्री सत्य है। वास्तव में आदित्य के साथ गायत्री की उपमा निराली है और गायत्री की महिमा तथा त्राण एवं कल्याण करने की उसकी शक्ति का सही चित्रण करती है। गायत्री के सत्य में प्रतिष्ठित होने से यह भी स्पष्ट है कि गायत्री की सफल उपासना के लिये सत्य के व्रत का आचरण परमावश्यक है। असत्य एवं छल कपट से पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष की गायत्री उपासना वास्तव में निरर्थक है।

जीवन के एक शाश्वत सत्य को प्रदर्शित करते हुये यहाँ कहा गया है कि सत्य बल में प्रतिष्ठित है। जो बलशाली है, वही सत्य बोल सकता है, निर्बल नहीं। निर्बल तो भय के कारण सत्य बोलेगा ही नहीं, प्रत्युत वह अनुचित एवं असत्य बात को भी सत्य ही कहकर अपने प्राण बचाने का प्रयास करेगा, जैसा कि हम जीवन में नित्य प्रति देखते हैं। वास्तव में सत्य बोलने के लिये, सत्य का आचरण करने के लिये अत्यधिक शक्ति एवं साहस की आवश्यकता होती है। इसीलिये उपनिषद् में कहा गया है कि सत्य से बल अधिक ओजस्वी होता है। अतः सत्यान्वेषी तथा सत्य पर आचरण करने की इच्छा वाले को सर्वप्रथम बलवान बनना चाहिये।

जिस प्रकार शरीर में बल प्राण पर ही आधारित होता है, निष्प्राण व्यक्ति में कोई बल नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में समस्त शक्तियाँ परमात्मा रूपी समष्टि प्राण पर आधारित हैं, उसी द्वारा संचालित एवं नियन्त्रित होती हैं।

स य इमाःस्त्रींल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या

एतत् प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयीविद्या यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात्।

बृहदारण्यक उपनिषद्,५।१४।६

(स: य: इमान् पूर्णान् त्रीन् लोकान् प्रतिगृह्णीयात्) वह जो इन पूर्ण तीनों लोकों का प्रतिग्रह करता है, (स: अस्या: एतत् प्रथमं पदम् आप्नुयाद्) उसका वह प्रतिग्रह गायत्री के प्रथम पद को व्याप्त करता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रतिग्रह का दोष गायत्री के प्रथम पद से ही नष्ट हो जाता है । (अथ यावती इयं त्रयी विद्या य: तावत् प्रतिगृह्णीयात्) और जितनी यह त्रयी विद्या है उतना जो प्रतिग्रह करता है, (स: अस्या: एतद् द्वितीयं पदम् आप्नुयात्) उसका वह प्रतिग्रह दोष गायत्री के द्वितीय पद को व्याप्त करता है अर्थात् इस द्वितीय पद की उपासना के फल से नष्ट हो जाता है । (अथ यावद् इदं प्राणि य: तावत् प्रतिगृह्णीयात्) और जितना यह प्राणि जगत् है, उतना जो प्रतिग्रह करता है, (स: अस्या: तत् तृतीयं पदम् आप्नुयात्) उसका वह प्रतिग्रह दोष गायत्री के तृतीय पद को व्याप्त करता है अर्थात् इस तृतीय पद की उपासना के फल से नष्ट हो जाता है । (अथ अस्या: एतद् तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा) और इसका जो चतुर्थ दर्शत परोरजा पद है, (य एष: तपति) जो यह तपता है प्रकाशित होता है, (न एव केनचन आप्यम्) वह किसी के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । (कुत: उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात्) क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कहाँ से कर सकता है? तात्पर्य यह है कि इस सर्वश्रेष्ठ एवं परम तेजस्वी पद के फल को कोई प्रतिग्रह दोष नष्ट नहीं कर सकता ।

सायं प्रातश्च सन्ध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम्।।
स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्विषः।
न सीदेत् प्रतिग्रह्णानो महीमपि ससागरम्।।

महाभारत, वनपर्व,२००।८३-८४

जो ब्राह्मण प्रातः एवं सायंकाल दोनों समय सन्ध्योपासन करता है तथा सबको पवित्र करने वाली दिव्य वेदमाता गायत्री का जप करता है, वह उन पवित्र करने वाली गायत्री देवी की कृपा से निष्पाप हो जाता है तथा समुद्र सहित समस्त पृथिवी का दान ग्रहण करने पर भी दुःख एवं पाप का भागी नहीं होता।

तुरीयपादमेतस्या ज्ञात्वाचोपास्तिमाचरेत्।
सरत्नपूर्णां पृथिवीं गृह्णन्नो दोषभाग् भवेत्।।

भरद्वाज गायत्री व्याख्या,४१

इस गायत्री के तुरीय पाद को जानकर जो उपासना करता है, वह रत्नों से परिपूर्ण पृथिवी का दान लेने से भी दोष का भागी नहीं होता।

गायत्री का मुख

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद् गायत्रीविदब्रूथा कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत् संदहत्येवꣳ हैवैवंविद् यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत् संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति।

बृहदारण्यक उपनिषद,५।१४।८

(तज्जनकः वैदेहः आश्वतराश्विम् बुडिलं एतद् ह वै उवाच) वह विदेह

जनक अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से इस प्रकार बोले कि (यत् नु हो तद् गायत्रीविद् अब्रूथा:) तुमने तो अपने को गायत्रीविद् बताया था, (कथं हस्तीभूतं वहसि इति) तब क्यों हाथी होकर भार ढोते हो। तब बुडिल ने उत्तर दिया, हे सम्राट ! मैं उस गायत्री का मुख नहीं जानता था। इस पर महाराज जनक ने उसे बताया कि (तस्या: अग्नि एव मुखम्) उस गायत्री का अग्नि ही मुख है। (यदि ह वै अपि बहु इव अग्नौ अभ्यादधति सर्वमेव तत् संदाहति) जिस प्रकार बहुत सा ईंधन अग्नि में रख देने पर भी, वह उस सभी को निश्चित रूप से जला डालता है, (एवं ह एव एवंविद यद्यपि बहु इव पापं कुरुते) उसी प्रकार ऐसा जानने वाला गायत्री उपासक यदि बहुत सा पाप भी करता रहा हो, (सर्वमेव तत् संप्साय) तो भी वह गायत्री की उपासना से समस्त पापों का नाश करके (शुद्ध: अजर: अमृत: सम्भवति) शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि गायत्री के उपासक को गायत्री की पाप नाशक शक्ति में दृढ़ विश्वास रखते हुये अपने को अग्नि के समान तेजस्वी तथा पवित्र बनाने के लिये पापों से दूर रहना चाहिये और पूर्वकृत पापों के नाश का प्रयास करना चाहिये। उपनिषद् के कथन का यह आशय नहीं है कि गायत्री उपासक मिथ्या अहंकार से भरकर पाप करता रहे और यह समझे कि उसके पाप गायत्री द्वारा नष्ट कर दिये जायेंगे क्योंकि दुराचारी तथा पापों में रत रहने वाले निकृष्ट व्यक्तियों की उपासना तो कभी सफल हो ही नहीं सकती, उन्हें तो अपने पापों का फल भोगना ही पड़ेगा।

वास्तविकता यह है कि गायत्री की उपासना से मनुष्य की आत्मा, उसकी बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा उसका आचरण पवित्र हो जाता है और वह पापों से विरत हो जाता है। इस प्रकार जहाँ गायत्री एक ओर उसके पूर्वकृत पापों का नाश करती है, वहीं दूसरी ओर वह मानों उसका हाथ पकड़ कर उसे भविष्य में किये जाने वाले पापों से दूर रखकर दु:खों के महासागर से बचाती है।

गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे।

शङ्खस्मृति, २।८३

पापों के फलस्वरूप नरक रूपी समुद्र में गिरते हुये को हाथ पकड़ कर बचाने वाली दिव्य गायत्री से अधिक श्रेष्ठ तथा पवित्र इस लोक में अथवा द्युलोक में अर्थात् तीनों लोकों में कुछ नहीं है ।

गायत्री का आदित्य रूप

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गायत्री ही प्राण है, जगत् की आत्मा है । वेदों के अनुसार सूर्य समस्त संसार का प्राण है, आत्मा है ।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

ऋग्वेद, १।११५।१, यजुर्वेद, ७।४२

प्रश्नोपनिषद् में सूर्य को समस्त जगत् का प्राण कहा गया है ।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं,
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः,
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।।

प्रश्नोपनिषद्,१।८

व्याधियों एवं दुःखों को हरने वाला, समस्त रूपों को प्रकाशित करने वाला, समस्त उत्पन्न पदार्थों में व्याप्त होने के कारण उन्हें ज़ानने वाला, सब का आश्रय, उर्जा, प्रकाश एवं ज्ञान देने वाला एकमात्र अद्वितीय तेज पुञ्ज, असंख्य किरणों से युक्त, सैकड़ों प्रकार से जीवन को धारण पोषण करने वाला, तेजस्वी ज्योतिस्वरुप समस्त प्रजाओं का प्राण यह सूर्य उदय होता है ।

इसीलिये प्राण स्वरूपा गायत्री के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि यह सबके ऊपर तपने वाला प्रकाशमान आदित्य गायत्री

का तुरीय परोरजा पद है।

गायत्री का ब्रह्म स्वरुप

गायत्री उपनिषद्, जो आगे दिया जायेगा, में कहा है कि गायत्री में समस्त जगत् स्थित है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी गायत्री की विस्तृत एवं महत्वपूर्ण व्याख्या की गयी है तथा इसे ब्रह्म स्वरूपा बताया गया है।

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किं च । वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ।

छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१२।१

(गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च) गायत्री ही यह सब भूत है। जो भी स्थावर जङ्गम प्राणी इस जगत् में हैं, निःसन्देह वह सब गायत्री हैं। यहाँ वै शद्ध निश्चयार्थक है, (वाग्वै गायत्री) वाणी ही गायत्री है। (वाग् वै इदं सर्व भूतम् गायति च त्रायते च) वाणी ही इन सब प्राणियों की भावनाओं का ज्ञान कराती है, उन्हें प्रकट करती है तथा इनकी रक्षा करती है। निःसन्देह वाणी से ही सभी प्राणियों का वर्णन किया जाता है तथा वाणी से ही समस्त प्राणी अपने मनोभावों को प्रकट करके अपनी रक्षा करते हैं। इसीलिये यहाँ वाणी को प्राणों की रक्षा करने वाली अथवा गायत्री कहा गया है। जिस प्रकार वाणी प्राणियों का त्राण करती है, उसी प्रकार गायत्री भी अपना गान करने वालों के प्राणों का त्राण करती है। इसीलिये वाणी को गायत्री कहा गया है।

संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो अपने प्राणों की रक्षा करना न चाहे। भगवान् की ऐसी अनोखी माया है कि जो प्राणी जिस योनि में है वह वहीं प्रसन्न है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। सुअर, साँप, विच्छू, कीड़े मकोड़े को भी अपने प्राण प्रिय हैं और वे मरना नहीं चाहते। सभी हर प्रकार से अपने प्राणों की रक्षा करने वाले हैं और इस प्रकार समस्त प्राणी गायत्री हैं क्योंकि जो प्राणों की रक्षा करे, वह गायत्री है।

गोपथ ब्राह्मण में भी गायत्री अथवा सावित्री को वाणी कहा गया

है। 'मन एव सविता, वाक् सावित्री।' मन सविता है, वाणी सावित्री है। यह स्पष्ट है कि शरीर में मन ही प्रेरणा देने वाला होता है। इस मन रूपी सविता की प्रेरणा से वाणी सहित सभी इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। वाणी की प्रमुखता तथा उसके द्वारा मन का अनुसरण किये जाने और मन के भावों को व्यक्त किये जाने के कारण, यहाँ वाणी को सावित्री अथवा गायत्री कहा गया है।

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याः
हीदः सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते।।

छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१२।२

(या वै सा गायत्री) जो वह गायत्री है, प्राणों की रक्षा करने वाली है, (सा इयं वाव) निःसन्देह वह यही है, (या इयं पृथिवी) जो यह पृथिवी है, (हि अस्यां सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम्) क्योकि इसी पर सब भूत प्रतिष्ठित हैं, (एताम् एव नातिशीयते) इसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। इस पृथिवी का आधार छोड़कर कोई जीवित नहीं रह सकता। अत: वास्तव में यह पृथिवी ही प्राणों की रक्षा करने वाली होने के कारण गायत्री है।

शतपथ.ब्राह्मण में भी पृथिवी को गायत्री कहा गया है।

अभूद्वाऽ इयं प्रतिष्ठेति तद्भूमिरभवत्तामप्रथयत्सा पृथिव्यभवत्सेयᳪ सर्वा कृत्स्ना मन्यमानागायद्यदगायत्तस्मादियं गायत्री।

शतपथ ब्राह्मण, ६।१।१।१५

यह पृथिवी प्रतिष्ठा (आधार) हो गई, इसलिये इसका नाम भूमि हुआ, यह फैल गयी इसलिये इसका नाम पृथिवी हुआ।

उस पृथिवी ने अपने को सब प्रकार से पूर्ण जानकर गाया, क्योंकि इसने गाया अतएव यह गायत्री है

यज्ञ में वेदि भूमि का प्रतीक है। इसीलिये वेदि को भी गायत्री कहा गया है।

वेदिरेव गायत्री। शतपथ ब्राह्मण, ११।४।१।१६

वेदि ही गायत्री है।

समष्टि से व्यष्टि की ओर चलते हुये उपनिषद् कहता है कि पुरुष शरीर में यह शरीर ही पृथिवी है क्योंकि इसी में प्राण प्रतिष्ठित हैं।

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते।।

छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१२।३

(या वै सा पृथिवी) जो यह पृथिवी है, (सा इयं वाव) वह यही है, (अस्मिन् पुरुषे यद् इदं शरीरं) जो इस पुरुष में शरीर है। (हि अस्मिन् इमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः) क्योंकि इस शरीर में ही ये प्राण प्रतिष्ठित हैं। (एतद् एव नातिशीयन्ते) इस शरीर का प्राण अतिक्रमण नहीं करते, इस शरीर को छोड़कर इसके बाहर ये प्राण इस रूप में नहीं रह सकते। इस प्रकार व्यष्टि में प्राणों का अधिष्ठान होने के कारण यह शरीर गायत्री है।

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयेमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते।

छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१२।४

(यद् वै तत् पुरुषे इदं शरीरम्) पुरुष में जो यह शरीर है, (यद् अस्मिन् अन्तः पुरुषे इदं हृदयम्) जो इस अन्तः पुरुष अर्थात् शरीर के अन्दर यह हृदय है, (इदं वाव तत्) वह यही गायत्री है, (हि अस्मिन् इमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः) क्योंकि इस हृदय में ही ये प्राण प्रतिष्ठित हैं, (एतद् एव नातिशीयन्ते) ये प्राण इसका उल्लंघन नहीं करते। इस प्रकार शरीर में यह पुण्डरीक संज्ञक हृदय गायत्री है।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्।

छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१२।५

वह यह गायत्री चतुष्पदा तथा षड्विधा है। ऋचा में भी यही कहा गया है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार वाणी, पृथिवी, शरीर तथा हृदय ये चार पाद होते हैं अतः यह वाणी रुपी गायत्री भी चतुष्पदा है। वाणी को

चतुष्पदा बताने वाली ऋचा आगे दी जायेगी।

गायत्री को षड्विधा इस लिये कहा गया है क्योंकि—

१. गायत्री वेद का प्रमुख छन्द है जिससे ब्रह्म की स्तुति होती है तथा ब्रह्म का निरूपण किया जाता है।

२. ब्रह्मस्वरूपा होने के कारण गायत्री विश्वरूपा है। अत: समस्त भूतमात्र अर्थात् संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब गायत्री ही हैं।

३. वाणी से ही समस्त प्राणी अपने मनोभावों को प्रकट करते हैं तथा अपनी रक्षा करते हैं। अत: गान एवं त्राण करने के कारण वाणी गायत्री है।

४. समस्त प्राणियों का अधिष्टान होने के कारण एवं उनकी रक्षा करने के कारण समष्टि में पृथिवी गायत्री है।

५. इसी प्रकार व्यष्टि में, पुरुष में प्राण का अधिष्ठान होने के कारण एवं प्राणों की रक्षा करने के कारण यह शरीर गायत्री है।

६. इस शरीर के अन्दर जो पुण्डरीक संज्ञक हृदय है, वह प्राणों का प्रमुख अधिष्ठान एवं रक्षक होने के कारण गायत्री है।

समष्टि से व्यष्टि की ओर तथा बाह्य से आभ्यन्तर की ओर चलकर सूक्ष्म एवं स्पष्ट विवेचना करना वैदिक वाङ्मय की अनोखी शैली है।

जिस प्रकार यहाँ वाणी को गायत्री कहा गया है, उसी प्रकार अनेक स्थानों पर प्राण तथा अग्नि अथवा तेज को गायत्री कहा गया है।

प्राणो गायत्री। अग्निर्वै गायत्री। शतपथ ब्राह्मण, ६।६।२।७

गायत्री वै प्राण:। शतपथ ब्राह्मण, १।३।५।१५

उपनिषद् के इस वाक्य में जिस ऋचा का उल्लेख किया गया है, उसे महर्षि द्वारा स्वयं ही आगे दिया गया है।

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुष:। पादोऽस्यसर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति। छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१२।६

ये दोनों पंक्तियाँ क्रमश: सामवेदीय पुरुष सूक्त पूर्वार्चिक, ६।४ के मन्त्र संख्या ६ तथा ५ की हैं। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद मे 'एतावानस्य महिमा

अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' आया है तथा दूसरी पङ्क्ति में 'सर्वा' के स्थान पर 'विश्वा' शब्द है।

मन्त्र का अर्थ है—यह समस्त ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है, वह पुरुष अर्थात् परब्रह्म तो इससे कहीं अधिक महान तथा श्रेष्ठ है। यह समस्त चराचर जगत उसका केवल एक पाद है, उसके तीन पाद द्युलोक में अपने देदीप्यमान अमृत रूप में स्थित हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।।

ऋग्वेद, १०।९०।४, यजुर्वेद,३१।४

उसके एक अंश से उत्पन्न होने वाली यह सृष्टि परिवर्तित होती रहती है, पुनः पुनः उत्पन्न एवं लय होती रहती है किन्तु उसके तीन पाद अर्थात् वह पूर्ण पुरुष अपने अमृत स्वरूप में सदा अविकारी, अपरिवर्तनीय आनन्दमय एवं ध्रुव होकर (ऊर्ध्व) सबके ऊपर प्रकाशित रहता है।

इस प्रकार यहाँ ब्रह्म के चार पादों का वर्णन आलङ्कारिक रूप में किया गया है। इसी आधार पर उपनिषद् में ब्रह्मस्वरूपा गायत्री को भी चतुष्पदा कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि यहाँ गायत्री को ब्रह्मस्वरूपा मानकर ही कहा गया है, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच'—छान्दोग्य, ३।१२।१। निःसन्देह गायत्री ही समस्त भूत मात्र है, जो भी स्थावर जङ्गम इस संसार में है, वह सब गायत्री है।

इस प्रकार का वर्णन केवल ओङ्कार अथवा ब्रह्म के लिये ही किया जाता है, जैसा कि पुरुष सूक्त में कहा गया है।

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्चं भाव्यम्।

ऋग्वेद, १०।९०।२, (पाठभेद) यजुर्वेद, ३१।२
सामवेद, ६।४।५, अथर्ववेद, १९।६।४

भूत, भविष्य तथा वर्तमान में जो कुछ भी था, होगा अथवा है, वह

सब पुरुष ही है।

इसी मन्त्र के आधार पर माण्डूक्य उपनिषद् के प्रथम वाक्य में कहा गया है।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।

ओम् यह अविनाशी ब्रह्म है, यह समस्त संसार उसी का विस्तार है, उसी की महिमा है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब ओङ्कार ही है तथा इनके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत है, वह भी ओङ्कार है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् १।८ में कहा गया है।

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्।

ओम् यह ब्रह्म है। यह समस्त संसार ओम् है, उसी का रूप है उसी की महिमा है, कण कण में उसी की सत्ता प्रतिभासित हो रही है।

इससे स्पष्ट है कि यहाँ गायत्री से तात्पर्य ब्रह्म से है और गायत्री के रूप में ब्रह्म का ही वर्णन है।

श्री स्वामी शंङ्कराचार्य जी ने छान्दोग्य उपनिषद् के अपने भाष्य में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि यहाँ 'अतो गायत्री मुखेनैव ब्रह्मोच्यते' गायत्री के द्वारा ही ब्रह्म का निरूपण किया गया है।

ब्रह्म प्राप्ति का प्रमुख साधन होने एवं प्राणों की रक्षा करने के कारण गायत्री का ब्रह्म से अभेद है। इसीलिये गायत्री को ब्रह्मस्वरूपा कहा जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर गायत्री को वीर्य, तेज, अग्नि, ब्रह्मवर्चस तथा ब्रह्म कहा गया है।

वीर्यं गायत्री ब्रह्म गायत्री। शतपथ ब्राह्मण, १।३।५।४

गायत्री वीर्य अथवा तेज है, गायत्री ब्रह्म है।

ब्रह्म हि गायत्री। ताण्ड्य ब्रह्मण, १।११।९

ब्रह्म उ गायत्री। जैमिनीय उपनिषद्, १।१।८

ब्रह्म वै गायत्री। ऐतरेय ब्राह्मण,४।११

तेजो वै ब्रह्मवर्चसम् गायत्री। ऐतरेय ब्राह्मण,१।५

गायत्री ब्रह्मवर्चसम्। तै. संहिता,७।१।१।४

वाणी के चतुष्पाद होने के सम्बन्ध में मन्त्र इस प्रकार है–

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानिं विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिंता नेङ्गंयन्ति तुरीयं वाचो मंनुष्यां वदन्ति।।

अथर्ववेद,९।१०।२७, ऋग्वेद, १।१६४।४५

(वाक् चत्वारि पदानि परिमिता) वाणी चार पदों में परिमित है। (तानि ये मनीषिणः ब्राह्मणाः विदुः) जो मनीषी (मनस ईषिणो मनीषिणः= मन पर शासन करने वाले) ब्राह्मण हैं, वे उन पदों को जानते हैं। (त्रीणि गुहा निहिता न इङ्गयन्ति) इनमें से गुहा में निहित तीन पद प्रकट नहीं होते (तुरीयं वाचः मनुष्या वदन्ति) वाणी के चतुर्थ पद को मनुष्य बोलते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी, ये वाणी के चार पद हैं। परा वाणी का स्थान मूलाधार है। वहाँ से उत्पन्न होकर यह हृदय में पहुँचती है। उस हृदय स्थानीय वाणी को पश्यन्ती कहते हैं। वहाँ से आगे बढ़कर यह बुद्धि में पहुँचती है। इस बुद्धि स्थानीय वाणी का नाम मध्यमा है। बुद्धि से प्रेरित होकर वाणी कण्ठ से होती हुई मुख में आकर प्रकट होती है, यह मुखर होने वाली वाणी वैखरी कहलाती है।

मूलाधार की परा, हृदय स्थानीया पश्यन्ती तथा बुद्धि स्थानीया मध्यमा, वाणी के ये तीन पद गुहा अर्थात् गुप्त स्थानों में होने के कारण केवल मनीषियों द्वारा ही जाने जाते हैं तथा जो कण्ठ स्थानीय चौथी वैखरी वाणी है, उसे सभी मनुष्य बोलते और जानते हैं।

मन की प्रेरणा से नाभि से ऊपर उठने वाली जो वायु अन्त में वाणी के रूप में प्रकट होती है, वह कण्ठ में आकर ही नाद अथवा शब्द का रूप ग्रहण करती है। इसीलिये व्याकरण में कण्ठ, शिर तथा मुख के भिन्न भिन्न भागों को शब्द का स्थान बताया गया है।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठं शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।।

पाणिनीय शिक्षा, ८।२८

वर्णों के आठ स्थान होते हैं, उर,कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दाँत, नाक, दोनों ओष्ठ तथा तालु। इन्हीं के माध्यम से शब्दों का उच्चारण होता है।

निरुक्त परिशिष्ट, ९।१३ में यास्काचार्य जी ने लिखा कि विद्वानों ने भिन्न भिन्न दृष्टियों से वाणी के चार पदों अथवा रूपों का निम्न प्रकार विभाजन किया है।

१. ऋषियों के अनुसार– ओङ्कार तथा भूः, भुवः, स्वः।

२. वैयारकणों के अनुसार– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

इनमें सर्व साधारण लोग केवल निपात को ही बोलते हैं, पहले तीन पदों को केवल विद्वान् ही समझते हैं।

३. याज्ञिकों के अनुसार– मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण एवं व्यावहारिकी वाणी।

४. नैरुक्तों के अनुसार– ऋक्, यजुः, साम लक्षण वाले मन्त्र तथा व्यावहारिकी वाणी।

५. कुछ विद्वानों के अनुसार– सर्पों की वाणी, पक्षियों की वाणी, क्षुद्र रेंगने वाले कीड़े मकोड़ों की वाणी तथा मनुष्यों की व्यावहारिकी वाणी।

६. आत्मवादी लोगों के अनुसार – ग्राम्य पशुओं की वाणी, वाद्यों की वाणी, आरण्य पशुओं वाणी तथा मनुष्यों की वाणी।

७. ब्राह्मण के अनुसार– पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में वाणी तीन प्रकार से स्थित है और चौथी मनुष्यों की वाणी है।

शतपथ ब्राह्मण, ४।१।३।१६ में कहा गया है—

तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयाꣳसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं वदति।

यह चौथी वाणी अर्थात् वाणी का वह चतुर्थ भाग निरुक्तम् अर्थात् समझ में आने वाला होता है, जिसे मनुष्य बोलते हैं, जबकि वाणी का वह चतुर्थ भाग जो पशु बोलते हैं अनिरुक्त अर्थात् समझ में न आने वाला है। इसी प्रकार वाणी का वह चतुर्थ भाग अनिरुक्त है जिसे पक्षी बोलते हैं तथा वाणी का वह चतुर्थ भाग भी अनिरुक्त अर्थात् समझ में न आने वाला है जिसे क्षुद्र कीड़े मकोड़े बोलते हैं।

गायत्री उपनिषद्

गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग कण्डिका १।३१ से लेकर १।३८ तक उल्लिखित गायत्री विज्ञान को गायत्री उपनिषद् कहा जाता है, जो निम्न प्रकार है।

यह प्रसिद्ध है कि एक बार मुद्गल ऋषि के पुत्र एकादशाक्ष अर्थात् अत्यन्त ज्ञानवान् मौद्गल्य के आश्रम में ग्लाव मैत्रेय जिन्हें अपनी विद्वत्ता का अत्यधिक अहंकार था, आये। उन्होंने मौद्गल्य के एक ब्रह्मचारी शिष्य को समीप देखकर तिरस्कार के भाव से कहा कि मौद्गल्य भला क्या पढ़ाते होंगे, जिसके लिये यह ब्रह्मचारी यहाँ निवास करते हैं। यह सुनकर उस शिष्य ने मौद्गल्य के पास जाकर कहा कि आश्रम में जो अतिथि के रूप में आये हैं, उन्होंने आप को दुरधीयान् अर्थात् अविद्वान् कहा है। मौद्गल्य ने उससे पूछा कि क्या वह बहुत विद्वान् हैं? शिष्य ने कहा, हाँ, वह तीनों वेद पढ़ाते हैं। तब मौद्गल्य ने अपने शिष्य से कहा कि उनका जो प्रमुख शिष्य हो, उसे बुला लाओ। जब मौद्गल्य का शिष्य मैत्रेय के सबसे अधिक विद्वान् शिष्य को बुलाकर लाया, तब मौद्गल्य ने उससे पूछा कि तुम्हारे आचार्य क्या पढ़ाते हैं? शिष्य ने कहा कि वह तीन वेद पढ़ाते हैं। मौद्गल्य ने कहा कि

मैंने भी तीन वेदों का अध्ययन किया है फिर तुम्हारे आचार्य ऐसी अशिष्ट बात क्यों कहते हैं? मैं उनसे जिस प्रश्न को पूछता हूँ, यदि वह उसका उत्तर नहीं दे पायेंगे तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि उन्होंने वेद नहीं पढ़ा है।

तब मौद्गल्य ने अपने शिष्य से कहा कि तुम ग्लाव मैत्रेय के पास जाकर उनसे कहो कि वह चौबीस योनि तथा बारह मिथुनों वाली उस सावित्री गायत्री के विषय में तुम्हें बतायें जिसके चक्षु भृगु अङ्गिरस हैं तथा जिसमें यह समस्त जगत् स्थित है।

मौद्गल्य के अदेशानुसार उनके शिष्य ने मैत्रेय के पास जाकर उनसे सावित्री के विषय में तदनुसार पूछा किन्तु वह उसका कोई उत्तर नहीं दे सके। तब उस शिष्य ने आचार्य के निर्देशानुसार मैत्रेय से कहा कि आपने तो मौद्गल्य को अविद्वान् कहा था किन्तु अब आप इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। अत: आपको एक वर्ष तक कष्ट सहन करना होगा।

मैत्रेय ने अपने शिष्यों से कहा "तुम लोग अपनी इच्छानुसार अपने अपने गृह को चले जाओ। मैंने मौद्गल्य को अविद्वान् कहा था किन्तु मैं उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। अत: मैं उनके पास जाकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करूँगा।"

मैत्रेय दूसरे दिन प्रात:काल हाथ में समिधा लेकर मौद्गल्य के समीप गये और अपना अपराध स्वीकार करते हुये कहा कि वह उनके समीप उन्हें शान्त करने आये हैं। मैत्रेय में अभी भी अहंकार की भावना थी। अत: मौद्गल्य ने उनसे कहा, 'यहाँ पर आये हुये तुम को पाप के वाहन पर चलने वाला कहते हैं, मैं तुम्हें अपना कल्याण मय रथ देता हूँ, उस पर चढ़ो।' मैत्रेय ने उत्तर दिया, "आप का यह कार्य अभय देने वाला तथा कृपापूर्ण है।"

तत्पश्चात् अत्यन्त सरल एवं विनम्रता पूर्ण शिष्य भाव से मैत्रेय समित्पाणि होकर मौद्गल्य के समक्ष उपस्थित हुए और उनसे पूछा।

किंस्विदाहुर्भो: सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवय: किमाहुर्धियो विचक्ष्व यदि ता: प्रविश्य प्रचोदयात्सविता

याभिरेतीति। गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग, १।३२

(भो: सवितु: वरेण्यं भर्गो देवस्य कवय: किंस्विद् आहु:) हे आचार्य ! क्रान्तदर्शी विद्वान् सविता देव का (वरेण्यं भर्ग:) वरण करने योग्य भर्ग किसको कहते हैं ? (विचक्ष्व धिय: किम्) कृपया बताइये कि धिय: किसको कहते हैं ? (यदि सविता प्रविश्य ता: प्रचोदयात् याभि: एति इति) जिनमें प्रवेश करके सविता उन्हें प्रेरित करता है तथा (याभि:) जिनसे, अर्थात् जिनकी सहायता से पुरुष चलता है, आगे बढ़ता है।

मौद्गल्य ने उत्तर दिया।

वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोन्नऽमाहु: कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति ।।

गोपथ, पूर्वभाग, १।३२

(वेदा: छन्दांसि) वेद छन्द हैं। (सवितु: देवस्य वरेण्यं भर्ग:) सविता देव के वरेण्य भर्ग को, (कवय: अन्नं आहु:) क्रान्तदर्शी विद्वान् अन्न कहते हैं। (कर्माणि धिय: तदु ते ब्रवीमि) तुम्हें यह भी बताता हूँ कि धिय: कर्म हैं, (सविता प्रचोदयात्) जिन्हें सविता प्रेरित करता है, (याभि: एति) जिन से पुरुष चलता है, आगे बढ़ता है।

मनुष्य अपने कर्मों से ही प्रगति करता है और सभी श्रेष्ठ कर्म सद् बुद्धि से किये जाते हैं। इसीलिये यहाँ धिय: को कर्म कहा गया है और भगवान् से प्रार्थना की गयी है कि हमारे कर्मों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें (मौद्गल्य के उक्त कथन की विस्तृत व्यख्या भर्ग के अर्थ के सम्बन्ध में पहले ही दी जा चुकी है।)

तदुपरान्त मैत्रेय ने पूछा, (क: सविता का सावित्री) सविता क्या है? सावित्री क्या है?

मौद्गल्य ने उत्तर दिया– १. मन एव सविता वाक् सावित्री, यत्र ह्येव मनस्तद् वाक, यत्र वै वाक् तन्मन:, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्। २. अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री यत्र ह्येवाग्निस्तत् पृथिवी, यत्र वै पृथिवी तदग्निरित्यते द्वे योनी एकं मिथुनं। ३. वायुरेव सवितान्तऽरि-

क्षं सावित्री, यत्र ह्येव वायुस्तदन्तरिक्षं, यत्र वा अन्तरिक्षं तद्वायुरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् । ४. आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री, यत्र ह्येवादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वै द्यौस्तदादित्य, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् । ५. चन्द्रमा एव सविता, नक्षत्राणि सावित्री, यत्र ह्येव चन्द्रमास्तन्नक्षत्राणि यत्र वै नक्षत्राणि तच्चन्द्रमा, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् । ६. अहरेव सविता, रात्रिः सावित्री, यत्र ह्येवाहस्तद्रात्रिर्यत्र वै रात्रिस्तदहरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् । ७. उष्णमेव सविता शीतं सावित्री यत्र ह्येवोष्णं, तच्छीतं यत्र वै शीतं तदुष्णमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनं ।८. अभ्रमेव सविता, वर्षं सावित्री, यत्र ह्येवाभ्रन्तद्वर्षं, यत्र वै वर्षं तदभ्रमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् । ९. विद्युदेव सविता स्तनयित्नुः सावित्री यत्र ह्येव विद्युत तत् स्तनयित्नुः, यत्र वैस्तनयित्नुस्तद्विद्युदित्यते द्वे योनी एकं मिथुनम् । १०. प्राण एव सविता, अन्नं सवित्री, यत्र ह्येव प्राणस्तदन्नं यत्र वा अन्नं तत् प्राण इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनं । ११. वेदा एव सविता, छन्दांसि सावित्री, यत्र ह्येव वेदास्तच्छन्दांसि यत्र वै छन्दांसि तद् वेदा, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् । १२. यज्ञ एव सविता, दक्षिणा सावित्री, यत्र ह्येव यज्ञस्तत् दक्षिणा यत्र वै दक्षिणास्तद्यज्ञ इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनं ।

गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग, १।३३

१. (मन एव सविता वाक् सावित्री) मन ही सविता है, वाणी सावित्री है। (यत्र हि एव मनः तत् वाक् यत्र वै वाक् तत् मनः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम् ।) जहाँ मन है, वहाँ वाणी है, जहाँ वाणी है, वहाँ मन है, यह दो पृथक् पृथक् वस्तुयें अथवा योनि हैं तथा इनका एक मिथुन है।

२. (अग्निः एव सविता पृथिवी सावित्री) अग्नि ही सविता है, पृथिवी सावित्री है, (यत्र हि एव अग्निः तत् पृथिवी यत्र वै पृथिवी तत् अग्निः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ अग्नि है, वहाँ पृथिवी है, जहाँ पृथिवी है, वहाँ अग्नि है, यह दो योनि अर्थात् पृथक् पृथक् वस्तुयें हैं तथापि इनका एक मिथुन अर्थात् जोड़ा है। ३. (वायुः एव सविता अन्तरिक्षम् सावित्री)

वायु ही सविता है, अन्तरिक्ष सावित्री है । (यत्र ही एव वायु: तत् अन्तरिक्षम् यत्र वै अन्तरिक्षं तद् वायु:, इति द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ वायु है, वहाँ अन्तरिक्ष है, जहाँ अन्तरिक्ष है वहाँ वायु है, यह दो पृथक् पृथक् तत्व (योनि) हैं तथापि इनका एक मिथुन है । ४. (आदित्य: एव सविता द्यौ: सावित्री) आदित्य ही सविता है, द्यौ सावित्री है । (यत्र हि एव आदित्य: तत् द्यौ:, यत्र वै द्यौ: तत् आदित्य: एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ आदित्य है, वहाँ द्यौ है, जहाँ द्यौ है वहाँ आदित्य है, ये दोनो पृथक् पृथक् योनि हैं तथापि उनका एक मिथुन है । ५. (चन्द्रमा: एव सविता नक्षत्राणि सावित्री) चन्द्रमा सविता है, नक्षत्र सावित्री हैं, (यत्र हि एव चन्द्रमा: तंत् नक्षत्राणि यत्र वै नक्षत्राणि तत् चन्द्रमा:, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ चन्द्रमा है, वहाँ नक्षत्र हैं, जहाँ नक्षत्र हैं, वहाँ चन्द्रमा है, यह दोनो पृथक् पृथक् योनि हैं तथा इनका एक मिथुन अर्थात् जोड़ा है । ६. (अह: एव सविता रात्रि: सावित्री) दिन ही सविता है, रात्रि सावत्री है । (यत्र हि एव अह: तत् रात्रि: यत्र वै रात्रि: तत् अह:, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ दिन है, वहाँ रात्रि है, जहाँ रात्रि है, वहाँ दिन है, यह दो एक दूसरे से भिन्न प्रकार की वस्तुयें हैं तथा इनका एक युगल है । ७. (उष्णम् एव सविता शीतं सावित्री) उष्णता सविता है, शीतलता सावित्री है । (यत्र हि एव उष्णम् तत् शीतम्, यत्र वै शीतम् तत् उष्णम्, इति द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ उष्ण है, वहाँ शीत है, जहाँ शीत है, वहाँ उष्ण है, यह दो भिन्न प्रकार की वस्तुयें हैं किन्तु इनका एक मिथुन है । ८. (अब्भ्रम् एव सविता वर्षं सावित्री) मेघ ही सविता है, वर्षा सावित्री है । (यत्र हि एव अब्भ्रम् तत् वर्षम्, यत्र वै वर्षम् तत् अब्भ्रम्, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ मेघ है वहाँ वर्षा है,जहाँ वर्षा है, वहाँ मेघ है, यह दो भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुयें हैं तथापि इनका एक युगल है । ९. (विद्युत् एव सविता, स्तनयित्नु: सावित्री) विद्युत सविता है, गड़गड़ाहट सावित्री है । (यत्र हि एव विद्युत् तत् स्तनयित्नु: यत्र वै स्तनयित्नु: तत् विद्युत्, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ आकाशीय विद्युत है वहाँ गड़गड़ाहट है, जहाँ गड़गड़ाहट है, वहाँ

आकाशीय विद्युत है, यह दो पृथक् पृथक् योनि हैं तथा इनका एक युगल है। १०. (प्राण: एव सविता अन्नं सावित्री) प्राण सविता है, अन्न सावित्री है। (यत्र हि एव प्राण: तत् अन्नम्, यत्र वै अन्नम् तत् प्राण: इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ प्राण है, वहाँ अन्न है, जहाँ अन्न है, वहाँ प्राण है। यह दोनो पृथक् पृथक् योनि हैं तथा इनका एक युगल है। ११. (वेदा: एव सविता छन्दांसि सावित्री) वेद सविता हैं, छन्द सावित्री हैं। (यत्र हि एव वेदा: तत् छन्दांसि यत्र वै छन्दांसि तत् वेदा:, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ वेद हैं, वहाँ छन्द हैं, जहाँ छन्द हैं, वहाँ वेद हैं, यह दो पृथक् पृथक् योनि हैं तथा इनका एक मिथुन है। १२. (यज्ञ: एव सविता दक्षिणा: सावत्री) यज्ञ सविता है दक्षिणा सावित्री है। (यत्र हि एव यज्ञ: तत् दक्षिणा:, यत्र वै दक्षिणा: तत् यज्ञ:, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ यज्ञ है, वहाँ दक्षिणा है, जहाँ दक्षिणा है, वहाँ यज्ञ है, यह दो पृथक् पृथक् योनि हैं तथा इनका एक युगल है।

उक्त व्यख्या के अनुसार सविता एवं सवित्री के द्वादश मिथुनों का विवरण निम्न प्रकार है—

	सविता	सावित्री	विवरण
१.	मन	वाणी	जहाँ मन है वहाँ वाणी है, जहाँ वाणी है, वहाँ मन है। ये दो योनि एक मिथुन है।
२.	अग्नि	पृथिवी	जहाँ अग्नि है, वहाँ पृथिवी है, जहाँ पृथिवी है,वहाँ अग्नि है, ये दो योनि,एक मिथुन है।
३.	वायु	अन्तरिक्ष	जहाँ वायु है वहाँ अन्तरिक्ष है, जहाँ अन्तरिक्ष है वहाँ वायु है, ये दो योनि, एक मिथुन है।
४.	आदित्य	द्यौ	जहाँ आदित्य है, वहाँ द्यौ है, जहाँ द्यौ है वहाँ आदित्य है, ये दो योनि तथा एक मिथुन है।
५.	चन्द्रमा	नक्षत्र	जहाँ चन्द्रमा है, वहाँ नक्षत्र हैं, जहाँ नक्षत्र हैं, वहाँ चन्द्रमा है, ये दो योनि, एक मिथुन

			है।
६.	अह: (दिन)	रात्रि	जहाँ दिन है, वहाँ रात्रि है, जहाँ रात्रि है, वहाँ दिन है, ये दो योन्रि तथा एक मिथुन है।
७.	उष्ण	शीत	जहाँ उष्ण है, वहाँ शीत है, जहाँ शीत है, वहाँ उष्ण है, ये दो योनि तथा एक मिथुन है।
८.	अभ्रम (मेघ)	वर्षा	जहाँ मेघ है वहाँ वर्षा है, जहाँ वर्षा है, वहाँ मेघ है, ये दो योनि तथा एक मिथुन है।
९.	विद्युत	गड़गड़ाहट	जहाँ आकाशीय विद्युत है वहाँ गड़गड़ाहट है, जहाँ गड़गड़ाहट है, वहाँ आकाशीय विद्युत है, ये दो योनि तथा एक मिथुन है।
१०.	प्राण	अन्न	जहाँ प्राण है, वहाँ अन्न है, जहाँ अन्न है, वहाँ प्राण है। ये दो योनि तथा एक मिथुन है।
११.	वेद	छन्द	जहाँ वेद हैं, वहाँ छन्द हैं, जहाँ छन्द हैं, वहाँ वेद हैं, ये दो योनि तथा एक मिथुन है।
१२.	यज्ञ	दक्षिणा	जहाँ यज्ञ है, वहाँ दक्षिणा है, जहाँ दक्षिणा है, वहाँ यज्ञ है, ये दो योनि तथा एक मिथुन है।

मिथुन शब्द का निर्वचन निरुक्त, ७।३१ में निम्न प्रकार दिया गया है।

(क) मिथुन शब्द में 'मि' धातु आश्रयार्थक है, उससे 'थु' प्रत्यय और तदनन्तर 'णीञ्' धातु है। इस प्रकार इसका निर्वचन होगा, मिथू समाश्रितौ अन्योन्यं नयत:। परस्पर आश्रित होते हुये एक दूसरे को प्राप्त करते हैं। मिथुनय=मिथुन। अथवा

(ख) 'मि' धातु से 'थ' प्रत्यय और उसके आगे 'वन' धातु है। ये परस्पर आश्रित होते हुये एक दूसरे का सेवन करते हैं। मि+थ+वन्। 'व' को

सम्प्रसारण द्वारा 'उ' होकर मिथुन। स्त्री पुरुष के जोड़े का वाचक मिथुन शब्द भी उपर्युक्त दोनों निर्वचनों से निष्पन्न होता है।

(ग) स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में एक अन्य निर्वचन भी है। 'मेथृ मेधाहिंसनयोः' तथा 'वन सम्भक्तौ' इन दो धातुओं के योग से भी स्त्री पुरुष वाचक मिथुन शब्द सिद्ध होता है। 'मैथन्तो अन्योऽन्यं वनुतः' ये एक दूसरे को बुद्धि देते हुये और किसी बुरे कर्म के करने पर ताड़ना करते हुये एक दूसरे का सेवन करते हैं।

योनि शब्द 'यु मिश्रणे अभिश्रणे च' धातु से, 'नित्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है, (उणा. ४।५१)

उणादि सूत्र, ४।५२ 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने योनि शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार दिया है।

'यौति संयोजयति पृथक् करोति वा स योनिः कारणम् उपस्थेन्द्रियं वा' जो संयोजित करती अथवा पृथक् करती है उसे योनि कहते हैं। इसीलिये जिस स्वरूप में आत्मा शरीर से संयुक्त होता है, उसे योनि कहते हैं, जैसे मनुष्य योनि, पशु योनि आदि।

गायत्री का प्रथम पाद

ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत्, तत्तपस्व यदि तद् व्रते ध्रियेत तत्सत्ये प्रत्यतिष्ठत्, सः सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्य्यदधात् तत् सवितुर्वरेण्यमिति सावित्र्याः प्रथमः पादः पृथिव्यर्चं समदधादृचाऽग्निमग्निना श्रियं, श्रिया स्त्रियम्, स्त्रिया मिथुनम्, मिथुनेन प्रजाम्, प्रजया कर्म, कर्मणा तपः, तपसा सत्यम्, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणम्, ब्राह्मणेन व्रतम, व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवनं भवति, य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्याः प्रथमं पादं व्याचष्टे ।। गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग, १।३४

मौद्गल्य ने मैत्रेय से कहा कि (इदं ब्रह्म ह श्रियं प्रतिष्ठां आयतनम् ऐक्षत्) नि:सन्देह इस ब्रह्म ने ही श्री अर्थात् शोभा एवं सम्पत्ति की प्रतिष्ठा तथा उनके आश्रय को देखा। (तत् तपस्व) अत: तप करो। (यदि तद् व्रते भवान् ध्रियेत तत् सत्ये प्रत्यतिष्ठत्) यदि आप उस व्रत को धारण करें तो आप सत्य में प्रतिष्ठित हो जायँ। (तात्पर्य यह है कि सत्य का आचरण करके ही तप किया जा सकता है। (स: सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्य्यदधात्) उस सविता ने सावित्री के साथ ब्राह्मण को उत्पन्न करके उसके लिये सब ओर से सावित्री को स्थापित किया, सावित्री का विधान किया। (तत् सवितु: वरेण्यम् इति सावित्र्या: प्रथम: पाद:) तत् सवितुर्वरेण्यम् यह सावित्री का प्रथम पाद है। इसका लोकों में पृथिवी, वेदों में ऋग्वेद तथा देवताओं में पृथिवी स्थानीय देवता अग्नि से सम्बन्ध है। प्रजापति ने क्रमश: (पृथिव्या ऋचम् समदधात्) पृथिवी के साथ ऋग्वेद, (ऋचा अग्निम्) ऋग्वेद के साथ अग्नि को, (अग्निना श्रियम्) अग्नि के साथ श्री को, (श्रिया स्त्रियम्) श्री के साथ स्त्री को, (स्त्रिया मिथुनम्) स्त्री के साथ स्त्री पुरुष के मिथुन को, (मिथुनेन प्रजाम्) मिथुन से सन्तान को (प्रजया कर्म) सन्तान रुपी प्रजा के साथ कर्म को, (कर्मणा तप:) कर्म के साथ तप को (तपसा सत्यम्) तप के साथ सत्य को,(सत्येन ब्रह्म) सत्य के साथ ब्रह्म अर्थात् वेद को, (ब्रह्मणा ब्राह्मणं) वेद के साथ ब्राह्मण को (ब्राह्मणेन व्रतम् समदधात्) ब्राह्मण के साथ ब्रह्मचर्य तथा सत्य आदि के व्रत को स्थापित किया। (व्रतेन वै ब्राह्मण: संशित: भवति) श्रेष्ठ आचरण के व्रत से ही ब्राह्मण तीक्ष्ण बुद्धि वाला, सद्गुणों से युक्त तथा (अशून्य: भवति) परिपूर्ण होता है, (अविच्छिन्न: भवति) एवं हर प्रकार से अविच्छिन्न होता है (अविच्छिन्न: अस्य तन्तु: अविच्छिन्नं जीवनं भवनं भवति.) उसकी वंश परम्परा अविच्छिन्न होती है, उसका जीवन और अस्तित्व हर प्रकार से अविच्छिन्न अर्थात् परिपूर्ण एवं श्रेष्ठ होता है, (य: एवं वेद य: च एवं विद्वान् एवं एतं सावित्र्या: प्रथमं पादं व्याचष्टे) जो इस प्रकार जानता है तथा जो ऐसा जानकर सावित्री के इस प्रथम पाद की

व्याख्या करता है।

इस उपनिषद् वाक्य में गायत्री साधना एवं तप के लिये सत्य के आचरण तथा योग दर्शन में उल्लिखित यम नियम रूपी महा व्रतों के पालन की महत्ता तथा अनिवार्यता पर बल दिया गया है। इसके बिना गायत्री की साधना सफल नहीं हो सकती। यहाँ व्रत का तात्पर्य उपवास रखना तथा उपवास के बहाने मिठाई आदि खाना नहीं है, जैसा कि आजकल अधिकांश लोग समझते हैं। यम नियम का पालन ही वास्तविक व्रत है और उसी से पुरुष की सांसारिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति होती है।

व्रतेनं दीक्षामांप्नोति दीक्षयांऽऽप्नोति दक्षिंणाम्।
दक्षिंणा श्रद्धामांप्नोति श्रद्धयां सत्यमांप्यते॥

यजुर्वेद,१९।३०

ब्रह्मचर्यादि यम नियम रूपी व्रतों का पालन करने से दीक्षा अर्थात् योग्यता एवं ज्ञान प्राप्त होता है, दीक्षा से दक्षिणा अर्थात् प्रतिष्ठा तथा धन प्राप्त होता है, दक्षिणा से श्रद्धा अर्थात् सत्य को धारण करने की क्षमता तथा सत्य के प्रति निष्ठा प्राप्त होती है और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।

गायत्री मन्त्र के दूसरे पाद की व्याख्या

भर्गो देवस्य धीमहीति सावित्र्या द्वितीयः पादोऽन्तरिक्षेण यजुः समदधात् यजुषा वायुं, वायुनाऽभ्रम् अभ्रेण वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पतीनोषधिवनस्पतिभिः पशून्, पशुभिः कर्म कर्मणा तपः, तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतम्, व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्या द्वितीयं पादं व्याचष्टे।

गोपथ, पूर्व.१।३५

(भर्गो देवस्य धीमहि इति सावित्र्या: द्वितीय: पाद:) 'भर्गो देवस्य धीमहि' यह सावित्री का द्वितीय पाद है। (अन्तरिक्षेण यजु:) ब्रह्म ने अन्तरिक्ष के साथ यजु: संज्ञक मन्त्रों को (यजुषा वायुम्) यजुर्वेद के साथ वायु को, (वायुना अभ्रम्) वायु के साथ मेघ को, (अभ्रेण वर्षम्) मेघ के साथ वर्षा को, (वर्षेण ओषधि वनस्पतीन्) वर्षा के साथ ओषधियों तथा वनस्पतियों को तथा ओषधि और वनस्पतियों के साथ पशुओं को, (पशुभि: कर्म) पशुओं तथा प्राणियों के साथ कर्म को, (कर्मणा तप:) कर्म के साथ तप को, (तपसा सत्यम्) तप के साथ सत्य को, (सत्येन ब्रह्म) सत्य के साथ ब्रह्म अर्थात् वेद को, (ब्रह्मणा ब्राह्मणम्) वेद के साथ ब्राह्मण को, (ब्राह्मणेन व्रतम् समदधात्) तथा ब्राह्मण के साथ यम नियमादि व्रतों को स्थापित किया। (व्रतेन वै ब्राह्मण: संशित: भवति) श्रेष्ठ आचरण के व्रत से ही ब्राह्मण तीक्ष्ण बुद्धि वाला, सद्गुणों से युक्त तथा (अशून्य: भवति) परिपूर्ण होता है, (अविच्छिन्न: भवति) तथा हर प्रकार से अविच्छिन्न होता है। (अविच्छिन्न: अस्य तन्तु: अविच्छिन्नं जीवनं भवति) उसकी वंश परम्परा तथा उसका जीवन अविच्छिन्न होता है, (य: एवं वेद य: च एवं विद्वान् एवं एतं सावित्र्या: द्वितीयं पादं व्याचष्टे) जो इस प्रकार जानता है तथा जो ऐसा जानकर सावित्री के इस द्वितीय पाद की व्याख्या करता है।

इस प्रकार गायत्री का द्वितीय पाद यजुर्वेद, अन्तरिक्ष, वायु, वर्षा, मेघ आदि शक्तियों तथा उनसे उत्पन्न होने वाली ओषधियों एवं वनस्पतियों आदि से जीवन को प्रभावित करता है और उसे श्रेष्ठ बनाता है।

गायत्री मन्त्र के तृतीय पाद की व्याख्या

धियो यो न: प्रचोदयादिति सावित्र्यास्तृतीय: पादो दिवा साम समदधात् साम्नाऽऽदित्यमादित्येन रश्मीन् रश्मिभिर्वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पतीनोषधिवनस्पतिभि: पशून् पशुभि: कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतं, व्रतेन वै ब्राह्मण: संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नो

भवत्यविच्छिनोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्यास्तृतीयं पादं व्याचष्टे ।

गोपथ, पूर्वभाग, १।३६

(धियो यो नः प्रचोदयात् इति सावित्र्याः तृतीयः पाद) 'धियो यो नः प्रचोदयात्' यह सावित्री का तृतीय पाद है। ब्रह्म ने (दिवा साम) द्युलोक के साथ साम को, (साम्ना आदित्यम्) साम के साथ आदित्य को, (आदित्येन रश्मीन्) आदित्य के साथ किरणों को, (रश्मिभिः वर्षम्) किरणों के साथ वर्षा को, (वर्षेण ओषधि वनस्पतीन्) वर्षा के साथ ओषधि तथा वनस्पतियों को, (ओषधिवनस्पतिभिः पशून्) ओषधि तथा वस्पतियों के साथ पशुओं तथा प्राणियों को, (पशुभिः कर्म) प्रणियों के साथ कर्म को, (कर्मणा तपः) कर्म के साथ तप को, (तपसा सत्यम्) तप के साथ सत्य को, (सत्येन ब्रह्म) सत्य के साथ ब्रह्म अर्थात् वेद को, (ब्रह्मणा ब्राह्मणम्) वेद के साथ ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को, (ब्राह्मणेन व्रतम् समदधात्) तथा ब्राह्मण के साथ व्रत को स्थापित किया। (व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति) श्रेष्ठ आचरण के व्रत से ही ब्राह्मण तीक्ष्ण बुद्धि वाला, सद्गुणों से युक्त एवं (अशून्यः भवति) परिपूर्ण होता है (अविच्छिन्नः भवति) तथा हर प्रकार से अविच्छिन्न होता है, (अविच्छिन्नः अस्य तन्तुः अविच्छिन्नं जीवनं भवति) उसकी वंश परम्परा तथा उसका जीवन अविच्छिन्न होता है, (यः एवं वेद यः च एवं विद्वान् एवं एतं सावित्र्याः तृतीयं पादं व्याचष्टे) जो इस प्रकार जानता है तथा जो ऐसा जानकर सावित्री के इस तृतीय पाद की व्याख्या करता है।

इस प्रकार यह तृतीय पाद द्युलोक, सामवेद, आदित्य, रश्मियाँ, वर्षा तथा उससे उत्पन्न होने वाली ओषधियों एवं वनस्पतियों के माध्यम से जीवन को प्रभावित करते हुये उसे पुष्ट करता है तथा श्रेष्ठ बनाता है।

यहाँ सावित्री के विभिन्न पादों का सम्बन्ध निम्न प्रकार दिखाया गया है।

प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद
तत्सवितुर्वरेण्यम्	भर्गो देवस्य धीमहि	धियो यो नः प्रचोदयात्
पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक
ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद
अग्नि	वायु	आदित्य
भूः	भुवः	स्वः

यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सविता ने सावित्री के साथ ही ब्राह्मण को उत्पन्न करके उसके सब ओर सावित्री को स्थापित कर दिया अर्थात् उसके लिये सावित्री का विधान किया, अतः ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये सावित्री की उपासना परमावश्यक है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सावित्री की उपासना के लिये यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म, तप, सत्य, वैदिक ज्ञान, एवं यम नियम रूपी महाव्रतों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

तेन ह वा एवं विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्माभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं, ब्रह्मणाकाशमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्, आकाशेन वायुरभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टो, वायुना ज्योतिरभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं, ज्योतिषाऽपोऽभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा, अद्भिर्भूमिरभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा, भूम्याऽन्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः, प्राणेन मनोऽभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं, मनसा वागभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा, वाचा वेदा अभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा, वेदैर्यज्ञोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टस्तानि ह वा एतानि द्वादशमहाभूतान्येवंविधिप्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञ एव परार्द्ध्यः। गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग, १।३७

(तेन ह वै एवम् विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्म अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) निश्चय ही ऐसा विद्वान् ब्राह्मण ब्रह्म को भली प्रकार प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म

के साथ उसका तादात्म्य एवं एकरूपता स्थापित हो जाती है। वह ब्रह्म के साथ संयुक्त हो जाता है। यह उपासना की सर्वश्रेष्ठ अवस्था का आलंकारिक वर्णन है। अनेक स्थलों पर कहा गया है कि जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' मुण्डकोपनिषद्, ३।२।९

(ब्रह्मणा आकाशम् अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) ब्रह्म के द्वारा आकाश सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (आकाशेन वायुः अभिपन्नः ग्रसितः परामृष्टः) आकाश के द्वारा वायु को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (वायुना ज्योतिः अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) वायु के द्वारा अग्नि को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (ज्योतिषा अपः अभिपन्नाः ग्रसिताः परामृष्टाः) अग्नि के द्वारा जल को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (अद्भिः भूमिः अभिपन्ना, ग्रसिता परामृष्टा) जल के द्वारा भूमि को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (भूम्या अन्नम् अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) भूमि के द्वारा अन्न को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (अन्नेन प्राणः अभिपन्नः ग्रसितः परामृष्टः) अन्न के द्वारा प्राण को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (प्राणेन मनः अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) प्राण के द्वारा मन को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (मनसा वाक् अभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा) मन के द्वारा वाणी को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (वाचा वेदाः अभिपन्नाः ग्रसिताः परामृष्टाः) वाणी के द्वारा वेदों को सब ओर से धारण किया गया है, ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (वेदैः यज्ञः अभिपन्नः ग्रसितः परामृष्टः) वेदों के द्वारा यज्ञ को सब ओर से धारण किया गया है,

ग्रसित किया गया है तथा व्याप्त किया गया है। (तानि ह वै एतानि द्वादश महाभूतानि एवं विधि प्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञ: एव परार्द्ध्य:) नि:सन्देह यह द्वादश महाभूत इस प्रकार से प्रतिष्ठित हैं, इनमें यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार गायत्री के माध्यम से की गयी ब्रह्मोपासना द्वारा ब्राह्मण क्रमश:, ब्रह्म, ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से ज्योति (ज्योति में आदित्य, विद्युत तथा अग्नि तीनों सम्मिलित हैं।) ज्योति से जल, जल से भूमि, भूमि से अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से वाणी, वाणी से वेद, वेद से यज्ञ, इन बारह महाभूतों को प्राप्त करता है, क्योंकि ये महाभूत क्रमश: एक दूसरे से अभिपन्न संयुक्त ग्रसित तथा परामृष्ट अर्थात् परस्पर मिले हुये हैं। इन महाभूतों का उपर्युक्त क्रम ही वास्तव में सृष्टिक्रम, सृष्टि चक्र है, जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में स्पष्ट रूप से बताया गया है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत: । आकाशाद्वायु: । वायोरग्नि: । अग्नेराप: । अद्भ्य: पृथिवी । पृथिव्या ओषधय: । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुष: । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय: ।

तैत्तरीय उपनिषद्, २।१।२

(तस्माद् वै एतस्माद् आत्मन: आकाश: सम्भूत:) नि:सन्देह उस ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, (आकाशाद् वायु:) आकाश से वायु, (वायो: अग्नि:) वायु से अग्नि, (अग्ने: आप:) अग्नि से जल, (अद्भ्य: पृथिवी) जल से पृथिवी, (पृथिव्या: ओषधय:) पृथिवी से ओषधियाँ, (ओषधीभ्य: अन्नम्) ओषधियों से अन्न, भोज्य पदार्थ, (अन्नात् पुरुष:) तथा अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। (स: वै एष: पुरुष: अन्नरसमय:) निश्चय ही यह पुरुष अन्न रस मय है।

ब्राह्मण के उक्त निर्देश के अनुसार मानव का परम कर्तव्य यज्ञ अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण एवं दान है। यज्ञ द्वारा नि:स्वार्थभाव से समस्त प्राणियों के लिये कल्याणकारी कार्य करके अपने जीवन को यज्ञमय बनाना ही सावित्री की वास्तविक साधना है। यह व्यष्टि से समष्टि

की ओर तथा आत्मा से परमात्मा की ओर ऊपर उठने का सोपान है। यही मनुष्य के स्वर्गारोहण तथा मोक्ष का देवयान मार्ग है, उसके पुण्य कर्मों से बना हुआ उसका श्रेष्ठ जीवन पथ है। अपने कर्मों द्वारा अपने कर्तव्यों के पालन द्वारा भगवान् की अर्चना करने का अत्यन्त महत्वपूर्ण उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा निम्न प्रकार किया गया है।

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।।

गीता, १८।४६

जिससे समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जिससे यह समस्त संसार व्याप्त है, उस परमात्मा की अपने कर्मों द्वारा आराधना करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त करता है।

यहाँ यह उल्लेख करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि यज्ञ में किसी प्रकार की हिंसा का कोई स्थान नहीं है।

स हि वेदमयो यज्ञ: सर्वभूत सुखावह:।
उभयोर्लोकयोस्तात हिंसावर्ज्य: सनातन:।।

हरिवंश पुराण, महाभारत, भविष्य पर्व, १७।५३

हे तात ! वह हिंसारहित सनातन वेदमय यज्ञ इस लोक और परलोक में समस्त प्राणियों के लिये सुखदायक होता है।

'तेषां यज्ञ एव परार्द्ध्य:' उनमें यह यज्ञ ही सर्व श्रेष्ठ है, यह वचन अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं मननीय है। समस्त प्राणियों के लिए सुखदायक एवं लाभकारी यह यज्ञ वैदिक संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, जिसे आज पूरी तरह भुला दिया गया है। यज्ञ की महिमा को पुन: स्थापित करना हमारा परम कर्तव्य है क्योंकि

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शतपथ ब्राह्मण, १।७।१।५

यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।

यज्ञ की महिमा का वर्णन करते हुये भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

गीता, ३।१०

(प्रजापतिः पुरा प्रजाः सृष्ट्वा) सृष्टि की आदि में प्रजापति ने प्रजा को यज्ञ के साथ उत्पन्न करके कहा कि (अनेन प्रसविष्यध्वम्, एषः वः इष्टकामधुक् अस्तु) तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो। यह यज्ञ तुम लोगों की मनोवांच्छित कामनाओं की पूर्ति करने वाला हो।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।

गीता, ३।११

(अनेन देवान् भावयत) इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की वृद्धि करो, उनका उत्कर्ष करो, (ते देवाः वः भावयन्तु) और वे देवता तुम लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार (परस्परं भावयन्तः परम् श्रेयः अवाप्स्यथ) परस्पर कर्त्तव्य रुप से एक दूसरे की उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होगे।

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।

गीता, ३।१२

(यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते) यज्ञ द्वारा बढ़ाये गये, सन्तुष्ट किये गये देवता तुम लोगों के लिये अभिलषित भोगों को प्रदान करेंगे। (तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय) उन देवों के द्वारा प्रदत्त भोगों को यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों द्वारा उन्हें न देकर, उनका ऋण न चुका कर (यः भुङ्क्ते सः स्तेनः एव) उनका जो भोग करता है, अपने शरीर एवं इन्द्रियों को तृप्त करता है तथा अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है, वह देवताओं के स्वत्व को हरण करने वाला चोर ही है।

देवताओं का ऋण चुकाने वाला, देवों की अभिवृद्धि करने का

प्रयास करने वाला कैसा श्रेष्ठ जीवन दर्शन है हमारा, जिसे भुलाकर आज हम केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगे हैं और जीवन देने वाली प्रकृति माता तथा अन्य देवताओं का शोषण कर रहें हैं। जल और वायु दो ऐसे महान् देव हैं जो हमारे ऊपर क्षण क्षण कृपा करते हैं और हमें जीवन देते हैं किन्तु हम प्रत्युपकार में उनके लिये क्या करते हैं, केवल जल एवं वायु का प्रदूषण। जल एवं वायु आदि महान् देवों की पुष्प एवं अक्षत आदि से पूजा करना आवश्यक नहीं है। इनकी सच्ची पूजा है प्रदूषण से इनका संरक्षण। हर सम्भव प्रयास करके इन्हें निर्मल बनाना तथा प्रकृति का सन्तुलन अविच्छिन्न रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै:।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

गीता, ३।१३

(यज्ञशिष्टाशिन: सन्त: सर्वकिल्विषै: मुच्यन्ते) यज्ञ से बचे हुए अमृत रूपी अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापों से छूट जाते हैं। (ये पापा: आत्मकारणात् पचन्ति ते तु अघं भुञ्जते) जो उदर परायण लोग केवल अपने लिये ही अन्न पकाते हैं, वे पापी हैं और वास्तव में अन्न नहीं बल्कि पाप ही खाते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भव:।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ: कर्मसमुद्भव:।।

गीता,३।१४

(भूतानि अन्नात् भवन्ति) समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, (अन्न पर्जन्यात् सम्भव:) अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, (पर्जन्य: यज्ञात् भवति) वृष्टि यज्ञ से होती है। (यज्ञ: कर्म समुद्भव:) तथा यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है, कर्म द्वारा सम्पन्न किया जात. है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।

गीता, ३।१५

(कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि) कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जानो, (ब्रह्म अक्षर समुद्भवम्) वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं, (तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्) अतएव सर्वव्यापी परब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।

गीता, ३।१६

(पार्थ) हे पार्थ ! (यः इह एवं प्रवर्तितं चक्रं न अनुवर्तयति) जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार ईश्वर द्वारा यज्ञ के साथ चलाये हुये संसार चक्र के अनुसार व्यवहार नहीं करता अर्थात् यज्ञ द्वारा देवों को सन्तुष्ट नहीं करता तथा प्रकृति के सन्तुलन को अक्षुण्ण रखने का प्रयास नहीं करता, (सः इन्द्रियारामः अघायुः मोघं जीवति) वह इन्द्रियारामः अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा केवल विषयों में रमण करने वाला और अघायुः अर्थात् पापमय जीवन व्यतीत करने वाला पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

तं ह स्मैतमेवं विद्वांसो मन्यन्ते विद्म एनमिति याथातथ्यमविद्वांसोऽयं यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितो, वेदा वाचि प्रतिष्ठिता, वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता, मनः प्राणे प्रतिष्ठितम्, प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितोऽन्नं भूमौ प्रतिष्ठितं भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता, आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिता, ज्योतिर्वायौ प्रतिष्ठितम् वायुराकाशे प्रतिष्ठितः, आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितं, ब्रह्म ब्राह्मणे ब्रह्मविदि प्रतिष्ठितं, यो ह वा एवं वित् स ब्रह्मवित् पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान् सोऽपहतपाप्मानन्तां श्रियमश्नुते य एवं वेद

यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम्।

गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग, १।३८

(तं ह स्म एतम् एवं विद्वांसः मन्यन्ते विद्म: एनम् इति याथातथ्यम् अविद्वांसः) उस यज्ञ को इस प्रकार जानने वाले बहुत से लोग मानते हैं कि हम उसे पूरी तरह जानते हैं किन्तु सचमुच वे अज्ञानी हैं। (अयं यज्ञः वेदेषु प्रतिष्ठितः) यह यज्ञ वेदों में प्रतिष्ठित है, (वेदाः वाचि प्रतिष्ठिताः) वेद वाणी में प्रतिष्ठित हैं, (वाक् मनसि प्रतिष्ठिता) वाणी मन में प्रतिष्ठित है, (मनः प्राणे प्रतिष्ठितम्) मन प्राण में प्रतिष्ठित है, (प्राणः अन्ने प्रतिष्ठितः) प्राण अन्न में प्रतिष्ठित है। (अन्नं भूमौ प्रतिष्ठितम्) अन्न भूमि में प्रतिष्ठित है, (भूमिः अप्सु प्रतिष्ठिता) भूमि जल में प्रतिष्ठित है, (आपः ज्योतिषि प्रतिष्ठिताः) जल अग्नि में प्रतिष्ठित है, (ज्योतिः वायौ प्रतिष्ठितम्) अग्नि वायु में प्रतिष्ठित है, (वायुः आकाशे प्रतिष्ठितः) वायु आकाश में प्रतिष्ठित है, (आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितम्) आकाश ब्रह्म में प्रतिष्ठित है, (ब्रह्म ब्रह्मविदि ब्राह्मणे प्रतिष्ठितम्) ब्रह्म, वेदज्ञ ब्राह्मण में प्रतिष्ठित हैं, (यः है व एवं वित्) निःसन्देह जो ऐसा जानने वाला है, (सः ब्रह्मवित्) वह ब्रह्मज्ञानी (पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान् लभते सः अपहतपाप्मानन्तां श्रियं अश्नुते) पुण्य तथा कीर्ति को प्राप्त करता है, उसका जीवन सुगन्धित होता है तथा वह समस्त पापों से छुटकारा पाकर अनन्त श्री अर्थात् शोभा और सम्पत्ति को प्राप्त करता है, (यः एवं वेद, यः च एवं विद्वान् एवम् एतां वेदानां मातरं सावित्री सम्पदम् उपनिषदं उपास्ते) जो ऐसा जानता है, और जो ऐसा जानते हुये वेदमाता सावित्री की उपासना करता है।

इस ब्राह्मण वाक्य में वेदानां मातरं पाठ शुद्ध नहीं है क्योंकि यह वेद विरुद्ध है। वेद में वेदमाता पाठ है, वेदानां माता नहीं।

इस ब्राह्मण में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कथन किया गया है कि यज्ञ वेद में प्रतिष्ठित है, जिससे स्पष्ट है कि यज्ञ केवल वेदानुसार वेदमन्त्रों से ही किया जाना चाहिये किन्हीं श्लोकों अथवा चौपाइयों आदि से नहीं।

यहाँ जिस चक्र का उल्लेख किया गया है, वह निम्न प्रकार है–

१. ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से वाणी, वाणी में वेद प्रतिष्ठित हैं, वेद से यज्ञ उत्पन्न हुआ। वेद एवं यज्ञ द्वारा विद्वान् ब्राह्मण ब्रह्म को प्राप्त करता है।

२. प्रतिष्ठा:–यज्ञ वेद में प्रतिष्ठित है, वेद वाणी में, वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण अन्न में, अन्न पृथिवी मे, पृथिवी जल में, जल अग्नि मे, अग्नि वायु में, वायु आकाश में तथा आकाश ब्रह्म में प्रतिष्ठित है।

उपनयन संस्कार में सावित्री दीक्षा

द्विजों, विशेषरूप से ब्राह्मणों के लिये उपनयन संस्कार का अत्यन्त महत्व है किन्तु दुर्भाग्य से आज हम अज्ञानवश इसके महत्व की उपेक्षा करते जा रहे हैं तथा इसे केवल एक परम्परा मानकर मात्र औपचारिकता निभा रहें हैं। इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में एक महत्वपूर्ण प्रकरण आया है, जो निम्न प्रकार है।

ब्रह्मचर्यमागामित्याह। ब्रह्मणऽएवैतदात्मानं निवेदयति ब्रह्मचार्यसानीत्याह ब्रह्मणऽएवैतदात्मानं परिददात्यथैनमाह को नामासीति प्रजापतिर्वै क: प्राजापत्यमेवैनं तत्कृत्वोपनयते।

शतपथ ब्राह्मण,११।५।४।१

कोई भी कर्म दृढ़ संकल्प के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। अत: पहले वटुक संकल्प करता है कि (ब्रह्मचर्य आगाम्) मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त होऊँ। संसार में जब कोई किसी महापुरुष से कार्य कराना चाहता है तो उसे उससे मिलकर निवेदन करना होता है। इसी प्रकार यहाँ ब्रह्म प्राप्ति के लिये अपने को योग्य बनाने का लक्ष्य रखने वाला बालक (ब्रह्मण एव आत्मानं निवेदयति) अपने को मानों ब्रह्म के समीप उपस्थित होकर निवेदन करता है कि (ब्रह्मचारी आसानि) मैं ब्रह्मचारी बनूं तथा (ब्रह्मण: एव एतद् आत्मानं परिददाति) अपने को ब्रह्म को ही अर्पण कर देता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी का जीवन ब्रह्म को ही समर्पित रहता है,अपने परिवार

को नहीं। वह परिवार, जाति आदि की संकुचित सीमाओं से बाहर निकल जाता है और अपने को समष्टि के साथ संयुक्त कर देता है। (अथ एनम् आह) तब इससे कहा जाता है कि (कः नामा असि इति) तुम्हारा नाम 'क' है। (प्रजापति वै कः) प्रजापति ही 'क' है, (प्रजापत्यम् एव एनं कृत्वा उपनयते) इस प्रकार उसे प्रजापति का ही पुत्र बनाकर उसका उपनयन संस्कार किया जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में वह अपने पिता का पुत्र नहीं रहता बल्कि 'क' नाम वाले प्रजापति परमात्मा का पुत्र हो जाता है। यह है विद्यार्थी जीवन एवं ब्रह्मचर्य आश्रम का भारतीय आदर्श जिसमें विद्यार्थी किसी परिवार का सदस्य नहीं रहता बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति का सदस्य होता है और उसकी निष्ठा केवल ब्रह्म के प्रति होती है, अन्य किसी के प्रति नहीं।

अथास्य हस्तं गृह्णाति । इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासावित्येते वै श्रेष्ठे बलिष्ठे देवते एताभ्यामेवैनꣳ श्रेष्ठाभ्यां बलिष्ठाभ्यां देवताभ्यां परिददाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्तिमार्छति न स य एवं वेद।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।२

(अथ अस्य हस्तं गृह्णाति) तत्पश्चात् उसका हाथ पकड़ कर आचार्य कहते हैं कि (इन्द्रस्य ब्रह्मचारी असि) तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है, (अग्निः आचार्यः तव अहम् आचार्यः तव) अग्नि तेरा आचार्य है, मैं तेरा आचार्य हूँ, (असौ इति) यह तुम्हारा नाम है, (एते वै श्रेष्ठे बलिष्ठे देवते) इन्द्र तथा अग्नि देवताओं में सबसे श्रेष्ठ तथा बलिष्ठ हैं। (एताभ्यां एव एनं श्रेष्ठाभ्यां बलिष्ठाभ्यां देवताभ्यां परिददाति) अतः इन्हीं श्रेष्ठ और बलिष्ठ देवताओं के प्रति ब्रह्मचारी को समर्पित करता है, (तथा ह अस्य ब्रह्मचारी न कां चन आर्तिं आर्छति) इस प्रकार इस आचार्य का ब्रह्मचारी किसी आपत्ति से ग्रस्त नहीं होता, (न स य एवं वेद) ... न वह जो इस प्रकार जानता है।

इन्द्र तथा अग्नि को अर्पण करने का तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्मचारी

इन्द्र के सर्वोत्कृष्ट तथा अग्नि के समान पवित्र एवं तेजस्वी बनने का व्रत लेता है तथा तदनुसार आचरण करता है। ऐसे ब्रह्मचारी का कष्टों से मुक्त रहना स्वाभाविक है।

अथैनं भूतेभ्यः परिददाति । प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामीत्येते वै श्रेष्ठे वर्षिष्ठे देवतेऽएताभ्यामेवैनꣳ श्रेष्ठाभ्यां वर्षिष्ठाभ्यां देवताभ्याम् परिददाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्तिमार्छति न स य एवं वेद। शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।३

आचार्य ब्रह्मचारी को अपने सेवा में अपने स्वार्थ की पूर्ति में नहीं लगाता बल्कि (अथ एनं भूतेभ्यः परिददाति) उसे समस्त प्राणियों के कल्याण के लिये अर्पण कर देता है और कहता है कि (प्रजापतये त्वा परिददामि) तुझे प्रजापति को देता हूँ, (देवाय सवित्रे त्वा परिददामिति) तुझे सविता देव को देता हूँ, (एते वै श्रेष्ठे वर्षिष्ठे देवते) निःसन्देह ये देवता श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ हैं, (एताभ्यां एव एनं श्रेष्ठाभ्यां वर्षिष्ठाभ्यां देवताभ्यां परिददाति) अतः इन श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ देवताओं के प्रति इस ब्रह्मचारी को अर्पण करता है। (तथा ह अस्य ब्रह्मचारी न कां चन आर्तिं आर्छति) इस प्रकार इस आचार्य का ब्रह्मचारी किसी विपत्ति से ग्रस्त नहीं होता, (न स य एवं वेद) और न वह जो इस प्रकार जानता है।

सविता देव समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले तथा समस्त प्राणियों को प्रेरणा देने वाले हैं और प्रजापति समस्त प्राणियों का पालन पोषण करने वाले तथा उनकी रक्षा करने वाले हैं। अतः इन श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ देवताओं के प्रति ब्रह्मचारी को अर्पण किया जाता है, जिससे वह श्रेष्ठ प्रेरणा प्राप्त कर सके और अपने को समस्त प्राणियों से प्रेम करने वाला तथा उनकी रक्षा करने वाला बन सके।

अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामीति। तदेनमद्भ्यश्चौषधिभ्यश्च परिददाति द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामीति तदेनमाभ्यां

द्यावापृथिवीभ्यां परिददाति ययोरिदं सर्वमधि विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्याऽइति तदेनं सर्वेभ्यो भूतेभ्यः परिददात्यरिष्ट्यै तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्तिमार्छति न स य एवं वेद।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।४

प्रकृति के साथ ब्रह्मचारी का तादात्म्य स्थापित करने के लिये आचार्य कहते हैं कि, (अद्भ्यः त्वा औषधीभ्यः परिददामि) तुझे जलों तथा औषधियों को अर्पण करता हूँ और इस प्रकार कहकर (तद एनं अद्भ्यः च औषधीभ्यः च परिददाति) इस ब्रह्मचारी को जलों तथा औषधियों को अर्पण करते हैं। (द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि इति) तुझे द्युलोक एवं पृथिवी को अर्पण करता हूँ, ऐसा कहकर (तद् एनम् आभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां परिददाति) उसे द्यौ एवं पृथिवी के प्रति अर्पण करते हैं, (योः इदं सर्व अधि) क्योंकि इन्हीं दोनों के मध्य समस्त संसार है। (विश्वेभ्यः त्वा भूतेभ्यः परिददामि अरिष्ट्यै इति) समस्त भूतों के कल्याण के लिये तुझे अर्पण करता हूँ, ऐसा कहकर, (तद् एनं सर्वेभ्यः भूतेभ्यः परिददाति अरिष्ट्यै) उसे कल्याण के लिये समस्त भूतों को अर्पण करते हैं। (तथा ह अस्य ब्रह्मचारी न कां चन आर्तिं आर्छति) इस प्रकार उसका ब्रह्मचारी किसी विपत्ति में नहीं पड़ता (न स य एवं वेद) और न वह जो इस प्रकार जानता है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को शिक्षा दी जाती है कि उसका जीवन समस्त भूत मात्र के कल्याण के लिये समर्पित है और समस्त भूतों के कल्याण में ही उसका कल्याण निहित है। कैसी अनोखी शिक्षा, अनोखी जीवन पद्धति है यह!

ब्रह्मचार्यसीत्याह। ब्रह्मणऽएवैनं तत्परिददात्यपोऽशानेत्यमृतं वाऽआपोऽमृतमशानेत्येवैनं तदा ह कर्म कुर्विति वीर्यं वै कर्म वीर्यं कुर्वित्येवैनं तदाह समिधमाधेहीति समिन्त्स्वात्मानं

तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेत्येवैनं तदाह मा सुषुप्था इति मा मृथा इत्येवैनं तदाहापोऽशानेत्यमृतं वाऽआपोऽमृतमशानेत्येवैनं तदाह तदेनमुभयतोऽमृतेन परिग्रह्णाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्तिमार्छति न स य एवं वेद।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।५

(ब्रह्मचारी असि इति आह) तू ब्रह्मचारी है ऐसा कहकर आचार्य (ब्रह्मण: एव एनं परिददाति) उसे ब्रह्म को ही अर्पण कर देते हैं। (अपो अशान इति अमृतं वा आपो अमृतं अशान इति एव एनं तदा आह) जब आचार्य ने ब्रह्मचारी से कहा कि (अपो अशान) जल का आचमन करो तब इसका तात्पर्य है कि उससे अमृतपान करने के लिये कहा क्योंकि (आपो अमृतं) जल अमृत है। (कर्म कुरु इति वीर्यं वै कर्म वीर्यं कुरु इति एव एनं तदा आह) जब आचार्य ने उससे कहा कि कर्म करो तब इसका तात्पर्य है कि उससे वीर्य एवं बल का अर्जन करने के लिये कहा क्योंकि वीर्य अथवा बल ही कर्म है। (बल के बिना कोई कर्म नहीं हो सकता इसीलिये कहा गया है कि बल ही कर्म है।) (समिधं आधेहि इति समिन्त्स्व आत्मानं तेजसा ब्रह्मवर्चसा इति एव एनं तदा आह) जब उससे कहा कि 'समिधा को धारण करो' तो इसका तात्पर्य है कि उसे अपनी आत्मा को तेज तथा ब्रह्मवर्चस् से युक्त करने के लिये कहा (मा सुषुप्था: इति मा मृथा: इति एव एनं तदा आह) जब उससे कहा कि मत सोओ तो इसका तात्पर्य है कि उससे कहा कि मृत्यु को प्राप्त न हो। (अपो अशान इति अमृतं वा, आपो अमृतं अशान इति एव एनं तदा आह) जब उससे कहा कि जल का पान करो तो इसका तात्पर्य है कि उसे अमृत पान करने के लिये कहा क्योंकि जल अमृत है, (तद् एनं उभ्यत: अमृतेन परिगृह्णाति) इस प्रकार आचार्य उसे दोनों ओर से अमृत से आवृत करते हैं। (तथा ह अस्य ब्रह्मचारी न कां चन आर्तिम् आर्छति) इस प्रकार उनका ब्रह्मचारी किसी विपत्ति में नहीं पड़ता, (न स य एवं वेद) और न वह जो इस प्रकार जानता है।

आचार्य अपने ब्रह्मचारी को न केवल खान पान द्वारा अमृत से

युक्त करता है बल्कि उसे सदा जागरुक रहकर, आलस्य, अकर्मण्यता एवं अज्ञानरूपी मृत्यु से दूर रहकर अमृत प्राप्त करने के लिये प्रेरित करता है। वह उसे ओजस्वी, बलशाली एवं कर्मनिष्ठ होने की शिक्षा देता है तथा ब्रह्मचारी को यह महत्वपूर्ण प्रेरणा देता है कि वह अपने आत्मा को तेज एवं ब्रह्मवर्चस् अर्थात् ब्रह्मज्ञान के प्रकाश से युक्त करे। कैसा महान् आदर्श और कैसी अनोखी शिक्षा है यह!

यही श्रेष्ठ जीवन दर्शन बृहदारण्यक उपनिषद् की इस प्रसिद्ध प्रार्थना में परिलक्षित होता है।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति।

बृहदारण्यक उपनिषद्, १।३।२८

(असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय इति) हे प्रभो! असत् से मुझे सत् की ओर ले चलिये, अन्धकार से मुझे प्रकाश की ओर ले चलिये, मृत्यु से मुझे अमृत की ओर ले चलिये।

इस महान् प्रार्थना को स्पष्ट करते हुये उपनिषद् की शिक्षा देने वाले महर्षि स्वयं कहते हैं कि जब उसने कहा कि मुझे असत् से सत् की ओर ले चलिये तो यहाँ (मृत्युः वा असत् सद् अमृतम्) मृत्यु ही असत् है तथा सत् अमृत है। (मृत्योः मा अमृतं गमय, अमृतं मा कुरु इति एव एतद् आह) अतः वास्तव में उसने यही कहा कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलिये, मुझे अमृत कर दीजिये। (तमसो मा ज्योतिर्गमय इति मृत्युः वै तमः ज्योतिः अमृतम्) जब उसने कहा कि मुझे तम से प्रकाश की ओर ले चलिये, तो यहाँ मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ज्योति है, मुझे अमृत कर दीजिये। (मृत्योः मा अमृतं गमय इति अत्र न तिरोहितं इव अस्ति) और जब उसने कहा कि मृत्यु से मुझे अमृत की ओर ले चलिये तो यहाँ कुछ भी छिपा हुआ नहीं है।

उपर्युक्त अर्पण एवं शिक्षा के उपरान्त आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को पवित्र सावित्री का उपदेश कब दिया जाय, इसके विषय में कहा गया है

कि आचार्य मानो ब्रह्मचारी को गर्भ मे धारण करता है तथा बालक का जन्म गर्भधारण के एक वर्ष बाद होता है । अत: पहले ब्रह्मचारी के आलंकारिक रुप में जन्म लेने पर अर्थात् एक वर्ष पश्चात् ही उसे सावित्री का उपदेश दिया जाता था किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों की अनोखी शैली में कारण बताते हुये अन्त में यह कहा गया है कि ब्राह्मण को सावित्री का उपदेश तुरन्त कर देना चाहिये ।

आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को गर्भ के समान धारण किये जाने के सम्बन्ध में अथर्व वेद का यह मन्त्र दर्शनीय है—

आचार्य॑ उपनयं॑मानो ब्रह्मचारिणं॑ कृणुते गर्भ॑मन्त:। तं रात्री॑स्तिस्र उदरे॑ बिभर्ति तं जातं द्रष्टुं॑मभिसंयं॑न्ति देवा:।।

अथर्ववेद, ११।५।३

(ब्रह्मचारिणं उपनयमान: आचार्य:) उपनयन संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी को अपने समीप प्राप्त करता हुआ, अपने निकट रखता हुआ आचार्य (कृणुते गर्भम् अन्त:) उसे मानो गर्भ के समान स्नेह पूर्वक अपने अन्दर धारण करता है तथा (तं तिस्र: रात्री: उदरे बिभर्ति) उसे तीन रात्रि तक मानो अपने उदर में रखता है । तत्पश्चात् उपनयन संस्कार द्वारा आचार्य के गर्भ से उत्पन्न होने वाले उस द्विजन्मा ब्रह्मचारी को देखने के लिये विद्वान् लोग आते हैं ।

जिस प्रकार नवजात शिशु को देखने के लिये इष्ट मित्र तथा सम्बन्धी आते हैं, उसी प्रकार इस नवजात, नव-सुसंस्कृत ब्रह्मचारी को देखने के लिये विद्वान् लोग आते हैं और उसे आशीर्वाद देते हैं । गुरु तथा शिष्य के सम्बन्ध का कैसा अलौकिक एवं आलंकारिक वर्णन है यह ! वैदिक धर्म एवं संस्कृति का कैसा सुन्दर रुप है यह !

यह उल्लेखनीय है कि कठोपनिषद् के अनुसार नचिकेता भी अपने गुरु यम के यहाँ तीन रात्रि तक रहा था जिसके पश्चात् ही यम ने उसे

ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी थी।

अथास्मै सावित्रीमन्वाह । ताꣳ ह स्मैतां पुरा संवत्सरेऽन्वाहुः संवत्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्मऽ इति ।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।६

(अथ अस्मै सावित्रीम् अन्वाह) तत्पश्चात् आचार्य ब्रह्मचारी को सावित्री का उपदेश करता है। (तां ह स्म एतां पुरा संवत्सरे अन्वाहुः) पहले सावित्री का उपदेश संवत्सर के पश्चात् किया करते थे क्योंकि गर्भ एक वर्ष में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने पर ही इसका उपदेश किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि आचार्य ब्रह्मचारी को गर्भ के समान धारण करता है अतः आलंकारिक रूप से कल्पना की गयी है कि एक वर्ष के पश्चात् ब्रह्मचारी का द्वितीय जन्म होने के उपरान्त ही उसे सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये।

अथ षट्सु मासेषु । षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते, जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्मऽ इति। शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।७

(अथ षट् मासेषु) अथवा छः मास में सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये क्योंकि (षड् वै ऋतवः) संवत्सर में ६ ऋतुयें होती हैं, (संवत्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते) एक संवत्सर में ही गर्भ जन्म लेते हैं, (जात एव अस्मिन् तद् वाचं दध्म इति) और जन्म लेने पर ही उसे सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये।

अथ चतुर्विꣳशत्यहे । चतुर्विꣳ शतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवस्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्मऽ इति ।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।८

(अथ चतुर्विंशति अहे) अथवा चौबीस दिन के पश्चात् सावित्री की

दीक्षा दी जानी चाहिए क्योंकि (चतुर्विंशतिः वै संवत्सरस्य अर्धमासाः) क्योंकि संवत्सर में चौबीस ही अर्धमास होते हैं (संवत्सर संमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते) वर्ष भर में ही गर्भ जन्म लेते हैं, (जात एव अस्मिन् तद् वाचं दध्म इति) और जन्म लेने पर ही उसे सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये।

अथ द्वादशाहे। द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सर संमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्म इति।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।९

अथवा बारह दिन में सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये क्योंकि (द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य) संवत्सर में बारह ही मास होते हैं (संवत्सर संमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते) एक संवत्सर में ही गर्भ जन्म लेते हैं। (जात एव अस्मिन् तद् वाचं दध्म इति) और जन्म लेने पर ही उसे सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये।

अथ षडहे। षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सर संमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्म इति।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।१०

(अथ षडहे) अथवा छः दिन में सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिए क्योंकि (षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य) संवत्सर में छः ऋतुयें होती हैं। (संवत्सर संमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते) एक संवत्सर में ही गर्भ जन्म लेतें हैं। (जात एव अस्मिन् तद् वाचं दध्म इति) और जन्म लेने पर ही उसे सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये।

अथ त्र्यहे। त्रयो वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सर संमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽएवास्मिंस्तद्वाचं दध्म इति।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।११

(अथ त्र्यहे) अथवा तीन दिन में सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिए क्योंकि (त्रयः वा ऋतवः संवत्सरस्य) संवत्सर में तीन ही ऋतुयें होती हैं। (संवत्सर संमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते) एक संवत्सर में ही गर्भ जन्म

लेते हैं, (जात एव अस्मिन् तद् वाचं दध्म इति) और जन्म लेने पर ही उसे सावित्री की दीक्षा दी जानी चाहिये।

तदपि श्लोकं गायन्ति—इस विषय में यह श्लोक गाते हैं।

आचार्यो गर्भी भवति हस्तमाधाय दक्षिणम्।
तृतीयस्याꣳ स जायते सावित्र्या सह ब्राह्मण इति॥

(दक्षिणम् हस्तम् आधाय आचार्यः गर्भी भवति) आचार्य दाहिना हाथ शिष्य के ऊपर रखने से मानो गर्भ धारण करने वाला हो जाता है, जिसके उपरान्त (तृतीयस्यां स ब्राह्मणः सावित्र्या सह जायते) तीसरी रात्रि को सावित्री के साथ उस ब्राह्मण बालक का जन्म होता है।

सद्यो ह त्वाव ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मणः सद्यो वाऽअग्निर्जायते तस्मात्सद्य एव ब्राह्मणायानुब्रूयात्॥

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।१२

(सद्यः त्वा व ब्राह्मणाय अनुब्रूयाद्) अथवा ब्राह्मण को तुरन्त ही सावित्री का उपदेश कर दे। (आग्नेयः वै ब्राह्मणः) ब्राह्मण अग्नि रूप होता है, (सद्यः वै अग्निः जायते) और अग्नि तत्काल ही उत्पन्न हो जाती है, (तस्मात् सद्यः एवं ब्राह्मणाय अनुब्रूयात्) अतः ब्राह्मण को तुरन्त ही सावित्री का उपदेश कर देना चाहिये।

अनुष्टुभ् छन्द वाली सावित्री का निषेध

ताꣳ हैतामेके। सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वाग्वाऽअनुष्टुप्तदस्मिन्वाचं दध्म इति न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयादान्वाऽअयमस्य वाचमदित मूको भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात्तस्मादेतां गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।१३

(तां ह एतां सावित्रीं एके अनुष्टुभं अन्वाहुः) कुछ लोग अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं और कहते हैं कि (वाग् वा अनुष्टुप्) वाणी अनुष्टुप् है (तद् अस्मिन् वाचं दध्म इति) अतः इस

ब्रह्मचारी में वाणी की स्थापना कर दें किन्तु (तथा न कुर्याद्) ऐसा न करें क्योंकि (य: ह एनं ब्रूयाद्) इससे यदि कोई कहने लगे कि (अन्वा अयम् अस्य वाचं अदित मूक: भविष्यति) इसने आचार्य की वाणी ले ली है अत: यह गूँगा हो जायेगा (इति ईश्वर: ह तथा एव स्यात्) तो निश्चय ही वैसा ही हो जायेगा। (तस्मात् एतां गायत्रीम् एव सावित्रीं अनुब्रूयात्) अत: इसे गायत्री छन्द वाली सावित्री का ही उपदेश करना चाहिये।

यही निर्देश बृहदारण्यक उपनिषद् में भी दिया गया है।

तांꣳ हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाच-मनुब्रूम इति न तथा कुर्याद् गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद् यदि ह वा अप्येवं विद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद् गायत्र्या एकंचन पदं इति।

बृहदारण्य उपनिषद्, ५।१४।५

(ताम् ह एताम् एके सावित्रीम् अनुष्टुभम् अन्वाहु:) कुछ लोग गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश न करके अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हुये कहते हैं कि (वाक् अनुष्टुप् एतद् वाचम् अनुब्रूम: इति) वाक् अनुष्टुप् है अत: हम वाक् का ही उपदेश करते हैं किन्तु (न तथा कुर्यात्) ऐसा नहीं करना चाहिये। (गायत्रीम् एव सावित्रीम् अनुब्रूयाद्) गायत्री छन्द वाली सावित्री का ही उपदेश करना चाहिये। (यदि ह वै अप्येव विद् बह्विव प्रतिगृह्णाति) यदि इस प्रकार से जानने वाला अर्थात् गायत्री छन्द वाली सावित्री को जानने वाला बहुत प्रतिग्रह भी करे (न ह एव तद् गायत्र्या: एकंचन पदं प्रति) तो भी वह गायत्री के एक पद के बराबर भी नहीं हो सकता अर्थात् प्रतिग्रह से उत्पन्न होने वाला समस्त दोष गायत्री के एक पद से ही नष्ट हो जाता है।

ब्राह्मण के लिये प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना बड़ा भारी दोष माना गया है क्योंकि इससे उसका तप नष्ट हो जाता है। यहाँ यह कहा गया है कि गायत्री की उपासना से यह दोष नष्ट हो जाता है।

अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री

अनुष्टुप् छन्द चार पदों का होता है और इसके प्रत्येक पद में आठ अक्षर होते हैं। अनुष्टुप् छन्द में जो मन्त्र है उसका भी देवता सविता है, अत: उसे भी सावित्री कहा जाता है। अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री अर्थात् सविता देवता वाला मन्त्र निम्न प्रकार है–

तत् संवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजंनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातंमं तुरं भगंस्य धीमहि।।

ऋग्वेद, ५।८२।१

(सवितु:) समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले, उसका पालन पोषण करने वाले तथा उसको प्रेरणा देने वाले (तत् देवस्य) उस परब्रह्म के (भोजनम्) हमारे द्वारा भोग किये जाने योग्य धन तथा ऐश्वर्य का (वयं वृणीमहे) हम वरण करते हैं तथा उस (भगस्य) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर के (श्रेष्ठं सर्वधातमम्) सर्वश्रेष्ठ एवं सबको धारण करने वाले (तुरम्) समस्त शत्रुओं एवं दु:खों, कष्टों तथा पापों का शीघ्र नाश करने वाले सामर्थ्य का हम (धीमहि) ध्यान करते हैं, उसे अपने अन्दर धारण करते हैं।

सामान्य जीवन में हम इच्छा करते हैं कि किसी उच्च पद पर आसीन होकर हम शासन के अधिकारों तथा उससे प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य को अपने अन्दर धारण करें, किन्तु यहाँ प्रार्थना की गयी है कि हम न केवल किसी राजा अथवा शासन के अधिकारों को अपने अन्दर धारण करें बल्कि समस्त जगत् पर शासन करने वाले ईश्वर के सामर्थ्य के, उसके ऐश्वर्य के कुछ अंश को अपने अन्दर धारण करें। इससे बढ़कर और क्या हो सकता है, कैसी सुन्दर प्रार्थना है यह!

अथ हैके दक्षिणत: तिष्ठते वासीनाय वान्वाहुर्न तथाकुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयाद्धुल्बं न्वाऽअयमिममजीजनत बुल्बो भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात्तस्मात्पुरस्तादेव प्रतीचे समीक्षमाणायानुब्रूयात। शतपथ ब्राह्मण,११।५।४।१४

(अथ ह एके दक्षिणत: तिष्ठते वा आसीनाय व अन्वाहु:) कुछ लोग आचार्य के दक्षिण में खड़े या बैठे शिष्य को उपदेश करते हैं, किन्तु (न तथा कुर्याद्) ऐसा न करे क्योंकि (य: ह एनं तत्र ब्रूयाद्) जो कोई इससे कहे कि (बुल्बं न्वा अयं इमम् अजीजनत् बुल्ब: भविष्यति इति) आचार्य ने इसे तिरछा जाना अत: यह आचार्य के विरुद्ध हो जायेगा (ईश्वर: ह तथा एव स्यात्) तो निश्चय ही ऐसा हो जायेगा। (तस्मात् पुरस्ताद् एव प्रतीचे समीक्षमाणाय अनुब्रूयात्) अत: आचार्य पूर्वाभिमुख होकर पश्चिम की ओर देखने वाले शिष्य को ही शिक्षा दे।

तां वै पछोऽन्वाह। त्रयो वै प्राणा: प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिंस्तद्दधात्यथार्धर्चशो द्वौ वाऽइमौ प्राणौ प्राणोदानावेव प्राणोदानावेवास्मिंस्तद्दधात्यथ कृत्स्नामेको वाऽअयं प्राण: कृत्स्न एव प्राणमेवास्मिंस्तत्कृत्स्नं दधाति।

शतपथ ब्राह्मण, ११।५।४।१५

(तां वै पछ: पदश: अन्वाह) पहले वह पद पद करके गायत्री के तीन पदों का उपदेश करे। (त्रय: वै प्राणा: प्राण उदान: व्यान:) प्राण तीन हैं प्राण, उदान, व्यान। (तान् एव अस्मिन् तद् दधाति) इस प्रकार तीन पदों की अलग अलग दीक्षा देकर मानों इन तीन प्राणों को इस शिष्य में स्थापित करता है। (अथ अर्ध ऋचश:) तत्पश्चात् आधी आधी ऋचा का उपदेश करे। (द्वौ वा: इमौ प्राणौ प्राणोदानो एव) प्राण दो ही हैं, प्राण और उदान। (प्राणोदानो एव अस्मिन् तद् दधाति) इस प्रकार आधे आधे मन्त्र का दो बार में उपदेश करके मानों प्राण एवं उदान को इसमें स्थापित करता है। (अथ कृत्स्नाम्) तत्पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री का एक बार में ही उपदेश करे, (एक: वा अयं प्राण: कृत्स्न: एव) वास्तव में यह प्राण एक ही है, सम्पूर्ण मुख्य प्राण। (प्राणं एव अस्मिन् तत् कृत्स्नं दधाति) इस प्रकार सम्पूर्ण सवित्री का एक बार में ही उपदेश करके आचार्य इस ब्रह्मचारी में मानों सम्पूर्ण प्राण स्थापित करता है।

भारतीय संस्कृति की यह अति श्रेष्ठ मान्यता है कि उपनयन

संस्कार में दी गयी गायत्री दीक्षा से ही द्विज का जन्म होता है क्योंकि सदाचार सद्बुद्धि एवं ज्ञान के बिना कोई द्विज नहीं हो सकता।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

जन्म से बालक शूद्र होता है, संस्कार से द्विज कहा जाता है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा।।

मनुस्मृति, २।१४८

(वेदपारगः आचार्यः तु अस्य यां जातिं सावित्र्यां विधिवद् उत्पादयित) वेदिविद् आचार्य सावित्री की विधिवद् दीक्षा से शिष्य को जिस जाति में उत्पन्न करता है, (सा सत्या अजरा अमरा) वह सत्य तथा अजर, अमर है। इसमें सन्देह नहीं कि गायत्री उपासना तथा सत्य एवं सदाचार पर आधारित मनीषियों एवं तपस्वियों की यह जाति सदा अजर अमर है।

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते।।

मनुस्मृति, २।१७०

(तत्र मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् अस्य यद् ब्रह्मजन्म) इस ब्रह्मचारी का मौञ्जीबन्धन अर्थात् उपनयन संस्कार के समय ब्राह्मण के रूप में जो जन्म होता है। (तत्र अस्य माता सावित्री) उसमें सावित्री को उसकी माता तथा (पिता तु आचार्यः उच्यते) आचार्य को पिता कहा जाता है।

द्वे जन्मनी द्विजातीनां मातुः स्यात् प्रथमं तयोः।
द्वितीयं छन्दसां मातुर्ग्रहणाद् विधिवद् गुरोः।।

व्यास स्मृति, १।२२

(द्विजातीनां द्वे जन्मनी) द्विजातियों के दो जन्म होते हैं। (तयोः मातुः स्यात्) उनमें से प्रथम माता से होता है, (द्वितीयं गुरोः छन्दसां

मातु: गृह्णात्) तथा दूसरा जन्म उपनयन संस्कार में विधिवद् गुरु से समस्त छन्दों की माता गायत्री मन्त्र के ग्रहण से होता है।

यही भाव मनुस्मृति में निम्न प्रकार कहा गया है–

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्।।

मनुस्मृति,२।१६९

वेद के अनुसार द्विज का प्रथम जन्म माता से, द्वितीय जन्म यज्ञोपवीत संस्कार से तथा तृतीय जन्म यज्ञ दीक्षा से होता है।

यथा स्पर्शमणिस्पर्शात् ताम्रोऽपि काञ्चनं भवेत्।
गायत्रीसहितश्चात्मा द्विजात्मा तेन ईरित:।।

गायत्री तन्त्र।

जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से ताम्र भी सुवर्ण बन जाता है, उसी प्रकार गायत्री मन्त्र से दीक्षित जीवात्मा द्विजत्व को प्राप्त करता है।

गायत्री मञ्जरी

तैत्तिरीय उपनिषद् में जिन पाँच कोशों का उल्लेख किया गया है, उन्हीं को गायत्री मञ्जरी में गायत्री के पाँच मुख बताया गया है। उत्तरोत्तर सूक्ष्म ये पाँच कोश वास्तव में पुरुष शरीर के ही भिन्न भिन्न स्तर हैं। इनका आश्चर्यजनक रूप से सरल किन्तु वैज्ञानिक वर्गीकरण अध्यात्म के क्षेत्र में भारतीय चिन्तन की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करता है।

माँ के गर्भ में सर्वप्रथम निर्मित होने वाला स्थूल शरीर ही प्रथम कोश है, जिसे अन्नमय कोश कहा जाता है क्योंकि यह अन्न से ही बनता है, उसी से जीवित रहता है तथा उसी से पुष्ट होता है। यह कोश अन्य सभी कोशों का आधार है।

यदि केवल शरीर हो और उसमें प्राण न हों तो ऐसे शरीर को मृत कहा जाता है तथा उसे थोड़ी देर तक भी सुरक्षित रखना कठिन होता है। शरीर से सूक्ष्म तथा इसे जीवित रखने वाला प्राण जिस सूक्ष्म शरीर में कार्य करता है, उसे प्राणमय कोश कहा जाता है।

शरीर हो और उसमें प्राण भी हो किन्तु मन न हो तो वह शरीर कोई कार्य नहीं कर सकता और केवल जीवित लाश ही कहा जा सकता है, पुरुष नहीं। मन ही इस प्राणमय शरीर को चलाता है और इसे नियन्त्रित करता है, इसे जीने योग्य बनाता है। जिस सूक्ष्म शरीर में यह मन कार्य करता है, उसे मनोमय कोश कहते हैं।

प्राण एवं मन से पूर्ण किन्तु ज्ञान से रहित शरीर भी निरर्थक है और ऐसे मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर नहीं है। पशु तथा पुरुष का प्रमुख अन्तर पुरुष का श्रेष्ठ ज्ञान विज्ञान ही है। जिस सूक्ष्म शरीर में यह ज्ञान विज्ञान कार्य करता है, उसे विज्ञानमय कोश कहा जाता है। यह कोश पूर्व के तीन कोशों से कहीं अधिक सूक्ष्म है और उन्हें नियन्त्रण में रखता है।

पुरुष जीवन का प्रमुख उद्देश्य तथा जीवात्मा का प्रमुख लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना है। अपने ज्ञान एवं श्रेष्ठ कर्मों के फल स्वरुप जीवात्मा जिस सूक्ष्म शरीर में आनन्द का अनुभव करता है, उसे आनन्दमय कोश

कहते हैं।

गायत्री उपासना से इन पाँचों कोशों की पुष्टि होती है तथा मनुष्य के अवगुणों और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों का नाश होता है। गायत्री मञ्जरी के कुल ४६ श्लोकों में से कुछ महत्वपूर्ण श्लोक यहाँ उद्धृत हैं

एकदा तु महादेवं कैलाश गिरि संस्थितम्।
पप्रच्छ पार्वती वन्द्या पूज्यं विवुध मण्डलैः।।

गायत्री मञ्जरी,१

एक बार कैलाश पर्वत पर विराजमान, विद्वानों के पूज्य महादेव जी से वन्दनीया पार्वती जी ने पूछा।

कतमं योगमासीनो योगेश त्वमुपासते।
येन हि परमां सिद्धिं प्राप्नुवान् जगदीश्वर।।

गायत्री मञ्जरी,२

हे जगदीश्वर! हे योगेश्वर! योग में आसीन होकर आप किसकी उपासना करते हैं जिससे आप ने परम सिद्धि प्राप्त की है।

श्रुत्वा तु पार्वती वाचं मधुसिक्तां श्रुतिप्रियाम्।
समुवाच महादेवो विश्वकल्याण कारकः।।

गायत्री मञ्जरी, ३

पार्वती जी की मधुर एवं कर्ण प्रिय वाणी सुनकर विश्व का कल्याण करने वाले महादेव बोले।

महद्रहस्यं तद्गुप्तं यत्तु पृष्टं त्वया प्रिये।
तथापि कथयिष्यामि स्नेहात्वामहं समम्।।

गायत्री मञ्जरी, ४

हे प्रिये ! तुम्हारे द्वारा जो पूछा गया है, वह अत्यन्त गुप्त एवं गूढ़ रहस्य है फिर भी स्नेह वश वह सारा तुमसे कहूँगा।

गायत्री वेद माताऽस्ति साद्य: शक्तिर्मता भुवि।
जगतां जननी चैव तामुपासेऽहमेव हि।।

गायत्री मञ्जरी, ५

गायत्री वेदमाता अर्थात् ज्ञान की माँ है। पृथिवी पर वह आद्या शक्ति मानी जाती है। वही समस्त संसार की माता है, मैं उसी की उपासना करता हूँ।

योगिकानां समस्तानां साधनानां तु हे प्रिये।
गायत्र्येव मता लोके मूलाधारो विदांवरै:।।

गायत्री मञ्जरी,६

हे प्रिये! समस्त यौगिक साधनों के लिये, श्रेष्ठ विद्वानों ने संसार में गायत्री को ही मूल आधार माना है।

अतिरहस्यमय्येषा गायत्री तु दश भुजा।
लोकेऽति राजते पञ्च धारयन्ति मुखानि तु।।

गायत्री मञ्जरी, ७

दश भुजाओं वाली अत्यन्त रहस्यमयी यह गायत्री संसार में पाँच मुखों को धारण करती हुई अत्यन्त शोभित होती है।

विभर्ति पञ्चावरणान् जीव: कोशास्तु ते मता:।
मुखानि पञ्च गायत्र्यास्तानेव वेद पार्वति।।

गायत्री मञ्जरी,१२

जीवात्मा पाँच आवरणों को धारण करता है। ये आवरण ही पाँच कोश माने गयें हैं। हे पार्वती ! उन्हीं को गायत्री के पाँच मुख समझो।

इन कोशों को गायत्री के पाँच मुख इसलिये कहा गया है कि वह इन पाँचों कोशों को पुष्ट करती है और इन्हीं के माध्यम से मनुष्य के जीवन को सफल एवं सुखी बनाती है तथा अन्त में गायत्री उपासना से यह जीवात्मा इन पाँचों कोशों का अतिक्रमण करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त

करता है।

विज्ञानमयान्नमय प्राणमय मनोमया:।
तथानन्दमयश्चैव पञ्च कोशा: प्रकीर्तिता:।।

गायत्री मञ्जरी, १३

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये पाँच कोश कहे गये हैं।

लोकानां तु शरीराणि ह्यन्नादेव भवन्ति नु।
उपत्यकासु स्वास्थ्यं च निर्भरं वर्तते सदा।।

गायत्री मञ्जरी, १७

लोगों के शरीर तो अन्न से बनते हैं तथा उनका स्वास्थ्य सदा उपत्यकाओं पर निर्भर है।

आसनेनोपवासेन तत्व शुद्ध्या तपस्यया।
चैवान्नमय कोशस्य संशुद्धिरभिजायते।।

गायत्री मञ्जरी, १८

आसन, उपवास, तत्व शुद्धि तथा तपस्या से अन्नमय कोश की शुद्धि होती है।

ऐश्वर्य: पुरुषार्थश्च तेज: ओजो यशस्तथा।
प्राणशक्त्या तु वर्धन्ते लोकानामित्यसंशयम्।।

गायत्री मञ्जरी, १९

निश्चय ही प्राण शक्ति से मनुष्यों का ऐश्वर्य, पुरुषार्थ, तेज तथा यश बढ़ता है।

पञ्चभिस्तु महाप्राणैर्लघुप्राणैश्च पञ्चभि:।
एतै प्राणमय: कोशो जातो दशभिरुत्तम:।।

गायत्री मञ्जरी, २०

पाँच महाप्राण तथा पाँच लघु प्राण इन दस प्रकार के प्राणों से उत्तम प्राणमय कोश बना है। प्राण के पाँच मुख्य भेद होते हैं प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान। लघु प्राण के भी पाँच भेद होते हैं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय।

बन्धेन मुद्रयाचैव प्राणायामेन चैव हि।
एष: प्राणमय: कोशो यतमानं तु सिद्ध्यति।।

गायत्री मञ्जरी, २१

बन्ध, मुद्रा तथा प्राणायाम द्वारा यत्नशील पुरुष इस प्राणमय कोश को सिद्ध अथवा पुष्ट करता है।

चेतनाया हि केन्द्रस्तु मनुष्याणां मनोमतम्।
जायते महतीत्वन्त: शक्तिस्तस्मिन् वशंगते।।

गायत्री मञ्जरी, २२

मनुष्यों में मन को चेतना का केन्द्र माना गया है। उस मन को वश में कर लेने से महती अन्त:शक्ति उत्पन्न होती है।

ध्यान त्राटक तन्मात्रा जपानां साधनैर्ननु।
भवत्युज्वल: कोश: पार्वत्येष मनोमय:।।

गायत्री मञ्जरी, २३

हे पार्वती ! ध्यान, त्राटक, तन्मात्रा तथा जप द्वारा साधना करने से यह मनोमय कोश निश्चय ही उज्वल हो जाता है।

यथावत् पूर्णतो ज्ञानं संसारस्य च स्वस्य च।
न्यूनाभित्येव विज्ञानं प्रोक्तं विज्ञानवेत्तृभि:।।

गायत्री मञ्जरी, २४

बाह्य जगत् तथा अध्यात्म के पूर्ण एवं सत्य ज्ञान को ही विज्ञानवेत्ताओं द्वारा विज्ञान कहा गया है।

आनन्दावरणोन्नत्यात्यन्त शान्ति प्रदायिका।
तुरीयास्थितिर्लोके साधकं त्वधिगच्छति।।

गायत्री मञ्जरी,२७

आनन्दमय कोश की उन्नति से साधक को अत्यन्त शान्ति देने वाली तुरीयावस्था प्राप्त होती है।

भूलोकस्यास्य गायत्री कामधेनुर्मता बुधैः।
लोक आश्रयनेनामुं सर्वमेवाधिगच्छति।।

गायत्री मञ्जरी, २९

विद्धानों ने गायत्री को भूलोक की कामधेनु माना है। इसका आश्रय लेकर सब कुछ प्राप्त कर लिया जाता है।

दशभुजास्तु गायत्र्याः प्रसिद्धा भुवनेषु याः।
पञ्चशूल महाशूलान्येताः संकेतयन्ति हि।।

गायत्री मञ्जरी, ३१

संसार में गायत्री की जो दश भुजायें प्रसिद्ध हैं, वे पाँच शूल तथा पाँच महाशूलों की ओर संकेत करती हैं।

दृष्टिस्तु दोषसंयुक्ता परेषामवलम्बनम्।
भयश्च क्षुद्रतासावधानता स्वार्थयुक्तता।।
अविवेकस्तथाक्रोधस्तृष्णालस्यं तथैव च।
एतानि दश शूलानि शूलदानि भवन्ति हि।।

गायत्री मञ्जरी, ३४

दोषयुक्त दृष्टि, परावलम्बन, भय, क्षुद्रता, असावधानता, स्वार्थपरता, अविवेक, क्रोध, तृष्णा और आलस्य ये दश दुःखदायी शूल हैं।

निजैर्दश भुजैर्नूनं शूलान्येतानि तु दश।
संहरते हि गायत्री लोक कल्याण कारिणी।।

गायत्री मञ्जरी, ३५

संसार का कल्याण करने वाली गायत्री अपनी दश भुजाओं से निश्चय ही इन दश शूलों का संहार करती है।

गायत्र्येव तपो योगः साधनं ध्यानमुच्यते।
सिद्धीनां सा मता माता नातः किंचिद्बृहत्तरम्।।

गायत्री मञ्जरी, ४४

गायत्री को ही तप, योग, साधना तथा ध्यान कहा जाता है। यह सिद्धियों की माता मानी गयी है, इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

गायत्री साधना लोके न कस्यापि कदापि हि।
याति निष्फलतामेतत् ध्रुवं ,सत्यं हि भूतले।।

गायत्री मञ्जरी, ४५

कभी भी, किसी की गायत्री साधना संसार में निष्फल नहीं जाती, पृथिवी पर यह ध्रुव सत्य है।

....

शा॒न्तानिं पूर्व॒रू॒पाणिं शा॒न्तं नो अस्तु कृताकृ॒तम्।
शा॒न्तं भू॒तं च॒ भव्यं॑ च॒ सर्व॑मे॒व शमस्तु नः।।

अथर्ववेद, १९।९।२

(शान्तानि पूर्व रुपाणि) कार्यों के पूर्वरूप हमारे लिये शान्तिदायक हों (शान्तं नः अस्तुः कृताकृतम्) हमारे कृत एवं अकृत अर्थात् किये हुये कर्म तथा जो कर्तव्य करने से रह गये हैं, वे सब हमारे लिये शान्ति दायक हों, (शान्तं भूतं च भव्यं च) भूत भविष्य तथा वर्तमान शान्ति दायक हों (सर्वम् एव शम् अस्तु नः) तथा सभी कुछ हमारे लिये शान्ति दायक हो ।

गायत्री रामायण

गायत्री का इतना महात्म्य है कि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में प्रथम श्लोक तथा तदुपरान्त लगभग प्रत्येक सहस्र श्लोकों के पश्चात् एक एक श्लोक गायत्री के एक एक अक्षर से प्रारम्भ किया है । इस प्रकार २४००० श्लोकों वाली वाल्मीकि रामायण मानों गायत्री का एक विशाल शद्ब चित्र अथवा सांस्कृतिक एवं सामाजिक रूप है क्योंकि गायत्री वैदिक संस्कृति का प्रतीक है ।

गायत्री के अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले रामायण के श्लोक जिन्हें गायत्री रामायण कहा जाता है, निम्न प्रकार हैं-

१. तत्

तप: स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ।।

बालकाण्ड,१।१

तपस्वी वाल्मीकि जी ने तपस्या एवं स्वाध्याय में निरन्तर रत रहने वाले तपस्वी, वाग्विदों में श्रेष्ठ ऋषिवर नारद से पूछा।

यहाँ वाणी का मर्म समझने वालों, वाणी का ज्ञान रखने वालों में श्रेष्ठ 'वाग्विदां वरम्' शद्ब कितना सुन्दर है। रामायण का प्रारम्भ 'तप' शब्द से होना अपने आप में ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा भारतीय संस्कृति में तप के महत्व को दिखाता है । इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि यदि मनुष्य को ऊँचा उठना है तो उसे तप तथा स्वाध्याय करते हुये लोक कल्याण के लिये सतत् प्रयत्नशील होना चाहिये तथा अहंकार त्याग कर अपने से श्रेष्ठ विद्वान् से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जैसा कि महर्षि वाल्मीकि ने किया ।

२. स

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दन: ।
ऋषिभि: पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ।।

बालकाण्ड ३०।२४

यज्ञ को नष्ट करने वाले समस्त राक्षसों को मारकर वह राम, पूर्वकाल में असुरों पर विजय प्राप्त करने वाले इन्द्र के समान, ऋषियों द्वारा पूजित हुये।

यह श्लोक वास्तव में भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। पवित्र कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाले राक्षस हैं, जिन्हें समूल नष्ट करना वीरों का परम कर्तव्य है तथा ब्राह्मणों एवं मनीषियों द्वारा ऐसे वीरों का सम्मान करके उन्हें प्रोत्साहित करना भी हमारी ओजस्वी परम्परा का महत्वपूर्ण अङ्ग है।

३. वि

विश्वामित्रः सरामस्तु श्रुत्वा जनकभाषितम्।
वत्स! राम! धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत्॥

बालकाण्ड ६७।१२

श्रीराम सहित विश्वामित्र ने जनक का कथन सुनकर राघव से कहा–

"वत्स राम! इस धनुष को देखो।"

४. तु

तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स शाम्यतेः।
शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत॥

बालकाण्ड १५।१९,२०

सुमन्त ने राजभवन में प्रवेश करके महाराज दशरथ के वंश की प्रशंसा की तथा नरेन्द्र के शयनागार के समीप जाकर खड़े हो गये।

५. व

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वसुरो ददौ॥

बालकाण्ड ४०।१४

पति के साथ जाने वाली सीता के लिये उनके श्वसुर ने वनवास की वर्ष संख्या गिनकर उसके अनुसार ही वस्त्र तथा आभूषण दिये।

६. र

राजा सत्यं च धर्मश्च राजाकुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्।।

बालकाण्ड ६७।३४

राजा ही सत्य तथा धर्म है, राजा ही कुलवानों का कुल है, राजा ही माता पिता है तथा राजा ही मनुष्यों का हित करने वाला है।

राजा के सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति की यह मान्यता कितनी सत्य एवं महत्वपूर्ण है। इसीलिये कहा जाता है, 'यथा राजा तथा प्रजा'। जब राजा अपने कर्तव्यों का भली प्रकार पालन करता है तभी सत्य एवं धर्म की प्रतिष्ठा होती है, तभी सज्जनों की रक्षा होती है तथा राष्ट्र का हित होता है।

७. ण=न

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम्।
उटजे राममासीनं जटामण्डल धारिणम्।।

अयोध्याकाण्ड ९९।२५

पर्णशाला की ओर क्षणभर देखकर भरत ने जटामण्डल धारण किये हुये अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री राम को कुटिया में बैठे देखा।

८. य

यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महामते।।

अरण्यकाण्ड ११।४३

हे महामते! यदि आपने महामुनि अगस्त्य के दर्शनों के लिये विचार बना लिया है तो आज ही वहाँ की यात्रा के लिये भी निश्चय करें।

९. भ

भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो ।
मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिष्यति ।।

अरण्यकाण्ड ४३।१८

हे प्रभो ! इस मृग का दिव्य रूप भरत के, आपके, मेरी सासुओं तथा मेरे लिये भी विस्मयकारी होगा ।

१०. ग

गच्छ शीघ्रमितो वीर सुग्रीवं तं महाबलम् ।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ।।

अरण्यकाण्ड ७२।१७

हे वीर राघव ! आप शीघ्र ही महाबली सुग्रीव के पास जाइये और यहाँ से जाकर शीघ्र ही उसे अपना मित्र बना लीजिये ।

११. दे

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाण: प्रियाप्रिये ।
सुखदु:ख सह: काले सुग्रीववशगो भव ।।

किष्किन्धाकाण्ड २२।२०

(बालि अपने पुत्र अंगद को शिक्षा देते हुये कहता है कि) हे पुत्र! अब देश काल के अनुसार कब कहाँ कैसे आचरण करना चाहिये इसे समझो । समयानुसार प्रिय अप्रिय, सुख दु:ख का सहन करो तथा (क्षममाण:) क्षमाशील बनो और सुग्रीव की आज्ञा पालन में रहो ।

१२. व

वन्दितव्यास्तत: सिद्धास्तपसा वीतकल्मषा: ।
पृष्टव्या चापि सीताया: प्रंवृत्तिर्विनयान्वितै: ।।

किष्किन्धाकाण्ड ४३।३२,३३

जिनके पाप तपस्या से धुल गये हैं, उन सिद्ध पुरुषों को तुम लोग

प्रणाम करना तथा विनम्र भाव से सीता का समाचार पूछना।

१३. स्य

स निर्जित्य पुरीं लङ्कां श्रेष्ठां तां कामरूपिणीम्।
विक्रमेण महातेजा हनूमान् कपि सत्तमः॥

सुन्दरकाण्ड ४।१

इच्छानुसार रूप धारण करने वाली उस श्रेष्ठ लङ्कापुरी को उन महान् तेजस्वी वानर शिरोमणि हनुमान् ने अपने पराक्रम से जीत लिया।

१४. ध

धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
मम पश्यन्ति ये वीरं रामं राजीवलोचनम्॥

सुन्दरकाण्ड २६।३९

शोक में व्याकुल होकर सीता जी कहती हैं कि वे देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षिगण धन्य हैं जो मेरे वीर शिरोमणि, कमल नयन श्री राम के दर्शन कर रहे हैं।

१५. म

मङ्गलाभिमुखी तस्य सा तदासीन्महाकपेः।
उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम्॥

सुन्दरकाण्ड ५३।२६

उस समय विशाललोचना पवित्र हृदया सीता महाकपि हनुमान् के लिये मंगलकामना करती हुयीं अग्निदेव की उपासना में संलग्न हो गयीं।

१६. हि

हितं महार्थं मृदु हेतुसंहितं,
व्यतीतकालायतिसम्प्रतिक्षमम्।

निशम्य तद्वाक्यमुपस्थितज्वरः
प्रसंगवानुत्तरमेतदब्रवीत् ।।

युद्धकाण्ड १०।२७

विभीषण की हितकारी, महान् अर्थ की साधक, कोमल, तर्कसंगत एवं भूत भविष्य तथा वर्तमान, तीनों कालों के लिये उपयुक्त बातों को सुनकर रावण को मानो ज्वर हो आया और उसने असहमत होते हुये उत्तर दिया।

सच कहा है कि काल के वशीभूत,अहंकारी,अविवेकी तथा बुद्धि-भ्रष्ट लोगों पर समझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विनाश काले विपरीत बुद्धिः।

काल दण्ड लै काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि विचारा

रामचरितमानस

१७. ध

धर्मात्मा राक्षसश्रेष्ठः सम्प्राप्तोऽयं विभीषणः।
लङ्कैश्वर्यमिदं श्रीमान् ध्रुवं प्राप्नोत्यकण्टकम् ।।

युद्धकाण्ड ४१।६८

श्री रामचन्द्र जी बालितनय अंगद से कहते हैं- 'राक्षसों में श्रेष्ठ यह धर्मात्मा श्रीमान् विभीषण यहाँ आये हैं। निश्चय ही लङ्का का निष्कण्टक राज्य इन्हें ही मिलेगा।'

१८. यो

यो वज्रपाताशनिसंनिपाता-
न्नचुक्षुभे नापि चचाल राजा।
स राम बाणाभिहतो भृशार्त-
श्चचाल चापं च मुमोच वीरः

युद्धकाण्ड ५९।१३९

जो लङ्काधिपति रावण, वज्र और अशनि के आघात से भी कभी क्षुब्ध एवं विचलित नहीं हुआ था, वही वीर उस समय श्रीराम के बाणों से घायल होकर अत्यन्त आर्त एवं कम्पित हो उठा तथा उसके हाथ से धनुष छूटकर गिर पड़ा।

१९. य

यस्यविक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम् ।।

युद्धकाण्ड ७२।११

रावण ने कहा कि जिनके बल विक्रम का सामना करके असंख्य राक्षस काल के गाल में चले गये, मैं उन वीर रघुनाथ को रोग शोक से रहित साक्षात् नारायण रुप मानता हूँ।

२०. न

न ते ददृशिरे रामं दहन्तमपि व्राहिनीम्।
मोहिताः परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मना ।।

युद्धकाण्ड ९३।२६

राक्षस सेना को दग्ध करते हुये श्री राम को वे राक्षस देख नहीं सके क्योंकि महात्मा श्री राम ने उन्हें परम गान्धर्व अस्त्र से मोहित कर दिया था।

२१. प्र

प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणोभ्यश्च मैथिली।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ।।

युद्धकाण्ड ११६।२४

देवताओं तथा ब्राह्मणों को प्रणाम करके मिथिलेश कुमारी ने दोनों हाथ जोड़कर अग्नि देव के समीप इस प्रकार कहा।

२२. च-

चालनात् पर्वतस्यैव गण देवस्य कम्पिता: ।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम् ।।

उत्तरकाण्ड १६।२६

पर्वत के हिलने से भगवान् शङ्कर के सारे गण काँप उठे । पार्वती भी विचलित हो गयीं तथा भगवान् शङ्कर से लिपट गयीं ।

२३. द

दारा: पुत्रा: पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम् ।
सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर ।।

उत्तरकाण्ड ३४।४१

रावण ने बालि से कहा- हे वानर राज ! स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, भोग, वस्त्र तथा भोजन ये सब हम दोनों के मध्य अविभक्त रहेंगे ।

२४ यात्

यामेव रात्रिं शत्रुघ्न: पर्णशालां समाविशत् ।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्धयम् ।।

उत्तरकाण्ड ६६।१

जिस रात्रि को शत्रुघ्न ने वाल्मीकि आश्रम की पर्णशाला में प्रवेश किया, उसी रात्रि में सीता जी ने दो पुत्रों को जन्म दिया ।

....

तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु

गायत्री उपासना की सफलता तथा जीवन की श्रेष्ठता एवं पवित्रता के लिये आवश्यक है, मन की निर्मलता क्योंकि मन ही समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है, वही अच्छे अथवा बुरे जीवन का निर्माण करता है। अतः हमें सदैव यह प्रयास करना चाहिये कि हमारे मन में कभी कोई बुरा विचार तथा निकृष्ट संकल्प न आये, हमारे सभी संकल्प तथा कर्म कल्याणकारी हों, इसके लिये यजुर्वेद के निम्नाङ्कित मन्त्रों में की गयी प्रार्थना अद्वितीय एवं सर्व श्रेष्ठ है।

इनमें शिव संकल्प के विषय में की गयी प्रार्थना अनूठी है, संसार की किसी भी भाषा में ऐसी अद्भुत प्रार्थना नहीं है। प्रत्येक विद्यार्थी एवं प्रबुद्ध व्यक्ति को इन मन्त्रों को ध्यान पूर्वक पढ़कर अपने मन को शिव संकल्प वाला बनाना चाहिये।

यज्जाग्रंतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः
शिवसंकल्पमस्तु॥ यजु. ३४।१

(यत् जाग्रतः दूरं उत् एति) जो जाग्रत अवस्था में दूर दूर जाता है, (तत् उ सुप्तस्य तथा एव दैवं एति) और जो सुप्तावस्था में उसी प्रकार आत्मा की ओर चला जाता है, (दूरङ्गमं ज्योतिषां एकं ज्योतिः) दूर-दूर जाने वाला, तथा सभी ज्ञानेन्द्रियों को प्रकाशित करने वाली एक मात्र ज्योति के रूप में स्थित (तत् मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु) वह मेरा मन शिव संकल्प वाला हो, सत् एवं कल्याणकारी सङ्कल्प वाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति
विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे
मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ यजु.३४।२

(येन अपसः मनीषिणः धीराः यज्ञे विदथेषु कर्माणि कृण्वन्ति)

जिसकी सहायता से धर्मनिष्ठ, सत्यवादी आप्त विद्वान् एवं मनीषी तथा धीर पुरुष यज्ञों में, विज्ञान सम्बन्धी कार्यों में तथा युद्धों अथवा जीवन के संघर्षों में विभिन्न कर्म करते हैं (यत् प्रजानां अन्त: अपूर्व) जो प्राणियों के अन्त:करण में अपूर्व अथवा सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव वाला है (तत् मे मन: शिव सङ्कल्पमस्तु) वह यक्ष स्वरूप अथवा पूजनीय मेरा मन शिव सङ्कल्प वाला हो।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिंश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।। यजु.३४।३

(यत् प्रज्ञानम् उत चेत: धृति: च) जो ज्ञान, चेतना, स्मृति तथा धैर्य आदि मानवीय सद्गुणों एवं भावनाओं का आधार है, (यत् प्रज्ञासु अन्त:ज्योति:) जो प्राणियों के अन्त:करण में ज्योति स्वरूप है, (यस्मात् ऋते किं चन कर्म न क्रियते) तथा जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, (तत् में अमृतं मन: शिव सङ्कल्पमस्तु) वह मेरा अमृत मन शिव संङ्कल्प वाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।। यजु.३४।४

(येन अमृतेन भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वं इदं परिगृहीतम्) जिस अमृत स्वरुप मन से भूत, भविष्य तथा वर्तमान में स्थित सब कुछ भली प्रकार ग्रहण किया जाता है, जाना जाता है, (येन सप्तहोता यज्ञ: तायते) शरीर में निरन्तर चलने वाला सप्तहोता यज्ञ जिसके द्वारा सम्पन्न होता है (तन्मे मन: शिवसङ्कल्पमस्तु) वह मेरा मन शिव सङ्कल्प वाला हो।

सप्तहोता—प्राण, अपान, व्यान, चक्षु, श्रोत्र वाणी तथा मन ये सात होता हैं, शरीर रुपी यज्ञ के। (यजु.२२।२३)

यस्मिन्नृचः साम यजूंꣳषि यस्मिन् प्रतिंष्ठिता रथनाभाविंवाराः। यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनंः शिवसंङ्कल्पमस्तु।। यजु.३४।५

(यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि) जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा (यस्मिन्) जिसमें अथर्ववेद (रथनाभौ अराः इव प्रतिष्ठिताः) इस प्रकार प्रतिष्ठित रहते हैं जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में पहिये के आरे प्रतिष्ठित रहते हैं, (यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तं ओतम्) तथा जिसमें प्रजाओं का सम्पूर्ण चित्त ओत प्रोत रहता है (तत् मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु) वह मेरा मन शिव सङ्कल्प वाला हो।

सुषारथिरश्वांनिव यन्मंनुष्यान्नेनीयते ऽभीशुंभिर्वाजिनं इव। हृत्प्रतिंष्ठं यदंजिरं जविंष्ठं तन्मे मनंः शिवसंङ्कल्पमस्तु।। यजु.३४।६

(यत् सुषारथिः अश्वान् इव मनुष्यान् नेनीयते) जो मनुष्यों को इस प्रकार इधर उधर ले जाता है, जिस प्रकार कुशल सारथि अश्वों को ले जाता है (अभीशुभिः वाजिन इव) तथा जो इन्द्रियों एवं शरीर को इस प्रकार नियन्त्रण में रखता है जैसे कुशल सारथि रस्सियों से बलशाली एवं वेगवान् अश्वों को नियन्त्रण में रखता है, (यत् हृत्प्रतिष्ठं अजिरं जविष्ठं) जो हृदय में स्थित रहने वाला, कभी वृद्ध न होने वाला तथा अत्यन्त वेगवान् है (तत् मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु) वह मेरा मन शिव सङ्कल्प वाला हो।

मन्त्र सूची

क्र. सं.	मं. सं.	पृष्ठ संख्या
१	अकामो धीरो	७,१५२
२	अग्न आयाहि	५
३	अग्निमीले	४
४	अग्निर्देवता	१६८
५	अग्ने नय	१५,३०६
६	अहमस्मि	१६१
७	अभित्यं देवं	३०३
८	अर्चत प्रार्चत	३०५
९	आचार्च उपनय	४०३
१०	आनो भद्राः	१७
११	इन्द्र श्रेष्ठानि	९
१२	इन्द्रो विश्वस्य	१४६
१३	उपह्वरे गिरीणां	३१२
१४	ऋचो अक्षरे	१९७
१५	एतावानस्य	१४६
१६	ओषधयो भूत	३३५
१७	गायत्र्युष्णिग्	३४
१८	गायत्रेण प्रति	३७
१९	चत्वारि श्रृंगा त्रयो	१२३
२०	चत्वारि वाक्	३७५
२१	चन्द्रमा मनसो	१४७
२२	चित्रं देवानां	१४२
२३	जातवेदसे	४१
२४	तचक्षुर्देवहितं	१६
२५	तत्सवितुर्वृणीमहे	४०८
२६	तथा तदस्तु	२२,३१०
२७	तद्धा अथर्वण:	३०१
२८	तस्माद्वै विद्वान्	१६९
२९	तद्विप्रासो	२८६
३०	तद्विष्णो: परमं	२९७
३१	तमीशानं	१८
३२	त्वं जामिर्जनानां	३०७
३३	त्वमिन्द्राभिभूरसि	१४५
३४	त्वामग्ने पुष्करादं	२७१
३५	त्वं हि न: पिता	२२
३६	तेजोसि तेजो मयि	१०
३७	दिवो विष्ण	९
३८	द्रप्सश्चस्कन्द	३११
३९	देवानां भद्रा	१८
४०	देवो देवाय	३०८
४१	दोषो गाय	३०२
४२	धाता दधातु	८
४३	न तस्य प्रतिमा	२०७
४४	न त्व दन्न्य:	२६९
४५	नमस्ते रुद्र	८
४६	नमस्ते अस्तु	७
४७	नम: शम्भवाय	३
४८	नम: सायं	७,३०३
४९	नमस्ते अस्त्वायते	३३४
५०	पावका न: सरस्वती	८

५१	पुरुष एवेदं	३७३
५२	पुण्डरीकं नवद्वारं	२७३
५३	पुरुष एवेदं	१९०
५४	प्रजापते न त्व	१४
५५	प्रभ्राजमानां	२७३
५६	प्रसो अग्ने	२८७
५७	प्राणाय नमो	३१५
५८	ब्रह्मचर्येण तपसा	३३४
५९	ब्रह्मचर्येण तपसा	३३५
६०	ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्रा	३३९
६१	भद्रं कर्णेभिः	१९
६२	भूर्भुवः स्वः	२,९९
६३	मनो जूतिर्जुषता	१९८
६४	मामा हिंसीद्	१३
६५	मूर्धानामस्य	३००
६६	यो भूतं च	१
६७	यस्य भूमिः	१
६८	यस्य सूर्यश्चक्षुः	१
६९	यस्य वातः	२
७०	य आत्मदा	११,२८७
७१	यः प्राणतो	१२
७२	यस्येमे हिमवन्तो	१२
७३	येन द्यौरुग्रा	१३
७४	यन्मे छिद्रं	२०
७५	यथेमां वाचं	५१
७६	यो विद्यात्सूत्रं	१४७
७७	यत्रादित्याश्च	१४८
७८	यस्य त्रयस्त्रिंशद्	१४८
७९	यदा त्वष्टा	१६९
८०	युञ्जानः प्रथमं	२७५
८१	युक्तेन मनसा	२७६
८२	युक्त्वाय सविता	२७७
८३	युञ्जते मन	२७७
८४	युजेवां ब्रह्म पूर्व्यं	२७९
८५	यथा वातश्च्यावय	२८९
८६	युञ्जन्ति ब्रध्नम्	२८९
८७	यस्तु सर्वाणि	२९६
८८	यस्मिन्त्सर्वाणि	२९६
८९	यदग्ने स्यामहं त्वं	३०९
९०	यद् गायत्रे	३७
९१	वायुरनिलममृत	१९३
९२	विश्वतश्चक्षुरुत	६,१४९
९३	विश्वानि देव	१०,२९१
९४	विश्वारूपाणि	१४४
९५	वेदाहमेतं	६,१५२,२६९
९६	वैश्वानरस्य	१७१
९७	व्रतेन दीक्षा	३८६
९८	शं नो वातः	२१
९९	शं नो मित्रः	२०
१००	शं नः सूर्य	२१
१०१	शान्तानि पूर्व	४१८
१०२	शिवा नःशंतमा	८
१०३	सनो बन्धुर्जनिता	१५
१०४	स नः पितेव	१७

१०५	सप्त च्छन्दांसि	३४
१०६	सविता पश्चात्तात्	१४२
१०७	सहस्रशीर्षा	५,१४८
१०८	सहस्रधार एव	२६८
१०९	स्तुता मया	६७
११०	स्वस्ति न इन्द्रो	१९
१११	हिरण्यगर्भः	११
११२	त्र्यम्बकं यजामहे	३
११३	त्रिपादूर्ध्व उदैत्	३७३
११४	द्यौः शान्ति	२१

११५से१२० तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु

४२७,४२८,४२९

क्र. सं.	श्लोक सं.	पृष्ठ संख्या
१	अकारं चाप्युकारं	११७
२	अथाप्लुतो	२५
३	असंशयं महाबाहो	२८४
४	अष्टौ स्थानानि	३७६
५	अष्टाक्षरा स्थिता	४५
६	अपवित्रः पवित्रो	५६
७	अशुचिर्वा	५६
८	असौ देवस्त्रि	१२९
९	अभिध्येयं सदा	१४१
१०	अभ्यासयोगयुक्तेन	१९४
११	आद्यास्तु	७९
१२	अरा इव रथनाभौ	१९७
१३	अपने नियताहाराः	३३२
१४	अपाने जुह्वति	३२९
१५	अश्रद्धया हुतं	२१६
१६	अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः	२१९
१७	अपां समीपे	२२४
१८	अभिचारे नीलवर्णं	२२८
१९	आरभ्यानामिका	२३५
२०	अनामा मध्यमा	२३५
२१	अङ्गुलीर्न वि	२३७
२२	अङ्गुल्यग्रे च	२३७
२३	अङ्गुल्यैवं जपं	२३७
२४	अष्टोत्तर शतं	२३९
२५	अङ्गुष्ठ मध्यमा	२४०
२६	अष्टोत्तरसहस्रं वा	२४१
२७	अष्टोत्तरशतं नित्य	२४१
२८	अथ चारु	२४५
२९	अव्यक्तं सर्वदेहेषु	२९४
३०	अथ पुष्टिं श्रियं	२५३
३१	अन्नाद् भवन्ति	३९४
३२	अर्धमन्नस्य स	२५६
३३	अयाचितोञ्छ	२५८
३४	असत्य भाषणं	२५९
३५	अभ्यङ्ग मंजनं	३५५
३६	अपवित्र करो	२६५
३७	अशब्दमस्पर्शम्	२७०
३८	अग्निमूलं बलं	३३८
३९	अनन्याश्चिन्तयन्तो	२८८
४०	अति रहस्य मप्येषा	४१४
४१	आचाराद्विच्युतो	२१६
४२	आचारः परमो	२१५
४३	आर्षम् छन्दश्च	३९
४४	आचार्यस्त्वस्य	२६,४१०
४५	आयुः सत्व	२५६,३५३
४६	आलस्यं जम्भृणं	२६४
४७	आचार्यो गर्भी	४०६
४८	आनन्दा वरणोन्	४१७
४९	आत्मनः शोध	२४६
५०	इत्येतत् कथितं	७५
५१	इत्युक्त्वा परं	२१३
५२	इद माह्निकम्	२२१

५३	इष्टान् भोगान्	३९३	८०	एषा ब्राह्मी	३३७
५४	इन्द्रियाणां हि	२९८	८१	ऐश्वर्य: पुरुषार्थश्च	४१५
५५	इन्द्रियाणां प्रसंगेन	३५६	८२	ओङ्कार:पुरुषश्चैव	४८
५६	इन्द्रियाणां वि	३५६	८३	ओङ्कारस्तु परं	६८
५७	ईश्वर: सर्व भूतानां	२९७	८४	ओङ्कार पूर्विका	६९,३६२
५८	उपांशु: स्याच्छत्	२३२	८५	ओङ्कारं पूर्व मुचार्य	९१
५९	उत्तमं मानसं	२३३	८६	ओङ्कार: पूर्व मुचार्य	२३०
६०	उदीरयन् सर्व	३२०	८७	ॐ तत्सदिति	१३२
६१	ऊर्ध्वं प्राण	३२३	८८	ओमित्ये काक्षरं	१९३
६२	ऋग्भिरेतं यजुर्भि	२०४	८९	ओज: सर्व शरी	३४३
६३	ऋषयो दीर्घ	२२३	९०	कर्म यज्ञ सहस्रेभ्य	१७७
६४	ऋषिश्छन्दो धि	२३३	९१	कविं पुराणं अनु	१९४
६५	एकाक्षरं परब्रह्म	२४,१९२	९२	कर्म ब्रह्मोद्भवं	३९५
६६	एक: शयीत	३५६	९३	कर्मेन्द्रियाणि	१३१
६७	एकधा दशधा	२४२	९४	कतमं योग मासीनो	४१३
६८	एकदा तु महादेव	४१३	९५	कट्वम्ललवणा	३५४
६९	एको देव: सर्व	१५०	९६	क्वचते क्षत्रिय	२१३
७०	एत दक्षर मेतां च	९१,१९२	९७	कालाग्नि रूप	१०९,१५७
७१	एता मुद्रा न	५०	९८	काम कामो लभेत्	७३
७२	एतचर्या विसंयुक्त:	८४	९९	कुर्यादन्यन्न वा	८९
७३	एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म	१८९	१००	किं वेदै: पठितै:	८३
७४	एतदा लम्बनं	१८९	१०१	क्रोधाद्भवति सम्	१७९
७५	एतन्मैथुनाष्टाङ्गं	३४८	१०२	कौशेयं कम्बलं चैव	२२८
७६	एते सप्त स्वयं	३४३	१०३	कृष्णाजिने ज्ञान	२२७
७७	एवं प्रवर्तितं	३९५	१०४	गणना विधि	२६६
७८	एवं नित्यं जपं	९२	१०५	गच्छतस्तिष्ठतो वा	५५
७९	एव मुक्त विधानेन	२६५	१०६	गच्छ शीघ्र मितो	४२२

१०७	गवां मध्ये तु	५८
१०८	गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्वि	२५०
१०९	गुडूच्याः पर्व	२५३
११०	गोघ्नः पितृघ्नो	२४८
१११	गृहे जपः समः	२२५
११२	गृहस्थो ब्रह्मचारी	२४४
११३	गायत्री वेदमाता	२४,४१४
११४	गायच्छिष्यान्	२९
११५	गायत्री नाम पूर्वो	२९
११६	गायत्री प्रभवा	४५
११७	गायत्री चैव वेदा	४७
११८	गायत्री प्रकृति	४८
११९	गायत्री सा भवत्	४८
१२०	गायत्री ब्रह्म रूपा	५९
१२१	गायत्री नाम पूर्वा	६०
१२२	गायत्र्यास्तु परं	६९
१२३	गायत्री वेद जननी	७०
१२४	गायत्री वेद जननी	७०
१२५	गायत्र्या न परं	७०
१२६	गायत्र्येव परो	७१
१२७	गायत्र्यास्तु परं	७१
१२८	गायत्र्यास्तु परं	७१
१२९	गायत्री चैव	७१
१३०	गायत्री जपते	७३
१३१	गायत्री वेदजननी	७९
१३२	गायत्रीं पावनीं	८०
१३३	गायत्रीं यः परि	८०
१३४	गायत्र्युपासना	८१
१३५	गायत्री रहितो	८३
१३६	गायत्रीं यो न	८३
१३७	गायत्रीं तु परि	८४
१३८	गायत्रीं तु परि	८४
१३९	गायत्रीं जपते	८६
१४०	गायत्रीं जपते	८७
१४१	गायत्र्युच्चार मात्रेण	८७
१४२	गायत्री जपकृद्	८९
१४३	गायत्र्युपासना	९६
१४४	गायत्री जप्य	९६
१४५	गायत्री मेव यो	९७
१४६	गायत्रीं संस्मरेद्	९८
१४७	गायत्रीं यो जपेन्	९८
१४८	गायत्रीं विस्तराद्	२२१
१४९	गायत्र्या अक्ष	२३८
१५०	गायत्री छन्दो	२६०
१५१	गायन्तं त्रायते	७७
१५२	गायत्र्याः परमं	३६८
१५३	गायत्री तपो योगः	४१८
१५४	गायत्री साधना	४१८
१५५	घोषा गोधा	५४
१५६	चरमूल फल	२५७
१५७	चतुर्णामपि	५०
१५८	चतुर्वेदाश्च	४७
१५९	चिन्तयामो वयं	११०
१६०	चेतनाया हि	४१६

१६१	चालनात् पर्वत	४२६	१८८	तपसः सु समिद्ध	७६
१६२	छन्द ऋष्यादि	२३३	१८९	तत्छब्देन तु	१०८
१६३	जपेन देवता नित्यं	७३	१९०	तदिति वाङ्	११५,१३५
१६४	जपन् हि पावनीं	८८	१९१	तदित्य नभिसंधाय	१३२
१६५	जपनिष्ठो द्विजः	९१	१९२	तद् बुद्धयस्तदा	१३२
१६६	जपतां जुह्वतां	९५	१९३	तमीश्वराणां परमं	१५१
१६७	जकारो जन्म	२०८	१९४	तस्मादोमित्युदाहृत्य	१९२
१६८	जपस्तु सर्व	२१८	१९५	तस्मादियं सदो	२२३
१६९	जप्ये नैव तु	२१९	१९६	तर्जनी मध्यमा	२३६
१७०	जपेन पापं	२२०	१९७	ततो जपदशांशेन	२६७
१७१	जपेन येनेह	२२१	१९८	तपो विद्या च	२७०
१७२	जपस्य पुरतः कृत्वा	२२९	१९९	तमेव शरणं	२९८
१७३	जपान्ते संस्मरेद्	२३०	२००	तत्रैकाग्रं मनः	३१३
१७४	जपस्यान्तरे	२३४	२०१	तमसो लक्षणं	३१८
१७५	जप्त्वाक्षमालां	२३९	२०२	तुरीया पादमेतस्या	३६६
१७६	जपो होमस्तर्पणं	२६२	२०३	तत्र यद् ब्रह्म	४१०
१७७	जप्ये तु त्रिपदा	३६३	२०४	तावता कृत	८१
१७८	जानुदघ्ने जले	२४०	२०५	तां देवी मुप	९६
१७९	जाती शतेषु	३४१	२०६	तिस्त्रो मात्रा	२०३
१८०	जिह्वा दग्धा	२६०	२०७	तिष्ठंश्चेद्धी	२२८
१८१	जीव हीनो यथा	२६२	२०८	तपः स्वाध्यायनिरतं	४१९
१८२	जुहुयात्त दशांशेन	२६७	२०९	तुष्टावास्य तदा	४२०
१८३	तत्र यद् ब्रह्म	२५	२१०	दशकृत्यः प्रजप्ता	८६
१८४	ततो सृजद्	४५	२११	दशसहस्त्रजप्येन	९७
१८५	त्वमेव सन्ध्या	६०	२१२	दश लक्षं राजताक्षैः	२३८
१८६	ततः संजपतस्तस्य	६१	२१३	दश भुजास्तु	४१७
१८७	तन्नाम मन्त्र सु	७४	२१४	दह्यन्ते ध्याय	३१६

२१५	दिवा स्वपिति यः	२४५	२४२	ध्यान त्राटक तन्	४१६
२१६	दीप्तस्य सर्व	१५४	२४३	धन्या देवाः स	४२३
२१७	दीप्यते क्रीडते	१७३	२४४	धर्मात्मा राक्षस	४२४
२१८	दुष्प्रतिग्रह दुर्भक्ष्य	७८	२४५	न गायत्र्याः परो	८०
२१९	दुर्लभा सर्व	७०	२४६	न विष्णू पासना	८१
२२०	दूषितोऽ चरेद्धर्मं	५७	२४७	न तिष्ठति तु यः	८२
२२१	दृष्ट्वा निषूदितं	२१२	२४८	न धनान्युप कुर्वन्ति	९२
२२२	दृष्टिस्तु दोष	४१७	२४९	न च राजभयं तेषां	९४
२२३	देवस्य सवितुर्यश्च	१०९	२५०	न तत्र सूर्यो भाति	१३६
२२४	देवस्य वृष्टि	१७४	२५१	न देवा दण्ड मादाय	१८०
२२५	देवस्य सवितुर्भर्गो	१००,१३३	२५२	न गायत्र्याः परं जप्यं	२४८
२२६	देवस्य द्योतमानस्य	११६	२५३	न मांस भक्षणे दोषो	२५०
२२७	देवता गुरु	२६६	२५४	न तपस्तप इत्याहुः	३४६
२२८	दीव्यते क्रीडते	१०९	२५५	न जातु कामः	३५५
२२९	द्वे जन्मनी	२६,४१०	२५६	नाग्निर्दहति का	९४
२३०	देवान्भावयता नेन	३९३	२५७	नायमात्मा बल	१६५
२३१	दैवमस्यास्तु स	७९	२५८	नायमात्मा प्रवच	१६६
३३२	देशकालो भजस्	४२२	२५९	नात्यश्नतस्तु योगो	२५५
२३३	दाराः पुत्राः पुरं	४२६	२६०	नास्ति बुद्धिर	२९८
२३४	धन कामस्तथा	२५४	२६१	नाहं वसामि	३०३
२३५	धातुष्वग्नौ च	३२०	२६२	निष्कामो देवताया	२६१
२३६	धिग् बलं क्षत्रिय	२१४	२६३	निर्जैर्दश भुजैर्नूनं	४१८
२३७	धिया पदाक्षर	२३२	२६४	नैत्यके नास्तनध्याये	२२२
२३८	धियोऽन्तः करण	११६	२६५	नोचैर्जपं बुधः	२३३
२३९	धृतिः क्षमा दमो	३१८	२६६	न ते ददृशिरे	४२५
२४०	ध्यानकाले पाप	२५२	२६७	निरीक्ष्य स मूहूर्तं	४२१
२४१	ध्यायेच्च मनसा	२६५	२६८	परब्रह्म स्वरुपा च	५५,६९

२६९	परान्नं च परद्रव्यं	२६०	२९६	प्रथिव्यापस्तथा तेजो	१३१
२७०	पर्वताग्रे नदीतीरे	२२४	२९७	प्रयाण काले मनसा	१९४
२७१	पञ्चाङ्गानि महा	२६१	२९८	प्रधानं पुरुषः कालो	१३०
२७२	पञ्चभिस्तु महा	४१५	२९९	प्रजपन् पावनीं देवीं	९२
२७३	पञ्चविंशे ततो	३५३	३००	प्रशान्तात्मा विगत	२८०
२७४	पद्मानां लक्ष	२५४	३०१	प्रशान्तमनसं ह्येनं	२८४
२७५	पर्वभिस्तु जपेद्देवीं	२३४	३०२	प्रतिग्रहान्नदोषाच्च	२७
२७६	पर्वद्धय मना	२३५	३०३	प्रभावेणैव गायत्र्याः	७२
२७७	पट्टसूत्र कृता	२३९	३०४	प्रणवो धनुः शरो	१९६
२७८	पुरा कल्पे समुत्	१३०	३०५	प्रत्यहं प्रत्यहं तावन्	२६६
२७९	पुरुषः स परः पार्थ	२१६,२८८	३०६	प्राणायामत्रयं धीमा	२२९
२८०	पुत्र दारा युरारोग्य	२४५	३०७	प्रातः प्रदोषे रात्रौ	८५
२८१	पुत्रकामस्तथा	२५४	३०८	प्रणम्य दैवतेभ्यश्च	४२५
२८२	पुरा कल्पे कुमारी	५३	३०९	प्रेक्षितं भक्षयेन्	२५०
२८३	पूर्वां सन्ध्यां जपं	८५	३१०	बहुप्रलापी आचम्य	२६४
२८४	पूर्वां सन्ध्यां जपंस्	२२६	३११	बद्धपद्मासनो योगी	३२९
२८५	पूर्वां सन्ध्यां स	२२६	३१२	बन्धेन मुद्रयाचैव	४१६
२८६	पूर्णिमा पञ्चमी	२६३	३१३	ब्रह्म केशव रुद्रादि	२२३
२८७	प्राणा गया इति	७८	३१४	ब्रह्मचारी मिताहारः	२४४
२८८	प्रणवव्याहृतिभ्या	८९	३१५	ब्रह्मचर्याहिताग्निश्च	२४४
२८९	प्रणवेन त्रिमात्रेण	९२	३१६	ब्रह्महत्यादि पापानि	२४८
२९०	प्राणायामा ब्राह्मण	३१६	३१७	ब्रह्मार्पणं ब्रह्म	३३६
२९१	प्राणायामैर्दहेद्	३१६	३१८	ब्रह्मण्याधाय कर्मा	३३६
२९२	प्राणो मूर्धनि च	३१९	३१९	ब्रह्मचर्य परं शौच	३३८
२९३	प्राणान् प्रपीड्येह	३१७	३२०	ब्रह्मचर्य व्रतफलं	३४०
२९४	प्राणा गया इति	३६१	३२१	भरतस्यार्य पुत्रस्य	४२२
२९५	प्राणायामत्रयेणैव	२२९	३२२	भयादस्याग्निस्	१४५

३२३ भक्ति भाजो भवेद् २३१
३२४ भादीप्ताविति रूपं १५६
३२५ भिद्यते हृदयग्रन्थि २९०
३२६ भूर्भुव: स्वस्तथा १३०
३२७ भूशय्या ब्रह्मचारि २५९
३२८ भूशय्या ब्रह्मचर्य २५९
३२९ भूरित्यादित्रिभिर् ३५७
३३० भूलोकस्यास्य ४१७
३३१ भूर्भुव: स्वस्तरुस् १२८
३३२ भेति भासयते १५८
३३३ भैक्ष्यं हविष्यं २५७
३३४ भेति भ्राजयते १०९
३३५ भ्रस्ज पाके १०८,१५७
३३६ मनोमध्ये स्थितं २०९
३३७ महर्षीणां भृगुरहं २१८
३३८ मंगलाचारयुक्त: २२३
३३९ मन:प्रहर्षणं शौचं २३१
३४० मध्यमाङ्गुलिमूले २३६
३४१ मद्यं मांसं च मीनं २५१
३४२ मृदु सोष्णं सुपक्वं २५६
३४३ मलिनाम्बर केशा २६४
३४४ महद्रहस्यं तद्गुप्तं ४१३
३४५ मुक्ता विद्रुम ५९
३४६ मातुरग्रे धि जननं २५,४११
३४७ मङ्गलाभिमुखी ४२३
३४८ यथा च मधु २९,७६
३४९ यस्माच्छादिता ३३
३५० यस्तु जानाति ३९
३५१ यथा कथञ्चित् ७२
३५२ यं यं पश्यति ९०
३५३ य एतां वेद गायत्रीं ९३
३५४ यदा तमस्तन्त्र १५१
३५५ यस्मै देवा: १८०
३५६ यं यं वापि स्मरन् १९३
३५७ यदुच्चनीचोच्चरितै: २३१
३५८ यथार्थ पशव: २४९
३५९ यदा तदा परित्याज्यं २५६
३६० यत्संख्यया समारम्भं २६५
३६१ यदा विनियतं २८१
३६२ यथा दीपो २८१
३६३ यत्रोपरमते चित्तं २८२
३६४ यं लब्ध्वा चापरं २८२
३६५ यतो यतो निश्चरति २८३
३६६ यस्य सर्वे समारम्भा: २८५
३६७ यदात्मऽ तत्वेन २९०
३६८ यतेन्द्रियमनोबुद्धि ३३३
३६९ यस्य पृवृद्धौ देहस्य ३४४
३७० यथा पयसि सर्पिस्तु ३४५
३७१ यत: पृवृत्तिर्भूतानां ३९२
३७२ यज्ञशिष्टाशिन: ३९४
३७३ यथा स्पर्शमणि ४११
३७४ यथावत् पूर्णतो ४१६
३७५ यक्ष राक्षसभूतानि ४९
३७६ यान पात्रे च याने ५८

३७७	यावन्तोस्यां	९०
३७८	यातयामं गतरसं	३५४
३७९	या वेद विहिता	२४९
३८०	युञ्जन्नेवं सदात्मानं	२८०
३८१	युक्ताहार विहारस्य	२५५
३८२	युञ्जन्नेवं सदात्मानं	२८४
३८३	ये पाक यज्ञाश्चत्वा	२१८
३८४	ये त्वक्षरमनिर्देश्य	२९४
३८५	योऽधीतेऽहन्य	९५
३८६	योऽधीतेऽहन्य	९८
३८७	यो देव: सविता	१००,१३३
३८८	यो भर्ग: सर्वसाक्षी	११०
३८९	यो मां पश्यति	२९६
३९०	योगी युञ्जीत	३११
३९१	यदि बुद्धि: कृता	४२१
३९२	यस्य विक्रम	४२५
३९३	यो वज्रपाता	४२४
३९४	यामेव रात्रिं	४२६
३९५	रक्त श्वेत हिरण्य	५९
३९६	राक्षसाश्च पिशाचा	९३
३९७	रुद्राक्ष: श्वेत	२३८
३९८	रुद्राक्ष मालिका	२३९
३९९	राजा सत्यं च	४२१
४००	लक्षो जन्म कृतं	८७
४०१	लवणं क्षार मम्लं	२५७
४०२	लभतेऽभिमतां	२६२
४०३	लोकानां तु शरीरा	४१५
४०४	वस्त्रेणा क्षाद्य तु	४९
४०५	वरणीयञ्च यो नित्यं	१०८
४०६	वरेण्यमाश्रय	११६,१५४
४०७	वरेण्यं सर्वतेजो भ्यो	१५४
४०८	वरेण्यं वरणीयत्वात्	१५४
४०९	वर्जयेन्मधुमांसं च	३५५
४१०	वह्नेर्यथा योनि	१९५
४११	वशिष्ठे जपतां	२१४
४१२	व्याप्तं चतुर्थपादेन	३५९
४१३	व्यग्रताऽलस्य	२६४
४१४	व्याप्तं द्वितीयपादेन	३५८
४१५	वातिकस्त्वहमेव	२३२
४१६	विष रोगादि	७५
४१७	विहाय तां तु	८१
४१८	विधि यज्ञाज्जपयज्ञो	२०९
४१९	विधिनाऽष्टोत्तरशतं	२४२
४२०	विण्मूत्रोत्सर्ग	२६४
४२१	विभर्ति पञ्चावरणान्	४१४
४२२	विज्ञानमयान्नमय	४१५
४२३	विश्व रूप हरिणं	३६८
४२४	वेदास्त्यागश्च	२१६
४२५	वेदोपकरणे चैव	२२२
४२६	वैशाखे श्रावणे	२६३
४२७	वनवासं हि संख्या	४२०
४२८	वन्दिताव्यास्तत:	४२२
४२९	विश्वामित्र: सरा	४२०
४३०	शत जप्ता तु सा	८६

४३१ शतवारं जपश्चैव ८७
४३२ शत जप्ता तु सा २४३
४३३ शनैरुच्चारयन् २३२
४३४ शनैः शनैः सुवि २६६
४३५ शनैः शनैरुपरमेद् २८३
४३६ शरीरमेकं ३४०
४३७ शाप मुक्ता तु ५४
४३८ शाप युक्ता तु ५५
४३९ शान्तिकं पौष्टिकं ९४
४४० शान्तिकामो यवैः २५२
४४१ शिवस्य सन्निधाने २२५
४४२ शुचौ देशे ३१२
४४३ शुक्रं सौम्यं सितं ३४५
४४४ द्यूतं च जनवादं ३५५
४४५ सन्ध्याकाले व्यती २२७
४४६ सव्याहृतिका स २२९
४४७ सव्याहृतिं सप्रणवां २३०
४४८ सहस्रपरमां देवीं २४२
४४९ सप्तभिः पावयेद्देहं २४२
४५० सर्वेषामेव पापानां २४३
४५१ सर्वेषां भव पापानां २४४
४५२ सन्ध्या वन्दन २४५
४५३ संसार दुःख भूमेश्चं २६१
४५४ सकृदुच्चरिते शब्दे २६३
४५५ संकल्प प्रभवान् २८३
४५६ सर्व भूतस्थमात्मा २९५
४५७ सत्वानुरुपा सर्व २९९
४५८ समेशुचौ ३१२
४५९ समं कायशिरोग्रीवं ३१४
४६० संधौ संधौ च ३२०
४६१ सत्येन लभ्यस्तपसा ३३८
४६२ संकल्पाद् दर्शनाच्चैव ३४८
४६३ स हि वेदमयो ३९२
४६४ सविता देवता ४०
४६५ सर्वेषामेव वेदानां ६९
४६६ सर्वेषां जप्य सूक्ताना ६९
४६७ सर्व वेद सारभूता ७२
४६८ सफला सत्यसंकल्पा ७४
४६९ सर्वपापक्षयकरं ७४
४७० समस्तभुवनेशानी ७४
४७१ सर्व दारिद्र्य ७५
४७२ सविता देवता यस्य ७९
४७३ सन्ध्यायां च प्रभाते ८२
४७४ सकृज्जपश्च गायत्र्याः ८५
४७५ सव्याहृतिं सप्रणवां ९३
४७६ सर्वेनानु गतं चैनं ९३
४७७ सहस्रकृत्वस्त्व ९५,२४३
४७८ सप्रभं सत्यमानन्दं ९७
४७९ सविता सर्व भूता १०८,१३८
४८० सर्वाननशिरोग्रीवः १५०
४८१ सर्ववेदा यत्पदमा १८८
४८२ सर्वेषामपि पुण्यानां २१८
४८३ स्त्री शूद्र भाषणं २६०
४८४ स्पर्शान्कृत्वा ३३२

४८५	स्वाध्यायेन	३३७	५०६	हस्त त्राण प्रदा	८६
४८६	स्मरणं कीर्तनं	३४७	५०७	हयाश्च सप्त छन्दां	३३
४८७	स्वमाया शक्ति	१३७	५०८	हिरण्मये परे कोशे	२७४
४८८	स्वदेहमरणिं कृत्वा	१९६	५०९	हितं माहार्थं मृदु	४२३
४८९	सायं प्रातस्तु	२२७	५१०	हुता देवी विशेषेण	२५२
४९०	सायं प्रातश्च मध्या	२४१	५११	होमकाले यथा वह्निः	३४०
४९१	सायं प्रातश्च	८८,३६६	५१२	क्षीरवृक्षसमिद्धोमा	२५३
४९२	सावित्रीं च जपेन्	८५	५१३	क्षीराहारोजपेन्मृत्योः	२४०
४९३	सावित्री जाप्य	८८	५१४	क्षीरोदनं तिला दूर्वाः	२६७
४९४	सायं प्रातश्च	९०	५१५	क्षीराहारी फलाशी	२५७
४९५	सावित्री मात्र	९६	५१६	त्रिभ्य एव तु वेदे	२८,७६
४९६	सावित्र्याश्चैव	९७	५१७	त्रिसन्ध्यं यो जपेन्	८९
४९७	सावित्रीमप्य	२२४	५१८	त्रिविधो जपयज्ञः	२३१
४९८	सिद्ध क्षेत्रेषु	२२५	५१९	त्रिरुन्नतं स्थाप्य	३१४
४९९	सुखमात्यन्तिकं	२८२	५२०	त्रैवर्णिकानां सर्वेषां	८४
५००	सोमादित्यान्वयाः	२४	५२१	श्रवणान्मननाच्चैव	३०३
५०१	सौवर्ण राजतं	२३७	५२२	श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं	२९९
५०२	सौभाग्येर्च्छुगुग्गु	२५४	५२३	श्रुति स्मृति विरोधं	२५८
५०३	सहयज्ञाः प्रजाः	३९३	५२४	श्रुत्वा तु पार्वती वाचं	४१३
५०४	स हत्वा राक्षसान्	४१९	५२५	ज्ञात्वा पदानि श्रुत्वा	३५९
५०५	स निर्जित्य पुरीं	४२३			